गीता-प्रवचन

आचार्य विनोबा

•

अनुवादक
श्री हरिभाऊ उपाध्याय

•

१९५१
सस्ता साहित्य मंडल-प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

तीसरी बार १९५१

मूल्य
अजिल्द सवा रुपया
सजिल्द सवा दो रुपये

मुद्रक
जे० के० शर्मा
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

प्रस्तावना

मेरे गीता-प्रवचनोंका हिंदी अनुवाद हिंदी बोलने वालोंके लिए प्रकाशित हो रहा है, इसमें मुझे खुशी होती है। यह प्रवचन कार्य-कर्ताओंके सामने दिये गए है और इनमें आम जनताके उपयोगकी दृष्टि रही है।

इनमें तात्त्विक विचारोंका आधार छोड़े बगैर, लेकिन किसी वादमें न पड़ते हुए, रोजके कामोंकी बातोंका ही जिक्र किया गया है।

यहां श्लोकोंके अक्षरार्थकी चिंता नही, एक-एक अध्यायके सारका चिंतन है। शास्त्र-दृष्टि कायम रखते हुए भी शास्त्रीय परिभाषाका उपयोग कम-से-कम किया है। मुझे विश्वास है कि हमारे गांववाले मजदूर भाई-बहन भी इसमें अपना श्रम परिहार पाएंगे।

मेरे जीवनमें गीताने जो स्थान पाया है, उसका मैं शब्दोंमें वर्णन नहीं कर सकता हूं। गीताका मुझपर अनंत उपकार है। रोज मैं उसका आधार लेता हूं और रोज मुझे उससे मदद मिलती है। उसका भावार्थ, जैसा मैं समझा हूं, इन प्रवचनोंमें समझानेकी कोशिश की है। मैं तो चाहता हूं कि यह अनुवाद हरएक घरमें, जहां हिंदी बोली जाती है, पहुंचे और घर-घरमें उसका श्रवण मनन, पठन हो।

परंधाम पवनार

१०-८-५७ **विनोबा**

निवेदन

गीता-प्रवचन मत विनोबाके गीता-सबधी व्याख्यानोका सग्रह है। आजसे पद्रह साल पहले, सन् १९३२ मे, धुलिया (खानदेश) जेलमे उन्होने गीताके प्रत्येक अध्यायपर एक-एक प्रवचन दिया था। महाराष्ट्रके प्रसिद्ध देशभक्त व लेखक माने गुरुजीने उन्हे उसी समय लिपिबद्ध कर लिया था। ये प्रवचन मूल मराठीमे किये गए थे और जबसे वे प्रकाशित हुए बहुत ही लोकप्रिय हुए है। मराठी साहित्यमे आज गीतापर यह अनूठी पुस्तक मानी जाती है। मौलिकता सुबोधता और सरसता इसके प्रधान गुण है। विनोबाका व्यक्तित्व ज्ञान, तप और कर्माचरणका त्रिवेणी-सगम है। इसमे जो डुबकी लगायेगे वे अवश्य कृतकृत्य होगे।

हिदी-ससारमे भी विनोबा-साहित्यका चाव बढ रहा है। यह अनुवाद मूल मराठी 'गीता प्रवचने' नामक ग्रथकी स्वय विनोबा-सशोधित प्रतिसे किया गया है। इस सुविधाके लिए 'ग्राम सेवा मडल', नालवाडी, वर्धाके व्यवस्थापकके हम कृतज्ञ है।

हम चाहते थे कि हिदी अनुवादको स्वय विनोबाजी एक बार देख जाते परन्तु कार्य-व्यस्तताके कारण वह ऐसा न कर सके।

१०४७

दूसरा संस्करण

हमे खुशी है कि पहले सस्करणकी यह सशोधित आवृत्ति हम पाठकोको भेट कर रहे है। हमारे अनुरोध पर श्रीविनोबाजीके आदेश-से उनके शिष्य श्रीदत्तोबा दास्ताने व श्रीकुन्दर दिवाणने पहले सस्करणको मूल मराठीसे मिलाकर बडे परिश्रमसे, चार-पाच अर्थ-सबधी सशोधन व अनेक भाषा-सबधी, सुझाव दिये थे, जिनसे लाभ उठाकर यह सशोधित सस्करण तैयार किया गया है। श्री हरिभाऊजी भी इसे एक बार पूरी तरह देख गये है। इस सहायता व परिश्रमके लिए हम उनके बहुत आभारी है। आशा है, हिदी-भाषी जनता पहले सस्करणके समान ही इसे अपनावेगी।

१९४८

तीसरे संस्करणका वक्तव्य

हमें खुशी है कि 'गीता-प्रवचन' का यह तीसरा संस्करण पाठकोंके हाथोंमें पहुंच रहा है। मराठी गीता-प्रवचनकी नवीन आवृत्ति निकली है। उसमें प्रारंभिक अनुक्रमणिकाके साथ अंतमें 'प्रकरणोंकी अनुक्रमणिका' भी दी गई है। ये दोनों इस तृतीय संस्करणमें जोड़ दी गई हैं, जिसमें पाठकोंको पुस्तकमें अभीष्ट विषय जल्दी खोज लेनेमें तथा पुस्तककी शृंखला एक साथ एक ही दृष्टिमें समझ लेनेमें सहायता मिलेगी।

एक शंकाका समाधान करते हुए पूज्य विनोबाकी कलमसे गीता-प्रवचन के संबंधमें कुछ विचार सहज प्रवाह में निकल गये हैं। पाठकोंके लाभार्थ उन्हें भी यहां दे दिया गया है। सर्वोदय-यात्राके माडवी मुकामसे १६. ३. ५१ के एक पत्रमें लिखते हैं :

'गीता-प्रवचन' में सकल-जनोपयोगी परमार्थका सुलभ विवेचन है। 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन''[1] उसके और आगेका ग्रंथ है, जिसमें वही विषय एक विशिष्ट भूमिकापर से कहा गया है। गीताई'का सूक्ष्म अध्ययन करने वालोंके लिए है। तीनोंमें मिलकर गीताके बारेमें मुझे जो कहना है वह संक्षेपमें सारा-पारा कहा है। पुस्तकें लिख तो रखी हैं। ऐसी अपेक्षा है कि पारमार्थिक जिज्ञासुओंके काम आवेंगी। और किसी-किसीको उनसे ऐसा लाभ पहुंचा भी है, परंतु मुख्य उपयोग तो खुद मेरे लिए ही है। संसारका नाटक मैं देख रहा हूं। एक स्थान पर बैठकर भी देखा, अब यात्रा करके भी देख रहा हूं। असंख्य जन-समूह और उनके नेता दोनों एक ही प्रवाहमें खिंचते जा रहे हैं, यह देखकर ईश्वरकी लीला-का ही चिंतन करें, दूसरा कुछ चिंतन न करें, ऐसा लगता है।

---

[1] विनोबाकृत ग्रन्थ

"यह तो सहज प्रवाहमें लिख गया। 'गीता प्रवचन'को सारा पढ़कर पचाना चाहिए। उसकी शैली लौकिक है, शास्त्रीय नहीं। उसमें पुनरुक्ति भी है। गायक अवान्तर चरणको गाकर फिर अपना प्रिय पालुपद दोहराता रहता है, ऐसा उसमें किया गया है। मेरी तो कल्पनामें भी नहीं आया था कि यह कभी छपेगा। साने गुरुजी जैसा सहृदय और लोगहैंडसे ही शार्टहैंड लिख सकनेवाला लेखक यदि न मिला होता तो जिसने कहा और जिन्होंने सुना उन्हींमें इसकी परिसमाप्ति होगई होती, और मेरे लिए उतना भी काफी था। जमनालालजीको इन प्रवचनोंसे लाभ मिला, मैं समझता हूं, यह मेरी अपेक्षासे अधिक काम हो गया। मेरी अपेक्षा तो सिर्फ इतनी ही थी कि मुझे लाभ मिले। अपनी भावनाको दृढ़ करनेके लिए जप-भावनासे मैं बोलता जाता था। उसमेंसे इतना भारी फल निकल आया है। ईश्वरकी इच्छा थी, ऐसा ही कहना चाहिए।"
१९५१

—प्रकाशक

विषय-क्रम

गी ता-प्र व च न

पहला अध्याय

रविवार, २१-२-३२

(१)

प्रिय भाइयो,

आजसे मैं श्रीमद्‌भगवद्‌गीताके विषयमें कहनेवाला हू । गीताका व मेरा सबध तर्कसे परे है । मेरा शरीर माके दूधपर जितना पला है उससे कही अधिक मेरा हृदय व बुद्धि दोनो गीताके दूधसे पोषित हुए है । जहा हार्दिक सबध होता है वहा तर्ककी गुजायश नही रहती । तर्कको काटकर श्रद्धा व प्रयोग इन दो पखोसे ही मैं गीता-गगनमे यथाशक्ति उडान मारता रहता हू । मैं प्राय गीताके ही वातावरणमे रहता हू । गीता यानी मेरा प्राण-तत्त्व । जब मैं गीताके सबधमे किसीसे बात करता हू तब गीता-सागरपर तैरता हू, और जब अकेला रहता हू तब उस अमृत-सागर मे गहरी डुबकी लगाकर बैठ जाता हू । इस गीता-माताका चरित्र मैं हर रविवारको आपको सुनाऊ, यह तय हुआ है ।

गीताकी योजना महाभारतमे की गई है । गीता महाभारतके मध्य-भागमे, एक ऊचे दीपककी तरह स्थित है, जिसका प्रकाश सारे महाभारत पर पड रहा है । एक ओर ६ पर्व, दूसरी ओर १२ पर्व, इनके मध्य-भागमे, उसी तरह एक ओर ७ अक्षौहिणी सेना व दूसरी ओर ११ अक्षौहिणी, इनके भी मध्य-भागमे गीताका उपदेश दिया जा रहा है ।

महाभारत व रामायण हमारे राष्ट्रीय ग्रथ है । उनमे वर्णित व्यक्ति हमारे जीवनमे एक-रूप हो गये है । राम, सीता, धर्म, द्रौपदी, भीष्म, हनूमान इत्यादि रामायण-महाभारतके चरित्रोसे सारा भारतीय जीवन आज हजारो वर्षोंसे अभिमत्रित-सा हुआ है । ससारके इतर महा-काव्योके पात्र इस तरह लोक-जीवनमे घुले-मिले नही दिखाई देते । इस

दृष्टिसे महाभारत व रामायण नि सन्देह अद्‌भुत ग्रथ हे। रामायण यदि एक मधुर नीति-काव्य है तो महाभारत एक व्यापक समाज-शास्त्र है। व्यासदेवने एक लाख सहिता लिखकर असख्य चित्रो, चरित्रो व चारित्र्योका यथावत् चित्रण बडी कुशलतासे किया है। बिलकुल निर्दोष तो सिवा एक परमेश्वरके कोई नही है, लेकिन उसी तरह केवल दोषमय भी इस ससारमे कोई नही है, यह बात महाभारत बहुत स्पष्टतासे बता रही है। इसमे जहा भीष्म-युधिष्ठिर जैसोके दोष दिखाये है, तो दूसरी ओर कर्ण दुर्योधनादिके गुणो पर भी प्रकाश डाला गया है। महाभारत बताता है कि मानव-जीवन सफेद व काले ततुओका एक पट है। अलिप्त रहकर भगवान् व्यास जगत्के—विराट् ससारके छाया-प्रकाशमय चित्र दिखलाते है। व्यासदेवके इस अत्यन्त अलिप्त व उदात्त ग्रथन-कौशलके कारण महाभारत ग्रथ मानो एक सोनेकी बडी भारी खान बन गया है। उसका शोधन करके भरपूर सोना लूट लिया जाय।

व्यासदेवने इतना बडा महाभारत लिखा, परन्तु उन्हे खुद अपना कुछ कहना था या नही ? अपना कोई खास सदेश किसी जगह उन्होने दिया है ? किस स्थान पर व्यासदेवकी समाधि लगी है ? स्थान-स्थान पर तत्त्वज्ञान व उपदेशके जगल-के-जगल महाभारतमे है। परन्तु इस सारे तत्त्वज्ञानका, उपदेशका और समूचे ग्रथका सारभूत रहस्य भी उन्होने कही लिखा है ? हा, हा, लिखा है, समग्र महाभारतका नवनीत व्यासजीने भगवद्‌गीतामे निकालकर रख दिया है। गीता व्यासदेव की प्रधान सिखावन व उनके मननका सार सचय है। इसीके आधारपर 'व्यास, मै मुनियोमे हू' यह विभूति अर्थपूर्ण साबित होने वाली है। गीताको प्राचीन कालसे उपनिषद्‌की पदवी मिली हुई है। गीता उपनिषदोका भी उपनिषद् है। क्योकि समस्त उपनिषदोको दुहकर यह गीतारूपी दूध भगवान्ने अर्जुनके निमित्तसे ससारको दिया है। जीवनके विकास-के लिए आवश्यक प्राय. प्रत्येक विचार गीतामे आ गया है। इसीलिए अनुभवी पुरुषोने यथार्थ ही कहा है कि गीता धर्मज्ञानका एक कोष है। गीता हिंदू-धर्मका एक छोटा ही क्यो न हो, परतु मुख्य ग्रंथ है।

यह तो सभी जानते है कि गीता श्रीकृष्णने कही है। इस महान्

सिखावनको सुननेवाला भक्त अर्जुन इस सिखावनसे इतना समरस हो गया कि उसे भी 'कृष्ण' संज्ञा मिल गई। भगवान् व भक्तका यह हृद्गत प्रकट करते हुए व्यासदेव इतने एकरस हो गये कि लोग उन्हें भी 'कृष्ण नामसे जानने लगे। कहनेवाला कृष्ण, सुननेवाला कृष्ण, रचनेवाला कृष्ण—इस तरह इन तीनोंमें मानो अद्वैत उत्पन्न हो गया; मानो तीनोंकी समाधि लग गई। गीताके अभ्यासकको ऐसी ही एकाग्रता चाहिए।

(२)

कुछ लोगोंका खयाल है कि गीताका आरम्भ दूसरे अध्यायसे समझना चाहिए। दूसरे अध्यायके ११वें श्लोकसे प्रत्यक्ष उपदेशकी शुरूआत होती है तो वहींसे आरम्भ क्यों न समझा जाय? एकने तो मुझे कहा—"भगवान्ने अक्षरोंमें अ-कार को ईश्वरीय विभूति बताया है। इधर 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' के आरम्भमें अनायास अ-कार आगया है। अत वहींसे आरम्भ मान लेना चाहिए।" इस तर्कको हम छोड़ दे तो भी यहांसे आरम्भ मानना अनेक दृष्टियोंसे उचित ही है। फिर भी उसके पहलेके प्रास्ताविक भागका महत्व तो है ही। अर्जुन किस भूमिका पर स्थित है, किस बातका प्रतिपादन करनेके लिए गीताकी प्रवृत्ति हुई है, यह इस प्रास्ताविक कथा-भागके बिना अच्छी तरह समझमें न आता।

कुछ लोग कहते है कि अर्जुनका क्लैब्य दूर करके उसे युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिए गीता कही गई है। उनके मतमें गीता केवल कर्मयोग ही नही बताती, बल्कि युद्ध-योगका भी प्रतिपादन करती है। पर जरा विचार करने पर इस कथनकी भूल हमें दीख जायगी। १८ अक्षौहिणी सेना लडनेके लिए तैयार थी। तो क्या हम यह कहेंगे कि सारी गीता सुनाकर भगवान्ने अर्जुनको उस सेनाके लायक बनाया? घबडाया तो अर्जुन था, न कि वह सेना। तो क्या सेनाकी योग्यता अर्जुनसे अधिक थी? यह बात तो कल्पनामें भी नही आ सकती। अर्जुन जो लडाईसे परावृत्त हो रहा था सो भयके कारण नहीं। सैंकडों लडाइयोंमें अपना जौहर दिखानेवाला वह महावीर था। उत्तर-गो-ग्रहणके समय उसने अकेले ही भीष्म, द्रोण व कर्णके दांत खट्टे कर दिये थे। सदा विजयी

व सब नरोमे एक ही सच्चा नर है, ऐसी उसकी ख्याति थी। वीर-वृत्ति उसके रोम-रोमसे टपकी पडती थी। अर्जुनको छेडनेके लिए, उत्तेजित करनेके लिए क्लैब्यका आरोप तो कृष्णने भी करके देख लिया। परन्तु उनका वह तीर बेकार गया व फिर उन्हे दूसरे ही मुद्दोको लेकर ज्ञान-विज्ञान-सबधी व्याख्यान देने पडे। तब यह निश्चित है कि महज क्लैब्य-निरसन जैसा सरल तात्पर्य गीताका नही है।

दूसरे कुछ लोग कहते है कि अर्जुनकी अहिसा-वृत्तिको दूर करके उसे युद्ध-प्रवृत्त करनेके लिए गीता कही गई है। मेरी दृष्टिसे यह भी कथन ठीक नही है। इसकी छानबीन करनेके लिए पहले हमे अर्जुनकी भूमिका देखनी चाहिए। इसके लिए पहला अध्याय और दूसरे अध्यायमे जा पहुचनेवाली उसकी खाडीसे हमे बहुत सहायता मिलेगी।

अर्जुन जो समर-भूमिमे खडा हुआ सो कृत-निश्चय होकर व कर्त्तव्य-भावसे। क्षात्रवृत्ति उसके स्वभावमे थी। युद्धको टालनेका भरसक प्रयत्न किया जा चुका था, फिर भी वह टल नही पाया था। कम-से-कम मागका प्रस्ताव और श्रीकृष्ण-जैसोकी मध्यस्थता दोनो बेकार जा चुके थे। ऐसी स्थिति मे अनेक देशोके राजाओको एकत्र करके और श्रीकृष्णसे अपना सारथ्य स्वीकृत कराके वह रणागणमे खडा है और वीरोचित उत्साहसे श्रीकृष्णसे कहता है—"दोनो सेनाओके बीचमे मेरा रथ खडा कीजए, जिससे मै एक बार उन लोगोके चेहरे तो देख लू कि जो मुझसे लडनेके लिए तैयार होकर आये है।" कृष्णने ऐसा ही किया व अर्जुन चारो ओर एक निगाह डालता है। तो उसे क्या दिखाई देता है? दोनो ओर अपने ही नाते-रिश्तेदारो, सगे-सबधियोका जबरदस्त जमघट। वह देखता है कि—दादा, बाप, लडके, पोते, आप्त-स्वजन-सबधियोकी चार पीढिया मरने-मारनेके अतिम निश्चयसे वहा एकत्र हुई है। यह बात नही कि इसमे पहले उसे इन बातोका अदाज न हुआ हो। परन्तु प्रत्यक्ष दर्शनका कुछ जुदा ही प्रभाव मनपर पडता है। उस सारे स्वजन-समूहको देखकर उसके हृदयमे एक उथल-पुथल मचती है। वह खिन्न हो जाता है। आजतक उसने अनेक युद्धोमे असख्य वीरोका सहार किया था। उस समय वह खिन्न नही हुआ था, उसका गांडीव हाथसे छूट

नही पडा था, शरीरमें कप नही होने लगा था, उसकी आखें भीनी नही हो गई थी। तो फिर इसी समय ऐसा क्यो हुआ ? क्या अशोककी तरह उसके मनमे अहिसा-वृत्ति उदय हो गई थी ? नही, यह तो केवल स्वजना-सक्ति थी। इस समय भी यदि गुरु, बधु और आप्त सामने न होते तो उसने शत्रुओके मुड गेंदकी तरह उडा दिये होते। परतु इस आसक्ति-जनित मोहने उसकी कर्त्तव्य-निष्ठाको ग्रस लिया। और तब उसे तत्त्वज्ञान याद हो आया। कर्त्तव्य-निष्ठ मनुष्यके मोहग्रस्त होनेपर भी नग्न—खुल्लमखुल्ला—कर्त्तव्यच्युति उसे सहन नही होती। वह कोई सद्विचार उसे पहनाता है। यही हाल अर्जुनका हुआ। अब वह झूठ-मूठ प्रतिपादन करने लगा कि युद्ध ही वास्तवमे एक पाप है। युद्धमे कुलक्षय होगा, धर्मका लोप होगा, स्वैराचार मचेगा, व्यभिचार-वाद फैलेगा, अकाल आ पडेगा, समाज पर तरह-तरहके सकट आवेगे—आदि अनेक दलीलें देकर वह कृष्णको ही समझाने लगा।

यहा मुझे एक न्यायाधीशका किस्सा याद आता है। एक न्यायाधीश था। उसने सैकडो अपराधियोको फासीकी सजा दी थी। परन्तु एक दिन खुद उसीका लडका खूनके जुर्ममे उसके सामने पेश किया गया, उस पर खून साबित हुआ व खुद अपने ही लडकेको फासीकी सजा देनेकी नौबत उसे आगई। तब वह हिचकने लगा। वह बुद्धिवाद बघारने लगा—"फासीकी सजा बडी अमानुष है। ऐसी सजा देना मनुष्यको शोभा नही देता। इससे अपराधीके सुधारकी आशा नष्ट हो जाती है। खून करने वालेने भावनाके आवेशमे, जोश व उत्तेजनामे, खून कर डाला। परतु उसकी आखो परसे खूनका जनून उतर जानेपर उस व्यक्तिको सजीदगी-के साथ फासीके तख्तेपर चढाकर मार डालना समाजकी मनुष्यताके लिए बडी लज्जाकी बात है, बडा कलक है," आदि दलीलें वह देने लगा। यदि अपना लडका सामने न आया होता तो न्यायाधीश साहब बेखटके जिदगीभर फासीकी सजा देते रहते। किंतु न्यायाधीश अपने लडकेके ममत्वके कारण ऐसी बाते करने लगे। वह आवाज आतरिक नही थी। वह आसक्ति-जनित थी। 'यह मेरा लडका है' इस ममत्वमे से वह वाङ्मय निकला था।

अर्जुनकी गति भी इस न्यायाधीशकी तरह हुई। उसने जो दलीलें दी थी वे गलत नही थी। पिछले महायुद्धमे सारे ससारने ठीक इन्ही परिणामोको प्रत्यक्ष देखा है। परतु सोचनेकी बात यह है कि वह अर्जुनका तत्त्व-ज्ञान (दर्शन) नही, किन्तु कोरा प्रज्ञावाद था। कृष्ण इसे जानते थे। इसलिए उन्होने उनपर जरा भी ध्यान न देकर सीधा उसके मोह-नाशका उपाय शुरू किया। अर्जुन यदि सचमुच अहिंसावादी हो गया होता तो उसे किसीने कितना ही अवातर ज्ञान-विज्ञान बताया होता तो भी असली बातका जवाब मिले बिना उसका समाधान न हुआ होता। परतु सारी गीतामे इस मुद्देका कही भी जवाब नही दिया गया, फिर भी अर्जुनका समाधान हुआ है। इस सबका भावार्थ यही है कि अर्जुनकी अहिंसा-वृत्ति नही थी, वह युद्ध-प्रवृत्त ही था। युद्ध उसकी दृष्टिसे उसका स्वभाव-प्राप्त और अपरिहार्य रूपसे निश्चित कर्तव्य था। उसे वह मोहवश होकर टालना चाहता था, और गीताका मुख्यत इस मोहपर ही गदा-प्रहार है।

(३)

अर्जुन अहिंसाकी तो क्या, सन्यासकी भी भाषा बोलने लगा था। वह कहता है—इस रक्त-लाछित क्षात्र-धर्मसे तो सन्यास ही अच्छा है। परतु क्या अर्जुनका वह स्वधर्म था ? उसकी वह वृत्ति थी क्या ? अर्जुन सन्यासीका वेष तो बडे मजेमे धारण कर सकता था, पर वैसी वृत्ति कैसे बना सकता था ? सन्यासके नाम पर यदि वह जगलमे जा रहा होता तो वहा हिरन मारना शुरू कर देता। अत भगवान्ने साफ ही कहा—"अर्जुन, जो तुम यह कह रहे हो कि मै लडूगा नही, सो तुम्हारा भ्रम है। आज तक जो तुम्हारा स्वभाव बना हुआ है वह तुम्हे लडाये बिना कभी नही माननेका।"

अर्जुनको स्वधर्म विगुण मालूम होने लगा। परतु स्वधर्म कितना ही विगुण हो तो भी उसीमे रहकर मनुष्यको अपना विकास कर लेना चाहिए; क्योंकि उसीमें रहनेसे विकास हो सकता है। इसमें अभिमान-का कोई प्रश्न नहीं है। यह तो विकासका सूत्र है। स्वधर्म ऐसी वस्तु

नही हैं कि जिसे बडा समझकर ग्रहण करे व छोटा समझकर छोड दे। वस्तुत वह न बडा होता है, न छोटा। वह हमारे ब्यौंत भरका होता है। 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुण' इस गीता-वचनमे धर्म शब्दका अर्थ हिंदू-धर्म, इस्लाम, ईसाई-धर्म आदि जैसा नही है। प्रत्येक व्यक्तिका अपना भिन्न-भिन्न धर्म है। मेरे सामने यहा जो दो सौ व्यक्ति मौजूद हैं उनके दो सौ धर्म हैं। मेरा धर्म भी जो दस वर्ष पहले था वह आज नही है। आजका दस वर्ष बाद नही रहनेका। चितन और अनुभवसे जैसे-जैसे वृत्तिया बदलती जाती है, वैसे-वैसे पहलेका धर्म छूटता जाता है व नवीन धर्म प्राप्त होता जाता है। हठ पकडकर कुछ भी नही करना है।

दूसरेका धर्म भले ही श्रेष्ठ मालूम हो, उसे ग्रहण करनेमे मेरा कल्याण नही है। सूर्यका प्रकाश मुझे प्रिय है। उस प्रकाशसे मैं बढता रहता हू। सूर्य मुझे वदनीय भी है। परतु इसलिए यदि मै पृथ्वीपर रहना छोडकर उसके पास जाना चाहूगा तो जलकर खाक हो रहूगा। इसके विपरीत भले ही पृथ्वीपर रहना विगुण हो, सूर्यके सामने पृथ्वी बिलकुल तुच्छ हो, वह स्वय-प्रकाश न हो, तो भी जबतक सूर्यके तेजको सहन करने का सामर्थ्य मुझमे न आजाय तब तक सूर्यसे दूर पृथ्वी पर रहकर ही मुझे अपना विकास कर लेना होगा। मछलियोको यदि कोई कहे कि 'पानीसे दूध कीमती है, तुम दूधमे रहने चलो,' तो क्या मछलिया उसे मजूर करेगी ? मछलिया तो पानीमे ही जी सकती है, दूधमे मर जायगी।

दूसरेका धर्म सरल मालूम हो तो भी उसे ग्रहण नही करना है। बहुत बार सरलता आभासमात्र ही होती है। घर-गृहस्थीमें बाल-बच्चोंकी ठीक सभाल नही की जाती, इसलिए ऊबकर यदि कोई गृहस्थ सन्यास ले ले तो वह ढोग होगा व भारी भी पडेगा। मौका पाते ही उसकी वासनाए जोर पकडेगी। ससारका बोझ उठाया नही जाता, इसलिए जगलमें जाने वाला पहले वहा छोटी-सी कुटिया बनावेगा। फिर उसकी रक्षाके लिए बाड लगावेगा। ऐसा करते-करते वहा भी उसे सवाया ससार खड़ा करनेकी नौबत आजायगी। यदि सचमुच मनमे वैराग्यवृत्ति हो तो फिर सन्यास भी कौन कठिन बात है ! सन्यासको आसान बनानेवाले स्मृति-वचन तो हैं

ही। परतु खास बात वृत्तिकी है। जिसकी जो वास्तविक वृत्ति होगी उसीके अनुसार उसका धर्म होगा। श्रेष्ठ-कनिष्ठ, सरल-कठिन यह प्रश्न नही है। सच्चा विकास होना चाहिए। वास्तविक परिणति होनी चाहिए।

परतु बाज भावुक व्यक्ति पूछते है—"यदि युद्ध-धर्मसे सन्यास सचमुच ही सदा श्रेष्ठ है तो फिर भगवान्ने अर्जुनको सच्चा सन्यासी ही क्यो न बनाया? उनके लिए क्या यह असभव था?" उन्हे असभव तो कुछ भी नही था। परतु उसमे अर्जुनका फिर पुरुषार्थ क्या रह जाता? परमेश्वरने स्वतत्रता दे रखी है। अत हर आदमी अपने लिए प्रयत्न करता रहे, इसीमे मजा है। छोटे बच्चे खुद तस्वीरे निकालनेमे आनन्द मानते है। उन्हे यह पसद नही आता कि कोई उनसे हाथ पकड कर खिचाये। शिक्षक यदि बच्चोके सवाल हल कर दिया करे तो फिर बच्चोकी बुद्धि बढेगी कैसे? अत मा-बाप व गुरुका काम सिर्फ सुझाव करना है। परमेश्वर अदरसे हमे सुझाता रहता है। इससे अधिक वह कुछ नही करता। कुम्हारकी तरह भगवान् ठोक-पीटकर अथवा थपथपाकर हरेकका मटका तैयार करे तो उसमे सार ही क्या रहा? हम मिट्टीकी हडिया तो है नही, हम तो चिन्मय है।

इस सारे विवेचनसे एक बात आपकी समझमे आगई होगी कि गीताका जन्म स्वधर्ममे बाधक जो मोह है उसके निवारणार्थ हुआ है। अर्जुन धर्म-समूढ हो गया था। स्वधर्मके विषयमे उसके मनमे मोह पैदा हो गया था। श्रीकृष्णके पहले उलहनेके बाद, यह बात अर्जुन खुद ही स्वीकार करता है। वह मोह, वह ममत्व, वह आसक्ति दूर करना गीताका मुख्य काम है। इसीलिए सारी गीता सुना चुकनेके बाद भगवान्ने पूछा है—'अर्जुन, तुम्हारा मोह चला गया न?' और अर्जुन जवाब देता है—'हा, भगवन्, मोह नष्ट हो गया, मुझे स्वधर्मका बोध हो गया।' इस तरह यदि गीताका उपक्रम और उपसहारको मिलाकर देखे तो मोह-निरसन ही उसका फलित निकलता है। गीताका ही नही, सारे महाभारत का यही उद्देश्य है। व्यासजीने महाभारतके प्रारभमे ही कहा है कि लोक-हृदयके मोहावरणको दूर करनेके लिए मै यह इतिहास-प्रदीप जला रहा हू।

(४)

आगेकी सारी गीता समझनेके लिए अर्जुनकी यह भूमिका हमारे बहुत काम आई है, इसलिए तो हम इसका आभार मानेंगे ही, परतु इससे और भी एक उपकार है। अर्जुनकी इस भूमिकामें उसके मनकी अत्यत ऋजुताका पता चलता है। खुद 'अर्जुन' शब्दका अर्थ ही 'ऋजु अथवा सरल स्वभाववाला' है। उसके मनमे जो कुछ भी विकार या विचार आये वे सब उसने दिल खोलकर भगवान्के सामने रख दिये। मनमे कुछ भी छिपा नही रखा और वह अतको श्रीकृष्णकी शरण गया। सच पूछिये तो वह पहले हीसे कृष्णकी शरण था। कृष्णको सारथी बनाकर जबसे उसने अपने घोडोकी लगाम उनके हाथोमे पकडाई तभीसे उसने अपनी मनोवृत्तियोकी लगाम भी उनके हाथोमे सौप देनेकी तैयारी कर ली थी। आइए, हम भी ऐसा ही करे। अर्जुनके पास तो कृष्ण थे। हमे कृष्ण कहा मिलेगे, ऐसा हम न कहे। कृष्ण नामक कोई व्यक्ति है, ऐसी ऐतिहासिक उर्फ भ्रामक समझकी उलझनमे हम न पडे। अतर्यामीके रूपमे कृष्ण हम प्रत्येकके हृदयमे विराजमान है। हमारे सबसे अधिक निकट वही है। तो हम अपने हृदयके सब छल-मल उसके सामने रख दे और उससे कहे--"भगवन्, मै तेरी शरण हू। तू मेरा अनन्य गुरु है। मुझे उचित मार्ग दिखा। जो मार्ग तू बताएगा मै उसीपर चलूगा।" यदि हम ऐसा करेगे तो वह पार्थ-सारथी हमारा भी सारथ्य करेगा। अपने श्रीमुखसे वह हमें गीता सुनावेगा और हमे विजय-लाभ करा देगा।

दूसरा अध्याय

रविवार, २८-२-३२

(५)

भाइयो ! पिछले अध्यायमे हमने अर्जुनके विषाद-योगको देखा। जब अर्जुनके जैसी ऋजुता (सरल भाव) और हरि-शरणता होती है, तो फिर विषादका भी योग हो जाता है। इसीको हृदय-मथन कहते है। गीताकी इस भूमिकाको मैने उसके सकल्पकारके अनुसार अर्जुन-विषाद-योग जैसा विशिष्ट नाम न देते हुए विषाद-योग जैसा साधारण नाम दिया है। क्योकि गीताके लिए अर्जुन एक निमित्त-मात्र है। यह न समझना चाहिए कि पढरपुरके पाडुरगका अवतार सिर्फ पुडलीकके ही लिए हुआ। क्योकि हम देखते है कि पुडलीकका निमित्त लेकर वह हम जड जीवोके उद्धारके लिए आज हजारो वर्षोसे खडा है। इसी प्रकार गीताकी दया अर्जुनके निमित्तसे क्यो न हो, हम सबके लिए हुई है। अत गीताके पहले अध्यायके लिए विषाद-योग जैसा साधारण नाम ही अच्छा मालूम होता है। यह गीता-रूपी वृक्ष यहासे बढते-बढते अतके अध्यायमे प्रसाद-योग-रूपी फलको प्राप्त होनेवाला है। ईश्वरकी इच्छा होगी तो हम भी अपनी इस कारावासकी मुद्दतमे वहातक पहुच जायगे।

दूसरे अध्यायसे गीताकी शिक्षाका आरभ होता है और शुरूमे ही भगवान् जीवनके महा-सिद्धात बता देते है। इसमे उनका आशय यह है कि यदि शुरूमें ही जीवनके वे मुख्य तत्त्व पट जाय जिनके आधारपर जीवनकी इमारत खडी करनी है, तो आगेका मार्ग सरल हो जायगा। दूसरे अध्यायमें आनेवाले साख्य-बुद्धि शब्दका अर्थ मै करता हू—जीवनके मूलभूत सिद्धात। इन मूल सिद्धातोको अब हमे देख जाना है। परतु इसके पहले यदि हम इस साख्य शब्दके प्रसगसे गीताके पारिभाषिक शब्दोके अर्थका थोडा स्पष्टीकरण कर लें तो अच्छा होगा।

गीता पुराने शास्त्रीय शब्दोको नये अर्थोमें लिखनेकी आदी है। पुराने शब्दोपर नये अर्थकी कलम लगाना विचार-क्रातिका अहिंसक तरीका है। व्यासदेव इस प्रक्रियामें सिद्ध-हस्त है। इससे गीताके शब्दोको व्यापक अर्थ प्राप्त हुआ और वह तरोताजा बनी रही एव अनेक विचारक अपनी-अपनी आवश्यकता और अनुभवके अनुसार अनेक अर्थ ले सके। अपनी-अपनी भूमिका परसे ये सब अर्थ सही हो सकते है और मैं समझता हू कि उनके विरोधकी आवश्यकता न पडने देकर हम स्वतत्र अर्थ भी कर सकते है।

इस सिलसिलेमें उपनिषद्मे एक सुदर कथा आती है। एक बार देव दानव और मानव तीनो प्रजापतिके पास उपदेशके लिए पहुचे। प्रजापतिने सबको एक ही अक्षर बताया 'द'। देवोने कहा—"हम देवता लोग कामी है, हमे विषय-भोगोका चस्का लग गया है, अत हमे ब्रह्माने 'द' अक्षरके द्वारा 'दमन' करनेकी सीख दी है।" दानवोने कहा—"हम दानव बडे क्रोधी और दयाहीन हो गये है, हमे 'द' अक्षरके द्वारा प्रजापतिने यह शिक्षा दी है कि 'दया' करो।" मानवोंने कहा—"हम मानव बडे लोभी और धन-सचयके पीछे पागल हो गये है, हमे 'द' के द्वारा 'दान' करनेका उपदेश प्रजापतिने दिया है।" प्रजापतिने सभीके अर्थोको ठीक माना। क्योकि सबने उनको अपने अनुभवोसे प्राप्त किया था। गीताकी परिभाषाका अर्थ करते समय उपनिषद्की यह कथा हमे ध्यानमे रखनी चाहिए।

(६)

दूसरे अध्यायमे जीवनके तीन महा-सिद्धात पेश किये गये है· (१) आत्माकी अमरता और अखडता, (२) देह की क्षुद्रता, और (३) स्वधर्मकी अबाध्यता। इनमे स्वधर्मका सिद्धात कर्त्तव्य-रूप है और शेष दो ज्ञातव्य है। पिछले अध्यायमे मैंने स्वधर्मके सबधमे कुछ बताया है। यह स्वधर्म हमें निसर्गत ही प्राप्त होता है। स्वधर्मको कही खोजने नही जाना पडता। ऐसी बात नही है कि हम आकाशसे गिरे और धरती पर चलने लगे। हमारा जन्म होनेसे पहले यह समाज था, हमारे मा-बाप थे, अडौसी-पडौसी थे। ऐसे इस प्रवाहमे हमारा जन्म होता

है। अत जिन मा-वापकी कोखसे मै जन्मा हू उनकी सेवा करनेका धर्म मुझे जन्मत ही प्राप्त हो गया है, और जिस समाजमे मैने जन्म लिया उसकी सेवा करनेका धर्म भी मुझे इस क्रमसे अपने-आप ही प्राप्त हो गया है। सच तो यह है कि हमारे जन्मके साथ ही हमारा स्वधर्म भी जन्मता है, बल्कि यह भी कह सकते है कि वह तो हमारे जन्मके पहलेसे ही हमारे लिए तैयार रहता है। क्योकि वह हमारे जन्मका हेतु है। हमारा जन्म उसकी पूर्तिके लिए होता है। कोई-कोई स्वधर्मको पत्नीकी उपमा देते है और कहते है कि जैसे पत्नीका सबध अविच्छेद्य माना गया है वैसे ही यह स्वधर्म-सबध भी अविच्छेद्य है। लेकिन मुझे यह उपमा भी गौण--दूसरे दर्जेकी मालूम होती है। मै स्वधर्मके लिए माताकी उपमा देता हू। मुझे अपनी माताका चुनाव इस जन्ममे करना बाकी नही रहा। वह पहलेसे ही निश्चित हो चुकी है। वह कैसी ही क्यो न हो, अब टाली नही जा सकती। ऐसी ही स्थिति स्वधर्मकी है। इस जगत्मे हमारे लिए स्वधर्मके अतिरिक्त दूसरा कोई आश्रय नही है। स्वधर्मको टालने जाना मानो 'स्व' को ही टालने जैसी आत्मघातकता है। स्वधर्मके सहारे ही हम आगे बढ सकते है। अत यह स्वधर्मका आश्रय कभी किसीको नही छोडना चाहिए--यह जीवनका एक मलभूत सिद्धात स्थिर होना है।

स्वधर्म हमे इतना सहज प्राप्त है कि हमसे अपने-आप उसीका पालन होना चाहिए। परतु अनेक प्रकारके मोहोके कारण ऐसा नही होता, अथवा बडी कठिनाईसे होता है और हुआ भी तो उसमे विष--अनेक प्रकारके दोष--मिल जाता है। स्वधर्मके मार्गमे काटे बखेरनेवाले इन मोहोके बाहरी रूपोकी तो कोई गिनती ही नही है। फिर भी जब हम उनकी छानबीन करते है, तो उन सबकी तहमे एक ही बात दिखाई देती है--सकुचित और छिछली देह-बुद्धि। मै और मेरे शरीरसे ताल्लुक रखनेवाले लोग-बाग, बस इतनी ही मेरी व्याप्ति--फैलावकी सीमा है। इस दायरेके बाहर जो है, वे सब मेरे लिए गैर अथवा दुश्मन है। ऐसे भेदकी दीवार यह देह-बुद्धि खडी कर देती है और तारीफ यह कि जिन्हे मैने 'मै' अथवा 'मेरे' मान लिया, उनके भी केवल शरीर ही वह देखती है। देह-बुद्धिके इस दुहरे पेचमे पड़कर हम तरह-तरहके छोटे

घरोंदे बनाने लगते हैं। प्राय सब लोग इसी कार्यक्रममे लगे रहते है। इनमे किसीका घरोदा बडा तो किसीका छोटा, परतु है आखिर वह घरोदा ही। इस शरीरके चमडे जितनी ही उनकी गहराई। कोई कुटुबाभिमान का घरोदा बनाकर रहता है तो कोई देशाभिमानका। ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर नामक एक घरोदा, हिंदू-मुसलमान नामक दूसरा, ऐसे एक-दो नही अनेक घरोदे बने हुए हैं। जिधर देखिए उधर ये घरोंदे ही घरोदे। हमारे इस जेलमे भी तो राजनैतिक कैदी और दूसरे कैदी, इस तरह के घरोदे बने हुए है मानो इनके बिना हम जी ही नही सकते। परन्तु इसका नतीजा क्या होता है—नतीजा एक ही। हीन-विकारोके कीटाणुओंकी बाढ और स्वधर्म-रूपी आरोग्यका नाश।

(७)

ऐसी दशामे स्वधर्म-निष्ठा अकेली पर्याप्त नही होती। उसके लिए दूसरे दो और सिद्धात जाग्रत रखते पडते है। एक तो यह कि मै यह मरण-शील देह नहीं हू, देह तो केवल ऊपरकी क्षुद्र पपडी है और दूसरा यह कि मै कभी न मरनेवाला अखड और व्यापक आत्मा हू। इन दोनोको मिलाकर एक पूर्ण तत्त्व-ज्ञान प्राप्त होता है।

यह तत्त्वज्ञान गीताको इतना आवश्यक जान पडता है कि गीता उसीका पहले आवाहन करती है और स्वधर्मका अवतार बादको। कुछ लोग पूछते है कि तत्त्वज्ञान-सबधी ये श्लोक आरभमे ही क्यो? परतु मुझे लगता है कि गीतामे यदि कोई श्लोक ऐसे है जिनकी जगह बिलकुल नही बदली जा सकती तो वे यही श्लोक है।

इतना तत्त्वज्ञान यदि मनमे अकित हो जाय तो फिर स्वधर्म बिल-कुल भारी नहीं पडेगा। यही बात नही, किंतु स्वधर्मके अतिरिक्त और कुछ करना भारी मालूम पडेगा। आत्मतत्त्वकी अखडता और देहकी क्षुद्रता, इन बातोको समझ लेना कोई कठिन नही है, क्योकि ये दोनो सत्य वस्तुए है। परतु हमें उनका विचार करना होगा। बार-बार मनमे उनका मंथन करना होगा। इस चामके महत्वको घटाकर हमे आत्माको महत्व देना सीखना होगा।

देखिए, यह देह तो पल-पलमे बदलता रहता है। बचपन, जवानी और बुढापा--इस चक्रका अनुभव किसे नही है ? आधुनिक शास्त्रज्ञोका तो कहना है कि सात सालमे शरीर बिलकुल बदल जाता है और खूनका पुराना एक बूद भी शेष नही रहता। हमारे पूर्वज मानते थे कि बारह वर्षमे पुराना शरीर मर जाता है और इसलिए प्रायश्चित्त, तपश्चर्या, अध्ययन आदिकी भी मियाद बारह-बारह वर्षकी रखते थे। बहुत वर्षकी जुदाईके बाद जब कोई बेटा अपनी मासे मिला, तो मा उसे पहचान न सकी। ऐसे किस्से हम सुनते है। तो क्या यही प्रतिक्षण बदलनेवाला, प्रतिक्षण मर रहा देह ही तेरा रूप है,? रात-दिन जहा मल-मूत्रकी नालिया बहती है और तेरे जैसा जबरदस्त धोनेवाला मिल जानेपरभी जिसका अस्वच्छता का व्रत छूटता ही नही है, क्या वही तू है ? वह अस्वच्छ, तू उसे साफ करनेवाला, वह रोगी, तू उसे दवा-पानी देनेवाला, वह साढे तीन हाथकी जगह घेरे हुए, तू त्रिभुवन-विहारी, वह नित्य परिवर्तनशील, तू उसके परिवर्तन देखनेवाला, वह मरनेवाला और तू उसके मरणका व्यवस्थापक। तेरा और उसका भेद इतना स्पष्ट होते हुए भी तू इतना सकुचित क्योकर बनता है ? यह क्या कहना है कि इस देहसे जितने सबध रखते है वही मेरे है, और इस देहकी मृत्युके लिए इतना शोक भी क्या करना है ? भगवान् पूछते है कि 'अरे, देहका नाश क्या शोक करने जैसी बात है ?'

देह तो कपडेकी तरह है। पुराने फट जाते है इसीसे तो नये धारण किये जा सकते है। यदि कोई एक ही शरीर आत्मासे सदाके लिए चिपका रहता, तो आत्माकी बुरी गत होती। सारा विकास रुक जाता, आनद हवा हो जाता और ज्ञान-प्रभा मद हो जाती। अत देहका नाश शोचनीय नही हो सकता। हा, यदि आत्माका नाश हो सकता होता, तो अलबत्ता वह एक शोचनीय बात होती। पर वह तो अविनाशी है, वह मानो एक अखड बहता हुआ झरना है। उसपर अनेक कलेवर आते और जाते है। इसलिए देहके नाते-रिश्तोके चक्करमे पडकर शोक करना और ये मेरे तथा ये पराये है, ऐसे भेद या टुकडे करना बिलकुल अनुचित है। देखो, यह सारा ब्रह्माड मानो एक सुदर बुनी हुई चादर है। कोई छोटा बच्चा

जैसे हाथमें कैंची लेकर चादरके टुकड़े काट देता है वैसे ही इस देहके बराबर कतरन या नमूना लेकर उस विशालके टुकड़े करना कितना बचपन और कितनी हिंसा है।

सचमुच यह बड़े दुःखकी बात है कि जिस भारत-भूमिमें ब्रह्मविद्याने जन्म पाया, उसीमें इन छोटे-बडे दलो, फिरको और जातियोंकी चारो ओर भरमार दिखाई देती है। और मरनेका तो इतना डर हमारे मनमें घुस बैठा है कि वैसा शायद ही कही दूसरी जगह हो। इसमे कोई शक नहीं कि दीर्घकालीन परतत्रताका ही यह परिणाम है। परतु यह बात भूल जानेसे भी काम नही चलेगा कि वह इस परतत्रताका एक कारण भी है।

मरणका तो शब्द भी हमें नही सुहाता। मरणका नाम ही हमें अमगल मालूम होता है। ज्ञानदेवको बडे दुःखके साथ लिखना पडा है.

"मर शब्द नहीं हैं सहते, मर जाते है तो रोते।"

फिर जब कोई मर जाता है तो कितना रोना-चिल्लाना मचाते है, मानो वह हमारा एक कर्तव्य ही हो! यहातक कि किरायेसे रोनेवाले बुलाने तक बात जा पहुची है। मृत्यु निकट आ जानेपर भी रोगीको नही कहेंगे। यदि डाक्टरने कह दिया है कि यह नही बचनेका, तो भी रोगीको अधकार-में रखेगे। खुद डाक्टर भी साफ-साफ नही कहेगा, आखिर दम तक पेट-में दवाकी शीशिया उडेलता रहेगा। इसके बजाय यदि सत्य बात बता कर, धीरज-दिलासा देकर उसे ईश्वर-स्मरणकी ओर लगाया जाय, तो कितना उपकार हो। किंतु उन्हे डर यह लगता है कि कही इस धक्केसे यह भाडा पहले ही न फूट जाय। परतु भला क्या निश्चित समयसे पहले यह भांडा फूटनेवाला था? और फिर जो भाडा दो घटे बाद फूटनेवाला है, वह थोडा पहले फूट गया, तो उससे बिगडा क्या? इसके मानी यह नही कि हम कठोर-हृदय और प्रेमविहीन हो जाय। किंतु देहासक्ति प्रेम नही है। उलटा देहासक्तिको दूर किये बिना सच्चे प्रेमका उदय ही नही होता।

जब देहासक्ति चली जायगी, तब यह बात मालूम हो जायगी कि देह तो सेवाका एक साधन है और देहको उसके योग्य प्रतिष्ठा भी प्राप्त होगी। परंतु आज तो हम देहकी पूजाको ही अपना साध्य मान बैठे

है। हम यह बात ही भूल गये है कि साध्य तो स्वधर्माचरण है। देहको सम्हालनेकी एव उसे खिलाने-पिलानेकी आवश्यकता यदि है, तो वह स्वधर्माचरणके लिए। केवल जीभके चोचले पूरा करनेके लिए उसकी जरूरत नही। चम्मचसे चाहे हलुवा परोसो चाहे दाल-भात, उसे उसका कोई सुख-दु ख नही। ऐसी ही स्थिति जीभकी हो जानी चाहिए--उसे रस-ज्ञान तो होना चाहिए पर सुख-दु ख नही। शरीरका भाडा शरीरको चुका दिया, बस खतम। चर्खेमे सूत कात लेना है, इसलिए उसे तेल देनेकी आवश्यकता है। इसी तरह शरीरसे काम लेना है, इसलिए उसमे कोयला डालना जरूरी है। इस प्रकार यदि हम देहका उपयोग करे तो मूलत क्षुद्र होनेपर भी उसका मूल्य बढ सकता है और उमे प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती है।

लेकिन हम देहको साधन-रूपसे काममे न लाकर उसीमे डूब जाते है और आत्मसकोच कर लेते है। इससे यह देह जो पहलेसे ही न-कुछ है और भी अधिक क्षुद्र बन जाती है। इसलिए सतजन दृढतापूर्वक कहते है कि 'देह और देह-सबध निद्य है, श्वान, सूकर आदि वन्द्य है।' अरे, तू इस देहकी, और देहसे जिनका सबध हुआ है उन्हीकी दिन-रात पूजा मत कर। दूसरोको भी पहचानना सीख। सत इस प्रकार हमे व्यापक होनेकी सीख देते है। हम अपने आप्त-इष्ट-मित्रके अतिरिक्त दूसरोके पास अपनी आत्मा कुछ भी ले जाते है क्या? 'जीवमे जीव समाये। आत्मामे आत्मा मिलाये'--ऐसा हम करते है क्या? अपने आत्म-हसको इस पीजरेके बाहरकी हवा खिलाते है क्या?--क्या कभी तेरे मनमें ऐसा आता है कि अपने माने हुए दायरेको छेदकर कल मैने नये दस दोस्त बनाये। आज पद्रह हुए। कल पचास होगे। और ऐसा करते-करते एक दिन सारा विश्व ही मेरा और मै विश्वका इस प्रकार अनुभव करने लगूगा? हम जेलसे अपने नाते-रिश्तेदारोको पत्र लिखते है, इसमे क्या विशेषता है? किंतु जेलमे छूटे हुए किसी नये मित्र--राजनैतिक कैदी नही, चोर कैदी--को पत्र लिखेगे क्या?

हमारा आत्मा व्यापक होनेके लिए छटपटाता रहता है। वह चाहता है कि सारे जगतको गले लगाले। परतु हम उसे कोठरीमे बद कर देते

है। आत्माको हमने कैदी बना डाला है। उसकी याद तक हमें नहीं होती। सवेरेसे लेकर शामतक हम देहकी ही सेवामे लगे रहते है। दिन-रात यही विचार कि मेरा यह शरीर कितना मोटा-ताजा हुआ या कितना दुबला हो गया। मानो ससारमें कोई दूसरा आनद ही नही। भोग और स्वाद का आनद तो पशु भी लेते है। अब त्याग और स्वाद-भगका आनद भी देखेगा या नही? स्वय भूखसे पीडित होते हुए भी भरी थाली दूसरे भूखे मनुष्यको देनेमे क्या आनद है—इसका अनुभव कर। उसके स्वादको चख। मा, जब बच्चेके लिए कष्ट उठाती है तब उसे इस स्वादका थोड़ा-सा मजा मिलता है। मनुष्य अपना कहकर जो सकुचित दायरा बनाता रहता है उसमे भी उसका उद्देश्य अनजाने यह रहता है कि वह आत्म-विकासका स्वाद चखे। क्योकि उससे देहबद्ध आत्मा थोडा और कुछ देरके लिए उससे बाहर निकलता है। परतु यह बाहर आना किस प्रकारका है? जिस प्रकार कि जेलकी कोठरीके कैदी का जेलके अहातेमे आना हो। परतु आत्माका काम इतनेसे नही चलता। आत्माको तो मुक्तानद चाहिए।

साराश, (१) साधकको चाहिए कि वह अधर्म और परधर्मके टेढे रास्तेको छोडकर स्वधर्मका सहज और सरल मार्ग पकडे। स्वधर्मका पल्ला वह कभी न छोडे। (२) देह क्षण-भगुर है यह समझकर उसका उपयोग स्वधर्मके लिए ही करे। जब आवश्यकता हो तो उसे स्वधर्मके लिए ही खतम भी कर दे। (३) आत्माकी अखडता और व्यापकताका भान सतत जाग्रत रखे और चित्तसे 'स्व'-'पर' के भेदको निकाल डाले। भग-वान जीवन के ये मुख्य सिद्धात बताते है। जो मनुष्य इनके अनुसार आचरण करेगा, वह निस्सदेह एक दिन "नरदेहके ही द्वारा, सच्चिदानद पद धारा" इस अनुभवको प्राप्त करेगा।

(८)

भगवान्ने जीवनके सिद्धात बताये तो, किंतु केवल सिद्धात बता देनेसे काम पूरा नही हो सकता। गीतामे वर्णित ये सिद्धात तो उपनिषदों और स्मृतियोमे पहलेसे ही मौजूद है। गीताने उन्हींको फिरसे उपस्थित किया तो इसमें गीताकी अपूर्वता नही है। उसकी अपूर्वता तो यह बत-

लानेमे है कि इन सिद्धातोको ग्राचरणोमे कैसे लावे ? इस महा-प्रश्नको हल करनेमें ही गीताकी कुशलता है ।

जीवनके सिद्धातोको व्यवहारमें लानेकी जो कला या युक्ति है, उसीको योग कहते है । साख्यका अर्थ है--सिद्धात अथवा शास्त्र । और योगका अर्थ है कला । ज्ञानदेव साक्षी देते है--"योगियोको सधी जीवन-कला ।"गीता साख्य और योग--शास्त्र और कला--दोनोसे परिपूर्ण है । शास्त्र और कला दोनोके योगसे जीवन-सौंदर्य खिलता है । कोरा शास्त्र हवाई महल है । सगीत-शास्त्रको समझ तो लिया, किंतु यदि कठमे सगीत प्रकट करनेकी कला न सधी, तो नाद-ब्रह्मकी सजावट नही होगी । यही कारण है कि भगवान्ने सिद्धातके साथ-ही-साथ उनके विनियोग जाननेकी कला भी बताई है । तो वह भला कौनसी कला है ? देहको तुच्छ मानकर, आत्माकी अमरता और अखडतापर दृष्टि रखकर स्वधर्म का आचरण करनेकी वह कला कौनसी है ?

जो कर्म करते है उनकी दुहरी भावना होती है । एक तो यह कि अपने कर्मका फल हम अवश्य चखेगे । वह हमारा अधिकार है । और इसके विपरीत दूसरी यह कि यदि हमे फल चखनेको नही मिलता हो तो हम कर्म ही नही करेगे । गीता इन दोके अतिरिक्त एक तीसरी ही भावना या वृत्ति बताती है । वह कहती है--"कर्म तो अवश्य करो, पर फलमें अपना अधिकार मत मानो ।"जो कर्म करता है उसे फलका अधिकार अवश्य है । परन्तु तुम उस अधिकारको स्वय ही छोड दो । रजोगुण कहता है--"लूगा तो फलके सहित ही ।"और तमोगुण कहता है, "छोड़ूगा तो कर्म-समेत ही ।"ये दोनो एक दूसरेके भाई ही है । अत. तुम इन दोनोसे आगे बढकर शुद्ध सत्त्वगुणी बनो--अर्थात् कर्म तो करो, पर फलको छोड दो और फलको छोडकर कर्म करो । पहले और पीछे कही भी फलाशा मत रखो ।

गीता जब यह कहती है कि फलाशा मत रखो, तो साथ ही वह यह जताकर कहती है कि कर्मको उत्तमता और दक्षतासे करना चाहिए । सकाम पुरुषके कर्मकी अपेक्षा निष्काम पुरुषका कर्म अधिक अच्छा होना चाहिए। यह अपेक्षा उचित ही है । क्योकि सकाम पुरुष तो फलासक्त

है, इसलिए फल-सबधी स्वप्न-चिंतनमे उसका थोडा-बहुत समय और शक्ति अवश्य लगेगें । परतु फलेच्छा-रहित पुरुषका तो प्रत्येक क्षण और सारी शक्ति कर्ममें ही लगी रहेगी । नदीको छुट्टी नही, हवाको विश्राम नही, सूर्य सदैव जलता ही रहना जानता है । इसी प्रकार निष्काम कर्त्ता एक सतत सेवा-कर्मको ही जानता है । अब यदि ऐसे निरंतर कर्मरत पुरुषका कर्म उत्कृष्ट न होगा, तो किसका होगा ? फिर चित्त-की समता एक बडा ही कुशल गुण है । और वह तो निष्काम पुरुषकी बपौती ही है । किसी एक बिलकुल बाहरी कारीगरीके कामको देखो तो उसमे भी हस्तकौशलके साथ ही यदि चित्तके समत्वका सहयोग हो जाता है, तो यह प्रकट है कि वह काम और भी अधिक सुदर बन जायगा । इसके अतिरिक्त सकाम और निष्काम-पुरुषकी कर्म-दृष्टिमे जो अतर है, वह भी निष्काम पुरुषके कर्मके अधिक अनुकूल है । सकाम पुरुष कर्मकी ओर स्वार्थ-दृष्टिसे देखता है । 'मेरा ही कर्म और मुझे ही फल' इस दृष्टिके कारण यदि कर्मकी ओरसे उसका थोडा भी ध्यान हट गया, तो उसमें उसे नैतिक दोष नही मालूम होता । अधिक हुआ तो व्यावहारिक दोष जान पडता है । परतु निष्काम पुरुषकी तो अपने कर्मके विषयमें नैतिक कर्त्तव्य-बुद्धि रहती है । अत वह तत्परतासे इस बातकी सावधानी रखता है कि अपने काममें थोडी-सी भी कमी न रह जाय । इसलिए भी उसका कर्म अधिक निर्दोष होगा । किसी भी तरह देखिए, फल-त्याग अत्यन्त कुशल एव यशस्वी तत्त्व सिद्ध होता है । अत फल-त्यागको योग अथवा जीवनकी कला कहना चाहिए ।

यदि निष्काम कर्मकी बात छोड दे तो भी खुद कर्ममे जो आनद है वह उसके फलमे नही है । अपना कर्म करते हुए जो एक प्रकारकी तन्मयता होती है वह आनंदका एक स्रोत ही है । चित्रकारसे कहिए—'चित्र मत बनाओ, इसके लिए तुम जितने चाहो पैसे ले लो,' तो वह नही मानेगा । किसानसे कहिए—'खेतपर मत जाओ, गायें मत चराओ, मोट मत चलाओ, तुम जितना कहोगे उतना अनाज तुम्हें दे देंगे ।' यदि वह सच्चा किसान होगा, तो वह यह सौदा पसंद न करेगा । किसान प्रात.काल खेतपर जाता है । सूर्यनारायण उसका स्वागत करते हैं । पक्षी उसके लिए गाना गाते

है । गाय-बैल उसके आसपास घिरे रहते है । वह प्रेमसे उन्हें सहलाता है । जो झाड-पेड लगाये है, उनको भर नजर देखता है । इन सब कामोमें एक सात्त्विक आनद है । यह आनद ही उस कर्मका मुख्य और सच्चा फल है । इसकी तुलनामे उसका बाह्य फल बिलकुल ही गौण है ।

गीता जब मनुष्यकी दृष्टि कर्म-फलसे हटा लेती है, तो वह इस तरकीबसे कर्ममे उसकी तन्मयता सौ गुना बढा देती है । फल-निरपेक्ष पुरुषकी कर्म-विषयक तन्मयता समाधिके दर्जेकी होती है । इसलिए उसका आनद औरोसे सौ-गुना अधिक होता है । इस तरह देखे तो यह बात तुरत समझमे आजाती है कि निष्काम कर्म स्वत ही एक महान् फल है । ज्ञानदेवने यह ठीक ही पूछा है--"वृक्षमे फल लगते है, पर फलमे अब और क्या फल लगेगे ?" इस देह-रूपी वृक्षमे निष्काम स्वधर्माचरण जैसा सुदर फल लग चुकनेपर अब और किस फलकी और क्यो अपेक्षा रखे ? किसान खेत मे गेहू बोये और गेहू बेचकर ज्वार की रोटी खाये ? सुस्वादु केले लगाये और उन्हे बेचकर मिर्च क्यों खाये ? अरे भाई, केले ही खाओ न ? पर लोकमतको यह स्वीकार नही । केले खानेका भाग्य लेकर भी लोग मिर्च पर ही टूटते है । गीता कहती है-- "तुम ऐसा मत करो, कर्मको ही खाओ, कर्म को ही पियो और कर्मको ही पचाओ ।" बस कर्म करनेमे ही सब-कुछ आजाता है । बच्चा खेलनेके आनदके लिए खेलता है । इसमे उसे व्यायामका फल अपने आप ही मिल जाता है । परन्तु उस फलकी ओर उसका ध्यान नही रहता । उसका सारा आनद उस खेलमे ही रहता है ।

(९)

सत-जनोने अपने जीवनके द्वारा यह बात सिद्ध कर दी है। तुकारामके भक्ति-भावको देखकर शिवाजी महाराजके मनमे उनके प्रति बहुत आदर हो जाता था । एक बार उन्होने तुकारामके घर पालकी भेजकर उनके स्वागतका आयोजन किया । परतु तुकारामको अपने स्वागतकी यह तैयारी देखकर भारी दुःख हुआ । उन्होने अपने मनमे कहा--"मेरी भक्तिका क्या यह फल ? क्या इसीके लिए मै भक्ति करता हू ?" उनको

ऐसा प्रतीत हुआ मानो भगवान् मान-सम्मानका यह फल उनके हाथमें रखकर उन्हें अपनेसे दूर हटा रहा हैं। उन्होने कहा--

"जानते हुए अन्तर, टालोगे मेरी झंझट ?
यह ऐब तेरो है, पांडुरंग बहुत खोटो।"

भगवान् तुम्हारी यह आदत अच्छी नही। तुम मुझे यह घुघचीके दाने देकर टरकाना चाहते हो। मनमें सोचते होगे कि इस आफतको निकाल ही दू न ? परतु मै भी कच्चे गुरुका चेला नही हू। मै तुम्हारे पाव जोरसे पकडकर बैठ जाऊगा। भक्ति ही भक्तका स्वधर्म है। और भक्तिमे फलोके अवातर काटे न फूटने देना ही उसकी जीवन-कला है।

पुडलीकका चरित्र फल-त्यागका इससे भी गहरा आदर्श सामने रखता है। पुडलीक अपने मा-बापकी सेवा कर रहा था। उसकी सेवा-से प्रसन्न होकर पाडुरग उसकी भेटके लिए भागे आये। परतु पुडलीक-ने पाडुरगके चक्करमे पडकर अपने उस सेवा-कार्यको छोडनेसे इन्कार कर दिया। अपने मा-बापकी यह सेवा उसके लिए हार्दिक ईश्वर-भक्ति थी। कोई लडका यदि दूसरोको लूट-खसोटकर अपने मां-बापको सुख पहुचाता हो, अथवा कोई देश-सेवक दूसरे देशका द्रोह करके अपने देशका उत्कर्ष चाहता हो, तो दोनोकी यह वस्तु भक्ति नही कहलायगी। वह तो आसक्ति हुई। पुडलीक ऐसी आसक्तिमे फसा नही। उसने कहा कि परमात्मा जिस रूपको धारण कर मेरे सामने खडा हुआ है, क्या वह इतना ही है ? उसका यह रूप दिखाई देनेके पहले सृष्टि क्या प्रेतवत् थी ? वह भगवान्से बोला--

"भगवान्, आप स्वय मुझे दर्शन देनेके लिए आये है, पर मै 'भी-सिद्धात' को माननेवाला हू। आप ही अकेले भगवान् है, ऐसा मै नही मानता। मेरे लिए तो आप भी भगवान् है और ये माता-पिता भी। इनकी सेवामें लगे रहनेके कारण मै आपकी ओर ध्यान नही दे सकता, इसके लिए क्षमा कीजिए।" इतना कहकर उसने भगवान्के खडे रहनेके लिए एक ईंट सरका दी और स्वय उसी सेवा-कार्यमे निमग्न हो रहा। तुकाराम इस प्रसगको लेकर बड़े कुतूहल और विनोद-पूर्वक कहते है--

"कैसा तू रे पागल प्रेमी, खड़ा रखा जो विट्ठल को ।
ऐसा कैसा ढीठ साहसी, ईंट बिछाई विट्ठल को ?"

पुडलीकने जो यह 'भी-सिद्धात' का उपयोग किया, वह फल त्यागकी युक्तिका एक अग है । फल-त्यागी पुरुषकी कर्म-समाधि जैसी गभीर होती है, वैसी ही उसकी वृत्ति व्यापक, उदार और सम रहती है । इस कारण वह विविध तत्त्व-ज्ञानके जजालमे नही पडता और न अपना सिद्धात छोडता है । 'नान्यदस्तीति वादिन'—यही है, दूसरा बिलकुल नही, ऐसा विवाद वह उत्पन्न नही करता । 'यह भी सही है और वह भी सही है, परतु मेरे लिए तो यही सही है' ऐसी उसकी नम्र और निश्चयी वृत्ति रहती है । एक बार एक गृहस्थ एक साधुके पास गया और उससे पूछा—"मोक्ष-प्राप्तिके लिए क्या घर-बार छोडना आवश्यक है ?" साधुने कहा—"नही तो, देखो जनक जैसोने जब राजमहलमे रहकर मोक्ष प्राप्त कर लिया, तो फिर तुमको घर छोडनेकी क्या आवश्यकता है ?" फिर दूसरा मनुष्य आया और साधु से बोला—"स्वामीजी, घर-बार छोडे बिना क्या मोक्ष मिल सकती है ? " साधुने कहा—"कौन कहता है ? यो घरमें रहकर सेत-मेतमे ही मोक्ष मिलता होता, तो शुक-जैसोने जो घर-बार छोडा तो क्या वे मूर्ख थे ?" बादको उन दोनो मनुष्योकी जब एक-दूसरेसे मुलाकात हुई तो दोनोमे बडा झगडा मचा । एक कहने लगा, साधुने घर-बार छोडनेके लिए कहा है । दूसरेने कहा—नही, उन्होने कहा है कि घर-बार छोडनेकी आवश्यकता नही है । तब दोनो साधुके पास आये । साधुने कहा —"दोनोका कहना ठीक है । जैसी जिसकी भावना, वैसा ही उसका मार्ग । और जिसका जैसा प्रश्न वैसा ही उसका उत्तर । घर छोडनेकी जरूरत है, यह भी सत्य है और घर छोडनेकी जरूरत नही है यह भी सत्य है ।" इसीको कहते है 'भी-सिद्धात' ।

पुडलीकके उदाहरणसे यह मालूम हो जाता है कि फल-त्याग किस मजिलतक पहुचनेवाला है । तुकारामको जो प्रलोभन भगवान् देना चाहते थे उसमे पुडलीकवाला लालच बहुत ही मोहक था । परतु वह उसपर भी मोहित नही हुआ । यदि हो जाता तो फस जाता । अत एक बार साधनका

निश्चय हो जाने पर फिर अंततक उसका आचरण करते रहना चाहिए। बीचमे प्रत्यक्ष भगवान्के दर्शन-जैसी बाधा खडी हो जाय तो भी उसके लिए साधन छोडनेकी आवश्यकता न होनी चाहिए। देह बची है, तो वह साधनके लिए है। भगवानका दर्शन तो हाथमे ही है, वह जाता कहा है ?

"सर्वात्म-भाव मेरा; हां कौन छीन ले अब;
तेरी ही भक्ति में मन मेरा रंगा हुआ जब ?"

इस भक्तिको प्राप्त करनेके लिए हमें यह जन्म मिला है। 'मा ते सगोऽस्त्वकर्मणि' इस गीता-वचनका अर्थ यहातक जाता है कि निष्काम कर्म करते हुए अकर्मकी—अर्थात् अतिम कर्म-मुक्तिकी, यानी मोक्षकी भी, वासना मत रख। वासनासे छुटकारा ही तो मोक्ष है। मोक्षको वासनासे क्या लेना-देना ? जब फल-त्याग इस मजिल तक पहुच जाता है तब समझो कि जीवन-कलाकी पूर्णिमा आ पहुची।

(१०)

शास्त्र बतला दिया, कला भी बतला दी, किंतु इतनेसे सारा चित्र आखोके सामने खडा नही रहता। शास्त्र निर्गुण है, कला सगुण है, परतु सगुण भी साकार हुए बिना व्यक्त नही होता। निर्गुण जैसे केवल हवामें रहता है, उसी तरह निराकार सगुणकी हालत भी हो सकती है। इसका उपाय है जिस गुणीमे गुण मूर्त्तिमान हुआ है उसका दर्शन। इसीलिए अर्जुन कहता है—"भगवन्, आपने जीवनके मुख्य सिद्धात बता दिये, उन सिद्धातोको आचरणमे लानेकी कला भी बतला दी, तो भी इसका स्पष्ट चित्र मेरे सामने खड़ा नही होता। अत मुझे अब इसके उदाहरण दीजिए, चरित्र सुनाइए। ऐसे पुरुषोके लक्षण बताइए जिनकी बुद्धिमें साख्य-निष्ठा स्थिर हो गई है और फल-त्याग-रूपी योग जिनकी रग-रगमें व्याप्त हो गया है। जिन्हे हम स्थित-प्रज्ञ कहते है, जो फल-त्यागकी पूरी गहराई दिखलाते है, कर्म-समाधिमे मग्न है, निश्चयके महा-मेरु है, वे बोलते कैसे है, बैठते कैसे हैं, चलते कैसे है, यह सब मुझे बताइए। वह मूर्ति कैसी होती है, उसे कैसे पहचाने ? यह सब कहिए, भगवन् !"

इसके लिए भगवान्ने दूसरे अध्यायके अंतिम १८ श्लोकोमे स्थित-प्रज्ञका गभीर और उदात्त चरित्र चित्रित किया है। मानो इन अठारह श्लोकोमे गीताके १८ अध्यायोका सार ही एकत्र कर दिया है। स्थित-प्रज्ञ गीताकी आदर्श-मूर्त्ति है। यह शब्द भी गीताका अपना स्वतंत्र है। आगे ५ वे अध्यायमे जीवन-मुक्तका, १२वे मे भक्तका, १४वे मे गुणातीतका और १८वेमे ज्ञान-निष्ठका ऐसा ही वर्णन आया है। परतु स्थित-प्रज्ञका वर्णन इन सबसे अधिक सविस्तर और खोलकर किया है। उनमे सिद्ध-लक्षणके साथ-साथ साधक-लक्षण भी बताये है। हजारो सत्याग्रही स्त्री-पुरुष सायकालीन प्रार्थनामे इन लक्षणोका पाठ करते हैं। यदि प्रत्येक गाव व प्रत्येक घरमे वे पहुचाये जा सके तो कितना आनद हो! परतु पहले जब वे हमारे हृदयमे बैठे, तो वे बाहर अपने-आप पहुच जायगे। नित्य पाठकी चीज यदि यात्रिक हो गई तो फिर वह चित्तमे अकित होनेकी जगह उलटी मिट जायगी। यह दोष नित्य-पाठका नही, मनन न करनेका है। नित्य-पाठके साथ-ही-साथ नित्य-मनन और नित्य-आत्म-परीक्षण आवश्यक है।

स्थित-प्रज्ञ यानी स्थिर बुद्धिवाला मनुष्य। यह तो उसका नाम ही बता रहा है। परतु सयमके बिना बुद्धि स्थिर होगी कैसे? अत स्थित-प्रज्ञको सयम-मूर्ति बताया है। बुद्धि तो हो आत्म-निष्ठ, और अतर-बाह्य इद्रिया बुद्धिके अधीन हो—यह है सयमका अर्थ। स्थित-प्रज्ञ सारी इद्रियोको लगाम चढाकर उन्हे कर्मयोगमे जोतता है। इद्रिय-रूपी बैलोसे वह निष्काम स्वधर्माचरणकी खेती भलीभाति करा लेता है। अपना प्रत्येक श्वासोच्छ्वास वह परमार्थमे खर्च करता रहता है।

यह इद्रिय-सयम आसान नही है। इद्रियोसे बिलकुल काम ही न लेना एक बार आसान हो सकता है। मौन, निराहार आदि बाते इतनी कठिन नही है। इससे उलटा इद्रियोको खुला छोड देना तो सबके लिए सधा-सधाया ही रहता है। परतु जिस प्रकार कछुवा खतरेकी जगह अपने तमाम अवयवोको भीतर छिपा लेता है और निर्भय स्थानपर उनसे काम लेता है इसी तरह विषय-भोगोसे इद्रियोको समेट लेना और परमार्थके काममे उनका उचित उपयोग करना यह सयम कठिन है। इसके लिए

महान् प्रयत्नकी जरूरत है। ज्ञान भी चाहिए। परंतु इतना होनेपर भी ऐसा नहीं है कि वह हमेशा अच्छी तरह सध ही जायगा। तब क्या हम निराश हो जाय? नही, साधकको कभी निराश न होना चाहिए। वह साधककी अपनी सब युक्तिया काममें लाये और फिर भी कमी रह जाय तो उसमे भक्तिको जोड दे। यह बडा कीमती सुझाव भगवान्ने स्थित-प्रज्ञके लक्षणोमे दिया है। हा, वह दिया है गिने-गिनाये शब्दोमें ही। परतु गाडीभर व्याख्यानोंकी अपेक्षा वह अधिक कीमती है। क्योकि जहां भक्तिकी अचूक आवश्यकता है वही वह उपस्थित की गई है। स्थित-प्रज्ञके लक्षणोका सविस्तर वर्णन हमे आज यहा नही करना है। परतु हम अपनी इस सारी साधनामें भक्तिका अपना निश्चित स्थान कहीं भूल न जाय, इसके लिए उसकी ओर ध्यान दिला दिया। पूर्ण स्थितप्रज्ञ इस जगतमें कौन हो गया है, सो तो भगवान् ही जाने। परतु सेवापरायण स्थित-प्रज्ञके उदाहरणके रूपमे पुडलीककी मूर्ति सदैव मेरी आखोंके सामने आती रहती है। और वह मैंने आपके सामने रख भी दी है।

अच्छा अब स्थित-प्रज्ञके लक्षण पूरे हुए और दूसरा अध्याय भी समाप्त हुआ।

(निर्गुण) सांख्य-बुद्धि + (सगुण) योग-बुद्धि + (साकार) स्थित-प्रज्ञ

मिलाकर

संपूर्ण जीवन-शास्त्र

इसमेंसे ब्रह्म-निर्वाण उर्फ मोक्षके सिवा दूसरा क्या फलित हो सकता है?

तीसरा अध्याय

रविवार, ६-३-३२

(११)

भाइयो, दूसरे अध्यायमे हमने सारे जीवन-शास्त्रपर निगाह डाली। अब इस तीसरे अध्यायमे इसी जीवन-शास्त्रका स्पष्टीकरण करना है। पहले हमने तत्त्वोका विचार किया, अब उनकी तफसीलमे जायगे। पिछले अध्यायमे कर्म-योग-सबधी विवेचन किया था। कर्मयोगमे महत्त्व-की वस्तु है फल-त्याग। कर्मयोगमे फल-त्याग तो है, परंतु प्रश्न यह उठता है कि फल मिलता भी है या नही ? अत तीसरे अध्यायमे कहते है कि कर्म-फलोको छोडनेसे कर्मयोगी उलटा अनत गुना फल प्राप्त करता है।

यहा मुझे लक्ष्मीकी कथा याद आती है। उसका था स्वयवर। सारे देव-दानव बडी आशा बाधे आये थे। लक्ष्मीने अपना प्रण प्रकट नही किया था। सभा-मडपमे आकर वह बोली—"मै उसीके गलेमें वरमाला डालूगी जिसे मेरी चाह न होगी।" अब वे तो सब थे लालची। लक्ष्मी ऐसा निस्पृह वर खोजने लगी। इतनेमे शेषनाग पर शात भावसे लेटी हुई भगवान् विष्णुकी मूर्ति उसे दिखाई दी। उसके गलेमे वरमाला डालकर वह आजतक उनके पैर दबाती हुई बैठी है। 'जो न चाहे उसकी होती रमा दासी'। यहीतो खूबी है।

साधारण मनुष्य अपने फलके आसपास काटेकी बाड लगाता है। पर इससे वह अनतरूपसे मिलनेवाला फल गवा बैठता है। सासारिक मनुष्य अपार कर्म करके अल्प-फल प्राप्त करता है। पर कर्मयोगी थोडा-सा करके भी अनत गुना। यह फर्क सिर्फ एक भावनाके कारण होता है। टॉल्स्टायने एक जगह कहा है—"लोग ईसा-मसीहके बलिदानकी बहुत स्तुति करते हैं। परतु ये ससारी जीव तो रोज न जाने कितना अपना खून सुखाते हैं, दौड-धूप करते हैं ! पूरे दो गधोका बोझ अपनी पीठपर

लादकर चक्कर काटनेवाले ये संसारी जीव, इन्हे ईसासे कितना गुना ज्यादा कष्ट, कितनी ज्यादा इनकी दुर्गति ! यदि ये इनसे आधे भी कष्ट भगवान्‌के लिए उठावे, तो सचमुच ईसासे भी बढ जायगे।

ससारी मनुष्य की तपस्या सचमुच बड़ी होती है, परतु वह होती है क्षुद्र फलोके खातिर। जैसी वासना वैसा ही फल। अपनी चीजकी जो कीमत हम आंकते है, उससे ज्यादा कीमत ससारमे नही होती। सुदामा चिवडा लेकर भगवानके पास गये। उस मुट्ठी-भर चिवड़ेकी कीमत एक धेला भी शायद न हो—परतु सुदामाको वे अमोल मालूम होते थे। क्योंकि उनमे भक्तिभाव था। वे अभिमन्त्रित थे। उनके एक-एक कणमें भावना थी। चीज भले ही क्षुद्र क्यो न हो, मत्रसे उसका मोल, उसका सामर्थ्य बढ जाता है। नोटका वजन भला कितना होगा ? उसे जलावें तो एक बूद पानी भी शायद ही गरम हो। पर उसपर एक मुहर लगी रहती है। उसीसे उसकी कीमत होती है।

कर्मयोगमे भी यही सारी खूबी है। कर्मको नोट ही समझो। भावना-रूपी मुहरकी कीमत है, कर्म-रूपी कागजके टुकडेकी नही। एक तरहसे यह मैं मूर्त्ति-पूजाका ही रहस्य बतला रहा हू। मूर्त्ति-पूजाकी कल्पनामें बडा सौंदर्य है। इस मूर्त्तिको कौन तोड-फोड सकता है। यह मूर्त्ति शुरूआतमें एक टुकडा ही तो थी। मैंने इसमे प्राण डाला। अपनी भावना डाली। भला इस भावनाके कोई टुकडे कर सकता है ? तोड-फोड पत्थरकी हो सकती है, भावनाकी नही। जब मैं अपनी भावना मूर्त्तिमेसे निकाल लूगा, तभी वहा पत्थर बाकी बच रहेगा, व तभी उसके टुकडे हो सकते है।

कर्मका अर्थ हुआ पत्थर या कागजका टुकडा। मेरी माने कागजकी एक चिटपर दो-चार टेढी-मेढी सतरे लिखकर भेज दी, व दूसरे किसी शख्सने पचास पन्नोमे अट-सट लेख लिखकर भेजा। अब वजन किसका ज्यादा होगा ? परतु माकी उन चार सतरोमे जो भाव है वह अनमोल है, पवित्र है। उसकी बराबरी वह रद्दी नही कर सकती। कर्मको तरी चाहिए; भावना चाहिए। हम मजदूरके कामकी एक कीमत लगाते हैं और उसे मजूरी दे देते है। परतु दक्षिणाकी बात ऐसी नही है। दक्षिणा

भिगोकर दी जाती है। दक्षिणाके सबधमे यह प्रश्न नही उठता कि कितनी दी ? बल्कि मार्केकी बात जो देखी जाती है वह यह है कि उसमे तरी है या नही। मनुस्मृतिमे एक बडी मजेदार बात कही है। एक शिष्य बारह साल गुरु-गृहमे रहकर पशुसे मनुष्य हुआ। अब वह गुरु-दक्षिणा क्या दे ? प्राचीन समयमे पहले ही फीस नही ले ली जाती थी। बारह साल पढ चुकनेके बाद गुरुको जो कुछ देना हो सो दिया जाता था। मनु कहते है—चढा दो गुरुजीको एकाध पत्र-पुष्प, दे दो एक पखा या खडाऊ, या पानीका कलसा। इसे आप मजाक मत समझिए, क्योकि जो कुछ देना है, श्रद्धाका चिह्न समझकर देना है। फूलमे भला क्या वजन है ? परतु उस भक्ति-भावमे ब्रह्माडके बराबर वजन है।

"रुक्मिणी ने एक ही तुलसी-दल से
तोला प्रभु गिरिधर को।"

सत्यभामाके मनभर गहनोसे काम नही चला। परतु भाव-भक्तिसे पूर्ण एक तुलसीपत्र जब रुक्मिणी माताने पलडेमे डाल दिया तो सारा काम बन गया। वह तुलसी-पत्र अभिमंत्रित था। अब वह मामूली नही रह गया था। कर्मयोगीके कर्मकी भी यही बात है।

ऐसी कल्पना करो कि दो व्यक्ति गगा-स्नान करने गये है। उनमेसे एक कहता है—"लोग गगा-गगा जो कहते है सो उसमे है क्या ? दो हिस्से हायड्रोजन, एक हिस्सा आक्सीजन, ये दो गैस एकत्र कर दिये, यही गगा हो गई। इससे अधिक उसमे क्या है।" दूसरा कहता है—"भगवान् विष्णुके पद-कमलोसे यह निकली है, शकरके जटाजूटमे इसने वास किया है, हजारो ब्रह्मर्षियो व राजर्षियोने इसके तीरपर तपस्या की है अनत पुण्य-कृत्य इसके किनारे हुए है—ऐसी यह पवित्र गगामाई है।" इस भावनासे अभिभूत होकर वह उसमे नहाता है। वह ऑक्सिजन-हायड्रोजन वाला भी नहाता है। अब देह-शुद्धि रूपी फल तो दोनोको मिला ही। परतु उस भक्तको देह-शुद्धिके साथ ही चित्त-शुद्धि-रूपी फल भी मिला। यो तो गगामे बैल भी नहाये तो उसे देह-शुद्धि प्राप्त होगी। शरीरकी गदगी निकल जायगी। परतु मनका मैल कैसे धुलेगा ? एकको देह-शुद्धिका

तुच्छ फल मिला, दूसरेको, उसके अलावा भी, चित्त-शुद्धि-रूपी अनमोल-फल मिला।

स्नान करके सूर्य-नमस्कार करनेवाले को व्यायामका फल तो मिलेगा ही। परतु वह आरोग्यके लिए नमस्कार नही करता है, उपासनाके लिए करता है। इससे उसके शरीरको तो आरोग्य-लाभ होता ही है, परतु बुद्धिकी प्रभा भी बढ़ती है। आरोग्यके साथ ही. स्फूर्ति व प्रतिभा भी उसे सूर्य-नारायणसे मिलेगी।

वही कर्म, परतु भावना-भेदसे उसमे अतर पड जाता है। परमार्थी मनुष्यका कर्म आत्म-विकासक होता है; ससारी मनुष्यका कर्म आत्म-बधक सिद्ध होता है। कर्मयोगी यदि किसान होगा तो वह स्वधर्म समझकर खेती करेगा। इससे उसकी पेट-पूर्ति अवश्य होगी; परतु वह इसलिए कर्म नही करता है कि उसकी उदर-पूर्ति हो। बल्कि भोजनका वह एक साधन मानेगा, जिससे उसका शरीर खेती करने योग्य रहता है। स्वधर्म उसका साध्य व भोजन उसका साधन हुआ। परतु जो दूसरा किसान होगा, उसके लिए उदर-पूर्ति साध्य व खेती-रूपी स्वधर्म उसका साधन होगा। ऐसी यह एक-दूसरेसे उल्टी अवस्था है।

दूसरे अध्यायमे, स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताते हुए यह बात मजेदार ढगसे कही गई है। जहा दूसरे लोग जाग्रत रहते है वहा कर्मयोगी सोता रहता है। और जहा दूसरे लोग निद्रित रहते है वहा कर्मयोगी जाग्रत रहता है। हम उदरपूर्तिके लिए जाग्रत रहेंगे, तो कर्मयोगी इस बातके लिए जाग्रत रहेगा कि उसका एक क्षण भी बिना कर्मके न जाय। वह खाता भी है तो मजबूर होकर। इस पेटके हाडेमे इसीलिए कुछ डालता है कि डालना जरूरी है। ससारी मनुष्यको भोजनमे आनद आता है, योगीको भोजन करते हुए कष्ट होता है। इसलिए वह स्वाद ले-लेकर भोजन नही करेगा। सयमसे काम लेगा। एककी जो रात, वही दूसरे का दिन, और एकका जो दिन, वही दूसरेकी रात। अर्थात् जो एकका आनद वही दूसरेका दु:ख, व जो एकका दु ख वही दूसरेका आनद हो जाता है। ससारी व कर्मयोगी—दोनोके कर्म तो एक-से ही है, परतु कर्मयोगीकी विशेषता यह है कि वह फलासक्ति छोडकर कर्ममे ही रमता है। संसारीकी तरह

योगी खायेगा, पियेगा सोयेगा। परतु तत्सबधी उसकी भावना भिन्न होगी। इसलिए तो आरभमे ही स्थितप्रज्ञकी सयम-मूर्त्ति खडी कर दी गई है, जब कि गीताके अभी १६ अध्याय बाकी है।

ससारी पुरुष व कर्मयोगी दोनोके कर्मोका साम्य व वैषम्य तत्काल दिखाई दे जाता है। फर्ज कीजिए कि कर्मयोगी गोरक्षाका काम कर रहा है। तो वह किस दृष्टिसे करेगा ? उसकी यह भावना रहेगी कि गो-सेवा करनेसे समाजको भरपूर दूध मिलेगा, गायके बहाने मनुष्यसे निचली पशु-सृष्टि से प्रेम-सबध जुडेगा। यह नही कि मुझे वेतन मिलेगा। वेतन तो कही गया नही है, परतु असली आनद, सच्चा सुख, इस दिव्य भावनामे है।

कर्मयोगीका कर्म उसे इस विश्वके साथ समरस कर देता है। तुलसी-को पानी पिलाये बिना भोजन नही करेगे। यह वनस्पति-सृष्टिके साथ हमने प्रेम-सबध जोडा है। तुलसीको भूखा रखकर मै कैसे पहले खालू ? इस तरह गायके साथ एक-रूपता, वनस्पतिके साथ एक-रूपता साधते हुए हमे सारे विश्वसे एक-रूपता साधनी है। भारतीय युद्धमें शाम होते ही सब लोग तो साय-सध्या करनेके लिए चले जाते है, परतु भगवान् श्रीकृष्ण रथके घोडे छोडकर उन्हे पानी दिखाते है, खुर्रा करते है, उनके शरीरसे शल्य निकालते है। उस सेवामे भगवान्‌को कितना आनद आता था। कवि यह वर्णन करते हुए अघाते ही नही। अपने पीताबरमे चदी लेकर घोडोको देनेवाले उस पार्थ-सारथीका चित्र अपनी आखोके सामने खडा कीजिए और कर्मयोगके आनदकी कल्पनाका अनु-भव कीजिए। प्रत्येक कर्म मानो आध्यात्मिक, उच्चतर पारमार्थिक कर्म। खादीके ही कामको लीजिये। कधेपर खादीकी गाठ रखकर फेरी करनेवाला क्या ऊब नही जाता ? नही, क्योकि वह इस विचारमें मस्त रहता है कि देशमे जो मेरे करोडो नगे-भूखे भाई-बहन है उन्हे मुझे दो रोटी खिलाना है। उसके एक बार खादी बेचनेका योग समस्त दरिद्र-नारायणके साथ होगया है।

(१२)

निष्काम कर्मयोगमे अद्भुत सामर्थ्य है। ऐसे कर्मसे व्यक्ति व समाज दोनोका परम कल्याण होता है। स्वधर्माचरण करनेवाले कर्म-

योगीकी शरीर-यात्रा तो चलती ही है, सदा सर्वदा उद्योग-रत रहनेके कारण उसका शरीर नीरोग व स्वच्छ रहता है—परतु उसके इस कर्मकी बदौलत उसके समाजका भी, जिसमें वह रहता है, अच्छी तरह योगक्षेम चलता है। कर्मयोगी किसान, इसलिए कि पैसा ज्यादा मिलेंगे, अफीम व तबाकू नही बोयेगा। क्योकि वह अपने कर्मका संबंध समाज-मगलके साथ जोडे हुए है। स्वधर्म-रूप कर्म समाज के लिए हितकारी ही होगा। जो व्यापारी यह मानता है कि मेरा यह व्यवहार-रूप कर्म समाजके हितके लिए है वह कभी विदेशी कपडा नही बेचेगा। उसका व्यापार समाजोपकारक होगा। खुदको भूलकर अपने आसपासके समाजसे समरस होनेवाले कर्मयोगी जिस समाजमे पैदा होते है, उसमे सुव्यवस्था समृद्धि व सौमनस्य रहते है।

कर्मयोगीके कर्मके फलस्वरूप उसकी शरीर-यात्रा चलकर देह व बुद्धि सतेज रहते है और समाजका भी कल्याण होता है। इन दो फलोंके अलावा चित्त-शुद्धिका महान् फल उसे मिलता है। 'कर्मणा शुद्धि' ऐसा कहा गया है। कर्म चित्त-शुद्धिका साधन है। परतु वह सब लोगोका मामूली कर्म नही है। कर्मयोगी जो अभिमन्त्रित कर्म करता है उससे चित्त-शुद्धि होती है। महाभारतमे तुलाधार वैश्यकी कथा है! जाजलि नामक एक ब्राह्मण तुलाधारके पास ज्ञान-प्राप्तिके लिए जाता है। तुलाधार उससे कहता है—"भैया, इस तराजूकी डडीको सदा सीधा रखना पडता है।" इस बाह्यकर्मको करते हुए तुलाधारका मन भी सीधा सरल हो गया। छोटा बच्चा दुकानमे आजाय या जवान आदमी, उसकी डडी सबके लिए एक-सी रहती है, न ऊची न नीची। उद्योगका मन पर भी परिणाम होता है। कर्मयोगीके कर्मको एक प्रकारका जप ही समझो। उससे उसकी चित्त-शुद्धि होती है और निर्मल चित्तमे ज्ञानका प्रतिबिब पडता है। अपने भिन्न-भिन्न कर्मोंसे कर्मयोगी अतको ज्ञान प्राप्त करते हैं। तराजूकी डडीसे तुलाधारको समवृत्ति मिली। सेना नाई बाल बनाया करता था। दूसरोके सिरका मैल निकालते-निकालते उसे ज्ञान हुआ—"देखो, मैं दूसरोके सिरका तो मैल निकालता हू, परतु क्या खुद कभी अपने सिरका, अपनी बुद्धिका भी मैल मैने निकाला है?" ऐसी आध्यात्मिक भाषा उसे

उस कर्मसे सूझने लगी। खेतका कचरा निकालते-निकालते कर्मयोगीको खुद अपने हृदयकी वासना-विकार-रूपी कचरा निकालनेकी बुद्धि उपजती है। कच्ची मिट्टीको रौंद-रौंदकर समाजको पक्की हंडिया देनेवाला गोरा कुम्हार उससे यह शिक्षा लेता है कि मुझे अपने जीवनकी भी हंडिया पक्की बना लेनी चाहिए। इस तरह वह हाथमे थपकी लेकर 'हंडिया कच्ची है या पक्की' यो सतोकी परीक्षा लेनेवाला परीक्षक बन जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि कर्मयोगी जिन-जिन कर्मोको या धन्धोको करता है उनकी भाषामे से ही उसे भव्य ज्ञान प्राप्त हुआ है। वे कर्म क्या थे, उनकी अध्यात्म-शाला ही थे। उनके वे कर्म उपासनामय, सेवामय थे। वे दीखनेमे वैसे व्यावहारिक ही दीखते थे, परतु भीतरसे वे वास्तवमें आध्यात्मिक थे।

कर्मयोगीके कर्मसे एक और भी उत्तम फल मिलता है, और वह है समाजको एक आदर्शका मिलना। समाजमे यह भेद तो हुई है कि यह पहले जन्मा है, व यह बादको। जिनका जन्म पहले हुआ है उनके जिम्मे बादमे पैदा होने वालोके लिए उदाहरण बन जानेका काम रहता है। बडे भाई पर छोटे भाईको, मा-बाप पर बेटा-बेटीको, नेता पर अनुयायियोको, गुरु पर शिष्यको अपनी कृतिके द्वारा अपना उदाहरण पेश करनेकी जिम्मेदारी है। ऐसा उदाहरण कर्मयोगियोके सिवा और कौन उपस्थित कर सकता है।

कर्मयोगी सदैव कर्म-रत रहता है, क्योकि कर्ममे ही उसे आनद मालूम होता है। इससे समाजमे दभ-ढोग नही बढता। कर्मयोगी खुद यद्यपि स्वय-तृप्त होता है, तो भी कर्म किये बिना उससे रहा नही जाता। तुकाराम कहते है—"भजनसे भगवान् मिल गया तो क्या इसलिए मै भजन छोड दू। भजन तो अब हमारा सहज धर्म हो गया।"

पहले जोड़ा संत संग। तुका हुआ पांडुरंग।
भजनका तांता टूटे क्यो? मूल स्वभाव छूटे क्यो?

कर्मकी सीढीसे चढकर शिखर तक पहुच गये। परतु कर्मयोगी तब भी सीढी नही छोडता। वह उससे छूट ही नही सकती। उसकी

इंद्रियोको उन कर्मोंको करनेकी ऐसी आदत ही पड़ जाती है। इस तरह स्वधर्म-कर्म-रूपी सेवाकी सीढ़ीका महत्त्व वह समाजको जंचाता रहता है।

समाजसे ढोंगका मिटना बहुत ही बडी चीज है। ढोंग-पाखंडसे समाज डूब जाता है। ज्ञानी यदि खामोश बैठ जाय, तो उसे देखकर दूसरे भी हाथपर हाथ रखकर बैठने लगेंगे। ज्ञानी तो नित्य-तृप्त होनेके कारण आतरिक सुखमें तल्लीन रहकर खामोश रहेगा। परतु दूसरा मनुष्य भीतरसे रोता हुआ भी कर्म-शून्य हो जायगा। एक अतस्तृप्त होकर स्वस्थ है, तो दूसरा मनमें कुढता हुआ भी स्वस्थ है। ऐसी स्थिति भयानक है। इससे दभ, पाखड बढेगा। अत. सारे संत शिखर पर पहुचकर भी साधनका पल्ला बडी सतर्कतासे पकडे रहे, आमरण स्वकर्म करते रहे। माता बच्चोके गुड्डे-गुड्डीके खेलोमे रस लेती है। वह यह समझते हुए भी कि ये बनावटी है, उनके खेलोमें शरीक होकर उनमें रुचि उत्पन्न करती है। मा यदि उन खेलोमे शरीक न हो, तो बच्चोको उसमें मजा नही आयगा। कर्मयोगी तृप्त होकर कर्म छोड देगा तो दूसरे अतृप्त रहते हुए भी कर्म छोड देंगे, हालाकि मनमें भूखे व निरानद रहेंगे।

अत कर्मयोगी मामूली आदमीकी तरह ही कर्म करता रहता है। वह यह नही मानता कि मै कोई विशेष मनुष्य हू। औरोकी अपेक्षा अनत गुना परिश्रम वह करता है। अमुक कर्म पारमार्थिक है ऐसी छाप लगानेकी जरूरत नही है। कर्मका विज्ञापन करनेकी जरूरत नही है; यदि तुम उत्कृष्ट ब्रह्मचारी हो, तो अपने कर्ममें औरोकी अपेक्षा सौ गुना उत्साह दीखने दो। कम खाना मिलनेपर भी तिगुना काम होने दो; समाजकी सेवा अपने द्वारा अधिक होने दो। अपना ब्रह्मचर्य अपने आचार-व्यवहारमें दिखने दो। चदनकी सुगध बाहर फैलने दो।

सार यह है कि कर्मयोगी फलकी इच्छा छोडनेसे ऐसे अनंत फल प्राप्त करेगा, उसकी शरीर-यात्रा चलती रहेगी, शरीर व बुद्धि सतेज रहेंगे। जिस समाजमें वह विचरेगा वह समाज सुखी होगा। उसकी चित्त-शुद्धि होकर ज्ञान भी मिलेगा। और समाजसे ढोग, पाखंड मिटकर जीवन-का पवित्र आदर्श हाथ लगेगा। कर्मयोगकी यह अनुभव-सिद्ध महिमा है।

(१३)

कर्मयोगी अपना कर्म औरोकी अपेक्षा उत्कृष्ट रीतिसे करेगा। क्योकि उसके लिए कर्म ही उपासना है, कर्म ही पूजा-विधान है। मैंने भगवान्का पूजन किया। फिर पूजाका नैवेद्य प्रसादके रूपमे पाया। परतु क्या यह नैवेद्य उस पूजाका फल है ? जो नैवेद्यके लिए पूजन करेगा उसे प्रसादका अश तो तुरत मिलेगा ही। परतु जो कर्मयोगी है वह अपने पूजा-कर्मके द्वारा परमेश्वर-दर्शन-रूपी फल चाहता है। वह उस कर्मकी कीमत इतनी थोडी नही समझता कि सिर्फ प्रसाद ही मिल जाय। वह अपने कर्मकी कीमत कम आकनेके लिए तैयार नही है। स्थूल नापसे वह अपने कर्मोको नही नापता। जिसकी स्थूल दृष्टि है उसे फल भी स्थूल ही मिलेगा। खेतीकी एक कहावत है—'गहरा बो पर गीला बो'। महज गहरे जोतनेसे काम नही चलेगा, नीचे तरी भी होनी चाहिए। गहराई व तरी दोनो होगी तो दाना बडा मनके बराबर पडेगा। अत कर्म गहरा अर्थात् उत्कृष्ट होना चाहिए। फिर उसमे ईश्वर-भक्ति, ईश्वर-परायणता-रूपी तरी भी होनी चाहिए। कर्मयोगी गहरा कर्म करके उसे ईश्वरार्पण कर देता है।

परमार्थके संबधमे कुछ वाहियात कल्पनाए हमारे अदर फैल गई है। लोग समझते है कि जो परमार्थी हो गया उसे हाथ-पाव हिलानेकी जरूरत नही, काम-काज करनेकी जरूरत नही। कहते है, जो खेती करता है, खादी बुनता है वह कहाका परमार्थी ? परतु कोई यह नही पूछता कि जो भोजन करता है वह कैसा परमार्थी ? कर्मयोगियोका परमेश्वर तो कही घोडोको खुर्रा करता है, राजसूय यज्ञके समय जूठी पत्तले उठाता है, जगलमे गाये चराने जाता है, वह द्वारकानाथ यदि फिर कभी गोकुल-मे गया तो ठुमक-ठुमक चलकर बसी बजाते हुए गाये चरावेगा। सो सतोने तो घोडोको खुर्रा करनेवाला, रथ हाकनेवाला, पत्तल उठानेवाला, लीपनेवाला, कर्मयोगी परमेश्वर खडा किया है और खुद भी कोई दरजीका, तो कोई कुम्हारका, कोई बुनाईका, तो कोई मालीका, कोई धान कूटने-पीसनेका, तो कोई बनियेका, कोई नाईका, तो कोई ढोर घसीटनेका काम करते-करते मुक्त पदवीको प्राप्त हुए है।

ऐसे इस दिव्य कर्मयोगके व्रतसे मनुष्य दो कारणोसे डिगता है। इस सिलसिलेमे हमे इद्रियोका विशिष्ट स्वभाव--खासियत--ध्यानमें रखना चाहिए। हमारी इद्रिया सदैव--'यह चाहिए और वह नही चाहिए'--ऐसे द्वदोसे घिरी रहती है। जो चाहिए उसके लिए राग अर्थात् प्रीति, और जो न चाहिए उसके प्रति मनमे द्वेष उत्पन्न होता है। ऐसे ये राग-द्वेष, काम-क्रोध मनुष्यको नोच-नोचकर खाते हैं। कर्म-योग वैसे कितना बढिया, कितना रमणीय, कितना अनत फलदायी है! परंतु ये काम-क्रोध 'इसे ले व इसे छोड़' ऐसा झगडा हमारे गले बाधकर दिन-रात हमारे पीछे पड़े रहते है। अतः भगवान् इस अध्यायके अंतमें खतरें-की घटी बजाते है कि इनका सग छोडो, इनसे बचो। स्थित-प्रज्ञ जिस प्रकार सयमकी मूर्त्ति होता है उसी प्रकार कर्मयोगीको बनना चाहिए।

चौथा अध्याय

रविवार, १३-३-३२

(१४)

भाइयो, पिछले अध्यायमे हमने निष्काम कर्मयोगका विवेचन किया है। स्वधर्मको टालकर यदि हम अवान्तर धर्म स्वीकार करेगे, तो निष्कामता-रूपी फलको अशक्य ही समझो। स्वदेशी माल बेचना व्यापारका स्वधर्म है। परतु इस स्वधर्मको छोडकर जब वह सात समुदर पारका विदेशी माल बेचने लगता है, तब उसके सामने यही हेतु रहता है कि बहुतेरा नफा मिले। तो फिर उस कर्ममे निष्कामता कहासे आयगी ? अतएव कर्मको निष्काम बनानेके लिए स्वधर्म-पालनकी अत्यत आवश्यकता है। परतु यह स्वधर्माचरण भी सकाम हो सकता है। अहिंसाकी ही बात हम ले। जो अहिंसाका उपासक है उसके लिए हिसा तो वर्ज्य है। परतु यह सभव है कि ऊपरसे अहिंसक होते हुए भी वह वास्तवमे हिसामय हो। क्योकि हिंसा मनका एक धर्म है। महज बाहरसे हिंसा-कर्म न करनेसे ही मन अहिंसामय हो जायगा सो बात नही। तलवार हाथमे लेनेसे हिंसा-वृत्ति अवश्य प्रकट होती है। परतु तलवार छोड देनेमे यह जरूरी नही है कि मनुष्य अहिंसामय हो गया। ठीक ऐसी ही बात स्वधर्माचरणकी है। निष्कामताके लिए पर-धर्मसे तो बचना ही होगा। परतु यह तो निष्कामताका आरभ-मात्र हुआ। इससे हम साध्य तक नही पहुच गये।

निष्कामता मनका धर्म है। इसकी उत्पत्तिके लिए एक स्वधर्माचरण रूपी साधन ही काफी नही है। दूसरे साधनोका भी सहारा लेना पडेगा। अकेली तेल-बत्तीसे दिया नही जल जाता। उसके लिए ज्योतिकी जरूरत होती है। ज्योति होगी तो ही अधेरा दूर होगा। यह ज्योति कैसे जगावें ? इसके लिए मानसिक सशोधनकी जरूरत है। आत्म-परीक्षण के

द्वारा चित्तकी मलिनता---कूड़ा-कचरा धो डालना चाहिए। तीसरे अध्यायके अंतमें यही मार्केकी बात भगवान्ने बताई थी। उसीमेंसे चौथे अध्यायका जन्म हुआ है।

गीतामें 'कर्म' शब्द 'स्वधर्म' के अर्थमें व्यवहृत हुआ है। हमारा खाना, पीना, सोना, ये कर्म ही हैं, परतु गीताके 'कर्म' शब्दसे ये सब क्रियाएं सूचित नही होती हैं। कर्मसे वहा मतलब स्वधर्माचरणसे है। परन्तु इस स्वधर्माचरण-रूपी कर्मको करके निष्कामता प्राप्त करनेके लिए और भी एक वस्तुकी सहायता जरूरी है। वह है काम व क्रोधको जीतना। चित्त जब तक गगाजलकी तरह निर्मल व प्रशात न हो जाय तबतक निष्कामता नही आ सकती। इस तरह चित्त-सशोधनके लिए जो-जो कर्म किये जायं उन्हें गीता 'विकर्म' कहती है। कर्म, विकर्म व अकर्म ये तीन शब्द चौथे अध्यायमें बडे महत्त्वके हैं। कर्मका अर्थ है स्वधर्माचरणकी बाहरी---स्थूल क्रिया। इस बाहरी क्रियामें चित्तको लगाना ही विकर्म है। बाहरसे हम किसीको नमस्कार करते है, परतु उस बाहरी सिर झुकानेकी क्रियाके साथ ही यदि भीतरसे मन भी न झुकता हो तो बाह्य-क्रिया व्यर्थ है। अतर्बाह्य---भीतर व बाहर---दोनो एक होना चाहिए। बाहरसे मैं शिव-पिंडपर सतत जल-धारा छोड़कर अभिषेक करता हू। परतु इस जल-धाराके साथ ही यदि मानसिक चिंतनकी धार भी अखड न चलती रहती हो तो उस अभिषेकको क्या कीमत रही? ऐसी दशामें वह शिव-पिंड भी पत्थर व मैं भी पत्थर ही। पत्थरके सामने पत्थर बैठा---यही उसका अर्थ होगा। निष्काम कर्मयोग तभी सिद्ध होता है जब हमारे बाह्य कर्मके साथ अदरसे चित्त-शुद्धि रूपी कर्मका भी संयोग हो।

'निष्काम कर्म' इस शब्द-प्रयोगमे 'कर्म'-पदकी अपेक्षा 'निष्काम' पदको ही अधिक महत्त्व है। जिस तरह 'अहिंसात्मक असहयोग' शब्द प्रयोगमे असहयोगकी बनिस्बत अहिंसात्मक विशेषणको ही अधिक महत्त्व है। अहिसाको दूर हटाकर यदि केवल असहयोगका अवलबन करेंगे तो वह एक भयकर चीज बन सकती है। उसी तरह स्वधर्माचरण रूपी कर्म करते हुए यदि मनका विकर्म उसमें नहीं जुड़ा है तो उसे धोखा समझना चाहिए।

आज जो लोग सार्वजनिक सेवा करते है वे स्वधर्मका ही आचरण करते है। जब लोग गरीब, कंगाल, दु खी व मुसीबतमे होते हैं तब उनकी सेवा करके उन्हे सुखी बनाना प्रवाह-प्राप्त धर्म है। परतु इससे यह अनुमान न कर लेना चाहिए कि जितने भी लोग सार्वजनिक सेवा करते है वे सब कर्मयोगी हो गये है। लोक-सेवा करते हुए यदि मनमे शुद्ध भावना न हो, तो उस लोक-सेवाके भयानक होनेकी सभावना है। अपने कुटुबकी सेवा करते हुए जितना अहकार, जितना द्वेष-मत्सर, जितना स्वार्थ आदि विकार हम उत्पन्न करते है उतने सब लोक-सेवामे भी हम उत्पन्न करे। और इसका प्रत्यक्ष दर्शन हमे आजकलकी लोक-सेवा मडलियोके जमघटमे दिखाई भी दे जाता है।

(१५)

कर्मके साथ मनका मेल होना चाहिए। इस मनके मेलको ही गीता 'विकर्म' कहती है। बाह्य कर्म यानी सामान्य कर्म, और यह आंतरिक कर्म यानी विशेष कर्म अपनी-अपनी मानसिक जरूरतके अनुसार जुदा-जुदा होता है। विकर्मके ऐसे अनेक प्रकार, नमूनेके तौरपर, चौथे अध्यायमे बताये गये है। उसीका विस्तार आगे छठे अध्यायमे किया गया है। इस विशेष कर्मका, इस मानसिक अनुसधानका, योग जब हम करेगे तभी उसमे निष्कामताकी ज्योति जगेगी। कर्मके साथ जब विकर्म मिलता है तो फिर धीरे-धीरे निष्कामता हमारे अदर आती रहती है। यदि शरीर व मन ये जुदा-जुदा चीजे है तो साधन भी दोनोके लिए जुदा-जुदा ही होगे। जब इन दोनोका मेल बैठ जाता है तो साध्य हमारे हाथ लग जाता है। मन एक तरफ और शरीर दूसरी तरफ ऐसा न हो जाय, इसलिए शास्त्रकारोने दुहेरा मार्ग बताया है। भक्तियोगमे बाहरसे तप व भीतरसे जप बताया है। उपवास आदि बाहरी तपके चलते हुए यदि भीतरसे मानसिक जप न हो, तो वह सारा तप फिजूल गया। तप सबधी मेरी भावना सतत सुलगती, जगमगाती रहनी चाहिए। उपवास शब्दका अर्थ ही है भगवानके पास बैठना। इसलिए कि परमात्माके नजदीक हमारा चित्त रहे, बाहरी भोगोका दरवाजा बद करनेकी जरूरत है। परतु बाहरसे विषयभोगोको

छोड़कर यदि मनमे भगवान्‌का चिंतन न होता, तो फिर इस बाहरी उपवासकी क्या कीमत रही ? ईश्वरका चिंतन न करते हुए यदि उस समय खाने पीनेकी चीजोका चिंतन करे तो फिर वह बडा ही भयकर भोजन हो गया। यह जो मनसे भोजन हुआ, मनमे जो विषय-चिंतन रहा, इससे बढकर भयकर वस्तु दूसरी नही। तत्रके साथ मत्र होना चाहिए। कोरे बाह्यतंत्रका कोई महत्त्व नही है। और न केवल कर्महीन मंत्रका भी कोई मूल्य है। हाथमे भी सेवा हो व हृदयमे भी सेवा हो। तभी सच्ची सेवा हमारे हाथो बन पडेगी।

यदि बाह्य कर्ममे हृदयकी आर्द्रता न रही, तो वह स्वधर्माचरण रूखा-सूखा रह जायगा। उसमे निष्कामता रूपी फूल-फल नही लगेंगे। फर्ज कीजिए कि हमने किसी रोगीकी सेवा-शुश्रुषा शुरू की। परंतु उस सेवा-कर्मके साथ यदि मनमे कोमल दया-भाव न हो तो वह रुग्ण-सेवा नीरस मालूम होगी व उससे जी ऊब उठेगा। वह एक बोझ मालूम देगी। रोगीको भी वह सेवा एक बोझ मालूम पडेगी। उसमें यदि मनका सहयोग न हो तो उसमे अहकार पैदा होगा। 'मैने आज उसका काम किया है, उसे जरूरतके वक्त मेरी सहायता करनी चाहिए। मेरी तारीफ करनी चाहिए। मेरा गौरव करना चाहिए।'—आदि अपेक्षाए मनमे उत्पन्न होगी। अथवा हम त्रस्त होकर कहेगे—हम इसकी इतनी सेवा करते है, फिर भी यह बड-बडाता रहता है। बीमार आदमी वैसे ही चिडचिडा रहता है। उसके ऐसे स्वभावसे ऐसा सेवक जिसके मनमे सच्चा सेवा-भाव नही होता, उकता जायगा।

कर्मके साथ जब आतरिक भावका मेल हो जाता है, तो वह कर्म कुछ और ही हो जाता है। तेल और बत्तीके साथ जब ज्योतिका मेल होता है, तो प्रकाश उत्पन्न होता है। कर्मके साथ विकर्मका मेल हुआ, तो निष्कामता आती है। बारूदमे बत्ती लगानेसे धडाका होता है। उस बारूदमे एक शक्ति उत्पन्न होती है। कर्मको बदूककी बारूदकी तरह समझो। उसमे विकर्मकी बत्ती या आग लगी कि काम हुआ। जबतक विकर्म आकर नही मिलता तबतक वह कर्म जड है। उसमे चैतन्य नही। एक बार जहा विकर्मकी चिनगारी उसमे गिरी कि फिर

उस कर्ममे जो सामर्थ्य पैदा होता है वह अवर्णनीय है। चिमटी भर बारूद जेबमें पड़ी रहती है, हाथमें उछलती रहती है, पर जहा उसमें बत्ती लगी कि शरीरके टुकडे-टुकडे हुए। स्वधर्माचरणका अनत सामर्थ्य इसी तरह गुप्त रहता है। उसमें विकर्मको जोडिये, तो फिर देखिये कि कैसे-कैसे बनाव-बिगाड होते है। उसके स्फोटसे अहकार, काम, क्रोधके प्राण उड़ जायगे व उसमेसे उस परम-ज्ञानकी निष्पत्ति हो जायगी।

कर्म ज्ञानका पलीता है। एक लकडीका बडा-सा टुकड़ा कही पडा है। उसे आप जला दीजिए। वह जगमग अगार हो जाता है। उस लकड़ी और उस आगमे कितना अतर है? परतु उस लकडीकी ही वह आग होती है। कर्ममें विकर्म डाल देनेसे, कर्म दिव्य दिखाई देने लगता है। मा बच्चेकी पीठपर हाथ फेरती है। एक पीठ है, जिसपर एक हाथ यो ही इधर-उधर फिर गया। परतु इस एक मामूली कर्मसे उन मा-बच्चेके मनमें जो भावनाए उठी, उनका वर्णन कौन कर सकेगा? यदि कोई ऐसा समीकरण बिठाने लगेगा कि इतनी लबी-चौडी पीठपर इतने वजनका एक मुलायम हाथ फिराइये तो इससे वह आनद उत्पन्न होगा, तो एक दिल्लगी ही होगी। हाथ फिरानेकी यह क्रिया बिल्कुल क्षुद्र है, परतु उसमे माका हृदय उडेला हुआ है। वह विकर्म उडेला हुआ है। इसीसे वह अपूर्व आनद प्राप्त होता है। तुलसी रामायणमे एक प्रसग आया है। राक्षसोसे लडकर बदर आते है। वे जख्मी हो गये है। बदनमेसे खून बह रहा है। परतु प्रभु रामचद्रके एक बार प्रेम-पूर्वक दृष्टिपात-मात्र से उन बदरोकी वेदना काफूर हो गई। अब यदि दूसरे मनुष्यने रामकी उस समय की आख व दृष्टिका फोटो लेकर किसीकी ओर उतनी आखे फाडकर देखा होता तो क्या उसका वैसा प्रभाव पडा होता? वैसा करनेका यत्न करना हास्यास्पद है।

कर्मके साथ जब विकर्मका जोड मिल जाता है, तो शक्ति-स्फोट होता है और उसमेसे अकर्म निर्माण होता है। लकड़ी जलनेपर राख हो जाती है। पहलेका वह इतना बडा लकडीका टुकडा पर अतको चिमटी भर बेचारी राख रह जाती है। खुशीसे उसे हाथमें ले लीजिए। और सारे बदनपर मल लीजिए। इस तरह कर्ममे विकर्मकी ज्योति जला

देनेसे अंतमें अकर्म हो जाता है। कहां लकड़ी व कहां राख ? क· केन सबधः ! उनके गुण-धर्मोंमें अब बिलकुल साम्य नही रह गया। परंतु इसमें कोई शक नहीं है कि वह राख उस लकड़ीके डूडकी ही है।

कर्ममें विकर्म उंडेलनेसे अकर्म होता है। इसका अर्थ क्या ? इसका अर्थ यह कि ऐसा मालूम ही नही होता कि कोई कर्म किया है। उस कर्मका बोझा नही मालूम होता। करके भी अकर्त्ता होते हैं। गीता कहती है कि मारकर भी तुम मारते नहीं। मा बच्चेको पीटती है, इसलिए तुम तो उसे पीटकर देखो। तुम्हारी मार बच्चा नही सहेगा। मा मारती है, फिर भी वह उसके अचलमे मुह छिपाता है। क्योकि माके बाह्य कर्ममें चित्त-शुद्धिका मेल है। उसका यह मारना-पीट्ना निष्काम भावसे है। उस कर्ममे उसका स्वार्थ नही है। विकर्मके कारण, मनकी शुद्धिके कारण, कर्मका कर्मत्व उड जाता है। रामकी वह दृष्टि, आतरिक विकर्मके कारण, महज प्रेम-सुधा-सागर हो गई थी। परत् रामको उस कर्मका कोई श्रम नही हुआ था। चित्त-शुद्धिसे किया कर्म निर्लेप रहता है। उसका पाप-पुण्य कुछ बाकी नही रहता।

नही तो कर्मका कितना बोझ, कितना जोर हमारी बुद्धि व हृदयपर पड़ता है। यदि यह खबर आज दो बजे उडी कि कल ही सारे राजनैतिक कैदी छूट जानेवाले हैं तो फिर देखो कैसी भीड़ चारो ओर हो जाती है। चारों ओर हलचल व गडबड़ मच जाती है। हम कर्मके अच्छे-बुरे होनेकी वजहसे मानो व्यग्र रहते है। कर्म हमको चारो ओरसे घेर लेता है। मानो कर्मने हमारी गर्दन धर दबाई है। जिस तरह समुद्रका प्रवाह जोरसे जमीनमे धंसकर खाडिया बना देता है उसी तरह कर्मकी यह फौज चित्तमें घुसकर क्षोभ निर्माण करती है। सुख-दुखके द्वंद्व निर्माण होते हैं। सारी शाति नष्ट हो जाती है। कर्म हुआ और होकर चला भी गया, परन्तु उसका वेग बाकी बच ही रहता है। कर्म चित्तपर हावी हो जाता है। फिर उसकी नीद हराम हो जाती है।

परतु ऐसे इस कर्ममें यदि विकर्मको मिला दिया, तो फिर आप चाहे जितने कर्म करें तो भी उसका श्रम या बोझ नहीं मालूम होता। मन ध्रुवकी

तरह शात, स्थिर व तेजोमय बना रहता है। कर्ममे विकर्म डाल देनेसे वह अकर्म हो जाता है। मानो कर्मको करके फिर उसे पोछ दिया हो।

(१६)

यह कर्मका अकर्म कैसे होता है ? यह कला किसके पास मिलेगी ? सतोके पास। इस अध्यायके अतमे भगवान् कहते है—"सतोंके पास जाकर बैठो व उनसे शिक्षा लो।" कर्मका अकर्म कैसे हो जाता है, इसका वर्णन करनेमे भाषाका अत आ जाता है। उसका सही खयाल लाना हो तो सतोके पास जाना चाहिए। परमेश्वरका वर्णन भी तो है—

"शान्ताकारं भुजगशयनम्"

परमेश्वर हजार फणोके शेषनाग पर सोते हुए भी शात है। इसी तरह सत हजारो कर्म करते हुए भी रत्ती भर क्षोभ-तरग अपने मानस सरोवरमे नही उठने देते। यह खूबी सतोके गाव गये बिना समझमे नहीं आ सकती।

वर्तमान कालमे पुस्तके बहुत सस्ती हो गई है। एक-एक दो-दो आनेमे गीता, 'मनाचे श्लोक'[1], आदि मिल जाते है। गुरुओकी भी कमी नही। शिक्षा उदार व सस्ती है। विद्यापीठ तो मानो ज्ञानकी खैरात ही बाटते है। परतु ज्ञानामृत-भोजनकी डकार किसीको नही आती। पुस्तकोके इस पहाडको देखकर सत-सेवाकी जरूरत दिन-पर-दिन ज्यादा दिखाई देने लगी है। पुस्तकोकी मजबूत कपडेकी जिल्दके बाहर ज्ञान नही आता। ऐसे अवसरपर मुझे एक अभग हमेशा याद आ जाया करता है।

"काम क्रोधके खडे है पहाड़ ,
रहा है अनंत पल्ले पार।"

काम-क्रोध रूपी पहाडोके परले पार नारायण रहता है। उसी तरह इन पुस्तकोकी राशिके पीछे ज्ञान-राजा छिपा बैठा है। पुस्तकालयो व ग्रथालयोके चारो ओर छाजानेपर भी अभी तक मनुष्य सब जगह सस्कार-हीन

[1] समर्थ रामदास-कृत मराठी पुस्तक।

व ज्ञान-हीन बदर ही दिखाई देता है। बडौदामे बहुत बडी लाइब्रेरी है। एक बार एक सज्जन एक बडी-सी पुस्तक लेकर जा रहे थे। उसमें तस्वीरे थी। वे यह समझकर ले जा रहे थे कि वह अग्रेजी पुस्तक है। मैंने पूछा --"कौन सी पुस्तक है?" उन्होने पुस्तक आगे बढा दी। मैंने कहा-- "यह तो फ्रेंच है," तो उन्होने कहा--"अच्छा फ्रेच आ गई?" परम पवित्र रोमन लिपि, बढिया तस्वीरें, सुदर जिल्द, फिर ज्ञानकी क्या कमी रही?

अग्रेजीमे हर साल कोई दस हजार नई किताबे तैयार होती है। यही हाल दूसरी भाषाओका समझिए। ज्ञानका यह इतना प्रसार होते हुए भी मनुष्यका दिमाग अबतक खोखला ही कैसे बना हुआ है? कोई कहते है, स्मरणशक्ति कमजोर हो गई है। कोई बताते है, एकाग्रता नही होती। कोई जवाब देते है कि जो कुछ पढते है सब ही सच मालूम होता है। और कोई कहते है, अजी विचार करनेको फुरसत ही नही मिलती। श्रीकृष्ण कहते है--"अर्जुन, बहुत कुछ सुन-सुनाकर तुम्हारी बुद्धि चक्करमे पड गई है। वह जबतक स्थिर न होगी तबतक तुम्हे योग-प्राप्ति नही हो सकती। सुनना व पढना अब बन्द करके सतोकी शरण ले। वहासे जीवन-ग्रथ पढनेको मिलेगा। वहाका 'मौन व्याख्यान' सुनकर तू 'छिन्न-सशय' हो जायगा। वहा जानेसे तुम्हे मालूम हो जायगा कि एक-सा सेवा-कर्म करते हुए भी मन कैसे अत्यन्त शात रह सकता है, बाहरसे कर्मका जोर रहते हुए भी हृदयमे कैसे अखड सगीत रूपी सितार लगाई जा सकती है।"

पांचवां अध्याय

रविवार, २०-३-३२

(१७)

ससार बडी भयानक वस्तु है। बहुत बार उसे समुद्रकी उपमा देते है। समुद्रमे जहा देखिए तहा पानी-ही-पानी दिखाई देता है। वही हाल ससारका है। जिधर देखो उधर ससार हरा-ही-भरा दीख पडता है। कोई यदि घर-बार छोडकर सार्वजनिक सेवामे लग जाता है तो वहा भी उसके मनमे ससार अपना पडाव डाले बैठा ही मिलता है। कोई यदि गुफामे जाकर बैठ जाय तो भी, उसके बित्ते भर लगोटीमें, संसार श्रोत-प्रोत भरा रहता है। वह लगोटी उसकी ममताका सार-सर्वस्व बन बैठती है। जैसे छोटे-से नोटमे हजार रुपये भरे रहते है, वैसे ही उस छोटी-सी लगोटीमे भी अपार आसक्ति भरी रहती है। घर-जजाल तोड दिया, विस्तार कम कर दिया इतनेसे ससार कम नही हो जाता। $\frac{१०}{२५}$ कहो या $\frac{२}{५}$ कहो, दोनोका मतलब एक ही है। चाहे घरमे रहो या जगलमे, आसक्ति तो पास ही बनी रहती है। ससार लेशमात्र भी कम नही होता। दो योगी भले ही हिमालयकी गुफामे जाकर बैठ जाय, पर वहा भी एक-दूसरेकी कीर्त्ति उनके कानोमे पड गई तो वे जल-भुन जायगे। सार्वजनिक सेवाके क्षेत्रमे भी ऐसा ही दृश्य दिखाई दे जाता है।

इस प्रकार यह ससार-प्रपच हाथ धोकर हमारे पीछे पडा हुआ होनेसे स्वधर्माचरणकी मर्य्यादामे रहते हुए भी ससारसे पिंड नही छूटता। बहुतेरा उखाड-पछाड करना छोड दिया, और झझटे भी कम कर दी व अपना ससार प्रपच भी नाम-मात्रका रख दिया तो भी वहा ममत्व पीछा नही छोडता। राक्षस जैसे कभी छोटे हो जाते है व कभी बडे, वैसे ही यह ससार अपना रूप बनाता है। छोटे हो या बडे, आखिर वे है तो राक्षस ही। ऐसे ही दुर्निवारत्व चाहे महलोमें हो या झोपड़ी मे, है एक-सा ही।

स्वधर्मका बंधन डालकर यद्यपि संसारको समतोल रखा, तो भी वहा अनेक झगड़े पैदा हो जायगे और तुम्हारा जी वहासे ऊब उठेगा। वहा भी अनेक संस्था व अनेक व्यक्तियोमे तुम्हारा सबध बधेगा और तुम उकता उठोगे। तुम कहने लगोगे—कहा इस आफतमें आ फसा! लेकिन तुम्हारा मन कसौटी पर भी तभी चढेगा। केवल स्वधर्माचरणको अपनानेसे ही अलिप्तता नही आजाती। कर्मकी व्याप्तिको कम करना अलिप्त होना नही है।

तो फिर अलिप्तता कैसे प्राप्त हो? उसके लिए मनोमय प्रयत्न होना चाहिए। मनका सहयोग जबतक न हो तबतक कोई भी बात सिद्ध नही हो सकती। मा-बाप किसी सस्थामें अपना लडका भेज देते है। वह वहा सवेरे उठता है, सूर्य-नमस्कार करता है। चाय नही पीता। परतु घर आते ही दो-चार दिनोमे वह सब कुछ छोड देता है। ऐसे अनुभव हमे होते है। मनुष्य कुछ मिट्टीका ढेला तो है नही। उसके मनको हम जो आकार देना चाहते है वह उसके मनमें बैठना चाहिए न? मन यदि आकारमे नही बैठा, तो बाहरकी यह सारी तालीम व्यर्थ हो गई! इसलिए साधनमें मानसिक सहयोगकी बहुत आवश्यकता है।

साधनके रूपमें बाहरसे स्वधर्माचरण व भीतरसे विकर्म दोनों बातें चाहिए। बाह्य कर्मकी भी आवश्यकता है ही, कर्म किये बिना मनकी परीक्षा नही होती। प्रात कालके प्रशात समयमे हमें अपना मन अन्यत शात मालूम होता है। परतु जहा जरा बच्चा रोया नही कि हमारी उस मन:-शातिकी असली कीमत हमें मालूम हो जाती है। अत: कर्मको टालनेसे काम नही चलेगा। बाह्य कर्मोंसे हमारे मनका स्वरूप प्रकट होता है। पानी ऊपरसे साफ दीखता है। परतु उसमें पत्थर डालिये; तुरत ही अदरकी गदगी ऊपर तैर आवेगी। वैसी ही दशा हमारे मनकी है। मनके अत-सरोवरमें नीचे घुटनेभर गदगी जमा रहती है। बाहरी वस्तुसे उसका स्पर्श होते ही वह दिखाई देने लगती है। हम कहते हैं, उसे गुस्सा आगया; तो यह गुस्सा कही बाहरसे आ गया? वह तो अदर ही था। मनमें यदि न होता तो वह बाहर दिखाई ही न देता।

लोग कहते हैं—"सफेद खादी नही चाहिए वह मैली हो जाती है, रगीन खादी मैली नही होती ।" पर मैली तो वह भी होती है, हा, अलबत्ता मैली दिखाई नही देती । सफेद खादीकी मैल दीख जाती है । वह कहती है—"मै मैली हू मुझे धो डालो ।" यह मुहसे बोलनेवाली खादी लोगोको पसंद नही आती । इसी तरह हमारा कर्म भी बोलता है । कर्म यह बतला देता है कि आप क्रोधी है, स्वार्थी है, या और कुछ है । कर्म वह आइना है, जो हमारा स्वरूप हमे दिखा देता है । अत हमे कर्मका अहसानमंद होना चाहिए । आइनेमे यदि हमारा चेहरा मैला-कुचैला दिखाई दे तो क्या हम आइनेको फोड़ डालेंगे ? नही, उलटा उसका अहसान मानेंगे । मुह धो-धाकर फिर उसमे चेहरा देखेंगे । इसी तरह यदि कर्मकी बदौलत हमारे मनका पाप-दोष बाहर प्रकट हो जाता है तो क्या इसलिए हम कर्म-से बचना चाहेंगे ? कर्मसे ही यदि हम बचते रहे तो क्या उससे हमारा मन निर्मल हो जायगा ? अत कर्म करते रहे व निर्मल होनेका उत्तरोत्तर उद्योग करते रहे ।

कोई मनुष्य जाकर गुफामे बैठ गया । वहा उसका किसीसे भी सपर्क नही होता । वह समझने लगता है अब मैं बिलकुल शातमति हो गया, परतु गुफा छोडकर उसे किसीके यहा भिक्षा मागने जाने दीजिए । वहा कोई खिलाडी लडका दरवाजेकी साकल खटखटाता है । वह बालक तो उस नाद-ब्रह्ममे तल्लीन हो जाता है । परतु उस भोले-भाले बच्चेका वह साकल बजाना उस योगीको सहन नही होता । वह कहता है—"बच्चेने क्या खट-खट लगा रखी है ?" गुफामे रहकर उसने अपने मन को इतना कमजोर बना लिया है कि जरा-सा भी धक्का उसे सहन नही होता । जरा खट-खट आवाज आई कि बस उसकी शाति रफूचक्कर होने लगी । मनकी ऐसी दुर्बल स्थिति अच्छी नही ।

मतलब यह कि अपने मनका स्वरूप समझनेके लिए कर्म बड़े काम-की चीज है । तब दोष दिखाई देंगे तो वे दूर भी किये जा सकेंगे । यदि दोष मालूम ही न हो, तो प्रगति रुकी, विकास खतम । कर्म करेंगे तो दोष दिखाई देंगे । उन्हे दूर करनेके लिए विकर्मकी तजवीज करनी पडती है । भीतर जब ऐसे विकर्मके प्रयत्न रात-दिन जारी रहने लगे,

तो फिर स्वधर्मका आचरण करते हुए भी अलिप्त कैसे रहें, काम-क्रोधातीत लोभ-मोहातीत कैसे रहे, यह बात समय पाकर समझमें आ जायगी। कर्मको निर्मल रखनेका एक-सा प्रयत्न होने लगा तो फिर, आगे चलकर निर्मल कर्म अपने-आप होने लगेगा। निर्विकार कर्म जब एक के बाद एक सहजतासे होने लगते है, तो फिर सहसा यह पता नही लगता कि कर्म कब हो गया। जब कर्म सहज हो जाता है, तो वह अकर्म हो जाता है। सहज कर्मको ही अकर्म कहते हैं, यह हमने चौथे अध्यायमें देख लिया है। 'कर्मका अकर्म' कैसे होता है, सो सत चरणोमे बैठने से मालूम होगा यह भी भगवान्ने चौथे अध्यायके अखीरमे बना दिया है। इस 'अकर्मस्थिति' का वर्णन करनेके लिए वाणी काफी नही होती।

(१८)

कर्मकी सहजताको समझनेके लिए हम अपने परिचयका एक उदाहरण लें। छोटा बच्चा पहले चलना सीखता है। उस समय उसे कितनी तकलीफ होती है। किंतु हमे उसकी इस लीलासे आनद होता है, हम कहते हैं, देखो, लल्ला चलने लगा। परतु पीछे वही चलना सहज हो जाता है। वह चलता भी रहता है, व बातचीत भी करता रहता है। चलनेकी ओर ध्यान भी नही रहता। यही बात खानेके सबधमें। हम छोटे बच्चेको 'अन्नप्राशन' कराते है। मानो खाना कोई बडा काम हो। परतु पीछे वही खाना एक सहज कर्म हो जाता है। मनुष्य जब तैरना सीखता है तो कितना कष्ट होता है। पहले दम भर आता है, पर बादमे तो उलटे जब दूसरी मेहनतसे थक जाता है तो कहता है, चलो जरा तैर आवे तो थकान निकल जाय। अब वह तैरना कष्टकर नही मालूम होता। शरीर यो-ही सहज भावसे पानीपर तैरता रहता है। श्रमित होना मनका धर्म है। मन जब कर्मोमे व्यस्त रहता है तो श्रम मालूम होता है, परतु कर्म जब सहज होने लगते है, तो फिर उनका बोझ नही मालूम होता। कर्म मानो अकर्म हो जाता है। कर्म आनंदमय हो जाता है।

कर्मको अकर्म कर देना हमारा ध्येय है, इसके लिए स्वधर्माचरण-रूपी कर्म करना है। उन्हें करते हुए दोष नजर आवेंगे। उन्हे दूर करनेके

लिए विकर्मका पल्ला पकडना होगा। ऐसा अभ्यास करते रहनेसे मनकी फिर ऐसी स्थिति हो जाती है कि कर्ममें त्रास या कष्ट बिलकुल नही मालूम होता। हजारो कर्म हाथोसे होते रहनेपर भी मन निर्मल व शात रहता है। आप आकाशसे पूछिये, 'भाई आकाश, क्या तुम गरमीसे झुलस नही जाते, पानीसे भीग नही जाते ? सर्दीसे ठिठुर नही जाते ?' तो वह क्या जवाब देगा ? वह कहेगा—'मुझे क्या कुछ होता है, इसका फैसला तुम करो, मै कुछ नही जानता।'

"पागल नंगा है या पहने।
इसको लोग देखकर जानें॥"

पागल नगा है या कपडे पहने है इसका फैसला लोग करे, पागलको इसका कुछ पता नही रहता।

इसका भावार्थ यह है कि स्वधर्माचरण-सबधी कर्म, विकर्मकी सहायतासे निर्विकार बनानेकी आदत होते-होते स्वाभाविक हो जाते है। बडे-बडे विकट अवसर भी फिर मुश्किल नही मालूम होते । कर्मयोगकी यह ऐसी कुजी है। कुजी न हो, तो तालेको तोडते-तोडते हाथोमे छाले हो जायगे। परतु कुजी हाथ लग जानेपर पल भरमे सब कुछ खुल जायगा। कर्मयोगकी इस चाबीके कारण सब कर्म निरुपद्रवी मालूम होते है। यह कुजी मनोजयसे मिलती है। अत मनोजयका अविरत प्रयत्न होना चाहिए। कर्म करते हुए जो मनोमल दिखाई देगे उन्हे धो डालनेका प्रयत्न करना चाहिए। तो फिर बाह्यकर्मोंकी झझट नही मालूम होती। कर्मका अहकार ही मिट जाता है। काम-क्रोधके वेग नष्ट हो जाते है। क्लेशोका अनुभव तक नही होता। कर्मका भी भान बाकी नही रहता।

एक बार मुझे एक भले आदमीने पत्र लिखा—'अमुक सख्या रामनामका जप करना है। तुम भी इसमे शरीक होओ और बताओ कि रोज कितना जप करोगे।' वह शख्स अपनी बुद्धिके अनुसार उद्योग कर रहा था। उसे बुरा कहनेकी दृष्टिसे यह नही कह रहा हू। परतु राम-नाम कुछ गिनने या नापनेकी चीज नही है। मा बच्चेकी सेवा करती है, तो क्या वह उसकी रिपोर्ट छपाने जाती है ? यदि वह रिपोर्ट छपवाने लगी

तो 'थैंक्यू', कहकर उसके ऋणसे बरी हो सकेंगे, परंतु माता रिपोर्ट नहीं लिखती। वह तो कहती है—'मैंने क्या किया, मैंने कुछ नहीं किया। यह क्या कोई बोझ है ?' विकर्मकी सहायतासे मन लगाकर, हृदय उंडेल कर जब मनुष्य कर्म करता है तब वह कर्म रहता ही नही। अकर्म हो जाता है। वहा क्लेश, कष्ट, अटपटा जैसा कुछ नही रहता।

इस स्थितिका वर्णन नही किया जा सकता। एक धुधली-सी कल्पना कराई जा सकती है। सूर्य उगता है, पर उसके मनमें क्या कभी यह आता है कि मै अधेरा मिटाऊगा, पखियोंको उड़नेकी प्रेरणा करूंगा, लोगोको कर्म करनेमें प्रवृत्त करूगा! वह जहा उगता है, वहीं खड़ा रहता है। उसका अस्तित्व-मात्र ही विश्वको गति देता है। परतु सूर्यको उसका पता नही। आप यदि सूर्यसे कहेगे—'सूर्यदेव, आपके अनत उपकार हैं, आपने कितना अधेरा दूर कर दिया।' तो वह चक्करमें पड़ जायगा। कहेगा 'जरा-सा अंधेरा लाकर मुझे दिखाओ। यदि उसे मैं दूर कर सका तो मैं कहूगा कि यह मेरा कर्त्तव्य है।' अधेरा क्या सूर्यके पास ले जाया जा सकेगा? सूरजके अस्तित्वसे अधकार दूर होता होगा; उसके प्रकाशमें कोई सद्ग्रथ पढता होगा, तो कोई असद्ग्रंथ भी पढ लेगा, कोई आग लगा देगा, तो कोई किसीका भला कर रहा होगा। परतु इस पाप-पुण्यका जिम्मेदार सूर्य नही है। सूर्य कहता है—"प्रकाश मेरा सहज धर्म है। मेरे पास यदि प्रकाश न होगा तो फिर होगा क्या? मै जानता ही नही कि मैं प्रकाश दे रहा हू। मेरा होना ही प्रकाश है। प्रकाश देनेकी क्रियाका कष्ट मैं नही जानता। मुझे नही प्रतीत होता कि मैं कुछ कर रहा हू।"

सूर्यका यह प्रकाश-दान जैसा स्वाभाविक है, वैसा ही हाल संतोका है। उनका जीवित रहना ही मानो प्रकाश देना है। आप यदि किसी ज्ञानी मनुष्यसे कहें कि 'आप महात्मा सत्यवादी हैं' तो वह कहेगा—'मै यदि सत्यपर न चलू, तो करूंगा क्या? मै विशेष क्या करता हूं?' ज्ञानी पुरुषमें असत्यता हो ही नही सकती।

अकर्मकी यह ऐसी भूमिका है। साधन इतने नैसर्गिक व स्वाभाविक हो जाते हैं कि उनका आना-जाना मालूम ही नहीं पड़ता। इंद्रियां उनकी सहज आदी हो जाती है। 'सहज बोलना, हित उपदेश' वाली स्थिति

हो जाती है। जब ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाती है तब कर्म अकर्म हो जाता है। ज्ञानी पुरुषके लिए सत्कर्म सहज हो जाते हैं। किलकिलाते रहना पक्षियोंका सहज धर्म है। माकी याद आना बच्चोका सहज धर्म है। इसी तरह ईश्वरका स्मरण होना सतोका सहज धर्म हो जाता है। सुबह होते ही 'कुकड़ू कू' करना मुर्गेका सहज धर्म है। स्वरोका ज्ञान कराते हुए भगवान् पाणिनने मुर्गेकी ध्वनिका उदाहरण दिया है। पाणिनिके समयसे आज तक मुर्गा सुबह बोलता है, पर क्या इसके लिए उसे किसीने मान-पत्र अर्पण किया है? मुर्गेका वह सहज धर्म है। उसी तरह सच बोलना, भूतमात्रके प्रति दया, किसीका ऐब, खामी न देखना, सबकी सेवा-सुश्रूषा करना आदि सत्पुरुषोके कर्म सहज रूपसे होते रहते हैं। उनके किये बिना वे जिंदा नही रह सकते। भोजन करनेके लिए हम क्या किसीका गौरव करते है? खाना, पीना, सोना जैसे सासारिकोके सहज कर्म है वैसेही सेवा-कर्म ज्ञानियोके लिए सहज कर्म है। उपकार करना उनका स्वभाव हो जाता है। वह यदि कहेगा कि मै उपकार नही करूंगा तो यह असभव है। ऐसे ज्ञानी पुरुषका वह कर्म अकर्म दशाको पहुच गया है, ऐसा समझना चाहिए। इसी दशाको 'सन्यास' नामक अति पवित्र पदवी दी गई है। सन्यास यही परम धन्य अकर्म दशा है। इसी दशाको कर्मयोग भी कहना चाहिए। कर्म करता रहा है, अत वह 'योग' है, परतु करते हुए भी वह करता है ऐसा मालूम नही होता, इसीलिए वही 'सन्यास' है। वह कुछ ऐसी युक्तिसे कर्म करता है कि उसका लेप उसे नही लगता— इसलिए वह 'योग' है, व करके भी कुछ नही किया इसलिए वह 'सन्यास' है।

(१९)

'सन्यास' की आखिर कल्पना क्या है? कुछ कर्म छोडना, कुछ कर्म करना, यह कल्पना है क्या? नही, ऐसी बात नही है। सन्यासकी व्याख्या ही ऐसी है "सब कर्मोको छोड़ना"। सब कर्मोसे मुक्त होना, कर्म जरा भी न करना सन्यास है। परतु कर्म न करनेका मतलब क्या? कर्म बड़ी विचित्र वस्तु है। सर्व-कर्म-सन्यास होगा कैसे? कर्म तो

आगे-पीछे अगल-बगल, सब ओर व्याप्त हो रहा है। अजी बैठे तो भी क्रिया ही हुई न ? 'बैठना' यह क्रिया पद है। केवल व्याकरणकी दृष्टिमें ही वह क्रिया नही हुई, परतु सृष्टि-शास्त्रमे भी 'बैठना' क्रिया ही है। अरे सतत बैठे रहनेसे पैर दुखने लगते है। बैठनेमें भी श्रम तो है ही। जहा न करना तक भी कर्म सिद्ध होता है वहा कर्म-सन्यास होगा कैसे ? भगवान्ने अर्जुनको विश्व-रूप दिखलाया। वह सर्वत्र फैला हुआ विश्व-रूप देखकर अर्जुन डर गया व घबराकर उसने आखे मूद ली। परतु आखे मूदकर देखा तो वह भीतर भी दिखाई देने लगा। अब आखे मूद लेनेपर भी जो दीखता है उससे कैसे बचा जाय ? न करनेमे भी जो होता है उसे कैसे टाला जाय ?

एक शख्सकी बात है। उसके पास सोनेके बहुत बेश-कीमती गहने थे। वह उन्हे एक बडे सदूकमे बद करके रखना चाहता था। नौकर एक खासा बडा-सा लोहेका सदूक बनवा लाया। उसे देखकर उस शख्सने कहा—'तू कैसा बेवकूफ है रे! गवार, तू सुदरता जैसी भी कोई चीज समझता है या नही ? ऐसे बेशकीमती जेवर रखना है तो क्या भद्दे मनहूस लोहेके सदूकमे रखे जायगे ? जा, अच्छा सोनेका सदूक बनाकर ला!' नौकर सोनेका सदूक बनवा लाया। 'अब ताला भी सोनेका ही ले आओ। सोनेके सदूकमे सोनेका ही ताला फबेगा।' वह शख्स गया था जेवरको छिपाने, उसे ढाककर रखने, लेकिन वह सोना छिपा या खुला ? चोरोको जेवर खोजनेकी जरूरत ही नही रही। सदूक उडाया और काम बन गया। मतलब यह है कि कर्म न करना भी कर्म करनेका ही एक प्रकार हो जाता है। इतना व्यापक जो कर्म है उसका सन्यास किया कैसे जाय ?

ऐसे कामोका सन्यास करनेकी रीति हो यह है कि ऐसी तरकीब साधी जाय जिससे दुनिया भरके कर्म करते हुए भी वे सब गलकर बह जाय। जब ऐसा हो सकेगा तभी कह सकते है कि 'संन्यास-प्राप्ति' हुई। कर्म करके भी उन सबका 'गल-जाना' यह बात आखिर है कैसी ? सूर्य के जैसी है। सूर्य रात-दिन कर्म कर रहा है। रातको भी वह कर्म करता ही है। उसका प्रकाश दूसरे गोलार्द्धमे काम करता रहता है परंतु इतने

कर्म करते हुए भी, ऐसा कहा जाता है कि वह कुछ भी नहीं करता। इसी लिए चौथे अध्यायमे भगवान् कहते है—मैंने यह योग पहले सूर्यको सिखाया; फिर सूर्यसे विचार करनेवाले, मनन करनेवाले, मनुने इसे सीखा। चौबीस घटे कर्म करते हुए भी सूर्य लेश-मात्र कर्म नही करता। इसमे कोई सदेह नही कि यह स्थिति सचमुच अद्‌भुत है।

(२०)

परतु यह तो सन्यासका सिर्फ एक प्रकार हुआ। वह कर्म करके भी नही करता यह उसकी स्थितिका एक पहलू हुआ। वह कुछ भी कर्म नही करता, फिर भी सारी दुनियाको कर्म करनेमें प्रवृत्त करता है, यह उसका दूसरा पहलू था। उसमे अपरपार प्रेरक शक्ति है। अकर्मकी खूबी भी यही है। अकर्ममे अनत कार्यके लिए आवश्यक शक्ति भरी रहती है। भापका भी ऐसा ही है न? भापको रोककर रखिये, तो कितना प्रचड कार्य करती है। उस रोकी हुई भापमें अपार शक्ति आ जाती है। वह बडे-बडे जहाज और रेलगाडियोको बात-की-बातमें खीच ले जाती है। सूर्यकी भी ऐसी ही बात है। वह लेशमात्र भी कर्म नही करता, परतु चौबीस घटे लगातार काम करता है। उससे पूछेगे तो वह कहेगा, 'मै कुछ नही करता'। रात-दिन कर्म करते हुए न करना यह जैसे सूर्यका एक पहलू हुआ वैसे ही कुछ न करते हुए रात-दिन अनंत कर्म करना यह दूसरा पहलू हुआ। सन्यास इन दोनो प्रकारोसे विभूषित है।

दोनो असाधारण है। एक प्रकारमे कर्म प्रकट है व अकर्मवस्था गुप्त है। दूसरे प्रकारमे अकर्मावस्था प्रकट दिखाई देती है; परतु उसकी बदौलत अनत कर्म होते रहते है। इस अवस्थामे अकर्ममे कर्म लबालब भरा रहता है। इसलिए उससे प्रचड कार्य होता है। ऐसी अवस्थाको प्राप्त व्यक्तिमे व आलसी आदमीमे बडा अतर है। आलसी मनुष्य थक जायगा, ऊब जायगा। लेकिन यह अकर्मी सन्यासी कर्म-शक्तिको रोक करके रखता है। लेशमात्र भी कर्म नही करता। वह हाथ-पावसे, किसी इद्रियसे कोई कर्म नही करता। परतु कुछ न करते हुए भी वह अनत कर्म करता है।

किसी मनुष्यको गुस्सा आगया। यदि हमारी किसी भूलसे वह गुस्सा हुआ है, तो हम उसके पास जाते हैं। वह चुप रहता है, बोलता नहीं। अब उसके अबोलका, उस कर्मत्यागका कितना प्रचंड परिणाम होता है। दूसरा बड़-बड़ बोलता चला जायगा। दोनो है तो गुस्सेमें ही। परतु एक मौन है, दूसरा बडबडाता है। दोनो है गुस्सेके ही नमूने। न बोलना भी है तो क्रोधका ही एक रूप। उससे भी कार्य होता है। मा या बापने बच्चेसे बोलना बद कर दिया तो उसका परिणाम कितना प्रचड होता है। उस बोलनेके कर्मको छोड़ देनेसे उस कर्मको न करनेसे इतना प्रचड कर्म होता है कि प्रत्यक्ष कर्म करने पर भी उसका उतना परिणाम नही हो सकता था। उस अबोलका जो प्रभाव हुआ वह बोलनेसे नही हो सकता। ज्ञानी पुरुषोकी ऐसी ही स्थिति होती है। उनका अकर्म ही, उनका खामोश बैठना ही प्रचड कर्म करता है, प्रचण्ड सामर्थ्य उत्पन्न करता है। अकर्मी रहकर वह इतने कर्म करता है कि वे सब क्रियाके द्वारा प्रकट ही नही हो सकते। इस तरह यह सन्यासका दूसरा प्रकार है।

ऐसे सन्यासके सारे उद्योग, सारी मिहनत एक आसन पर आकर बैठ जाते है।

"उद्योगकी दौड़ बैठी है सुस्थिर।
प्रभु-पंलगमें पड़ा गठरी जैसा॥
चिन्ता गई सारी, हुआ है भरोसा।
अब गर्भवास छूटा मेरा॥
अपनी सत्तासे हूं नहीं जीता।
यों अभिमान छीना प्रभुने॥
तुका कहे जीता एककी सत्तासे।
हूं मैं खोखला खोखा जैसे॥

तुकाराम कहते है—"मै अब खाली हो गया हू। गठरी होकर पड़ा हूं। सब उद्योग खत्म हो गये।" तुकाराम खाली हो गये। परंतु उस खाली बोरेमें प्रचंड प्रेरक शक्ति है। सूर्य स्वतः आवाज नही लगाता, परंतु उसके दीखते ही पछी उड़ने लगते है, मेमने नाचने लगते हैं, गायें

बनमें चरने जाती है, बनिया-महाजन दूकान खोलते है, किसान खेत पर जाते हैं, ससारके नाना व्यवहार शुरु हो जाते है। सूर्य बना रहे यही काफी है। उतने ही से अनत कर्म शुरू हो जाते है। इस अकर्मावस्थामें अनत कर्मोकी प्रेरणा भरी रहती है, सामर्थ्य ठसाठस भरा रहता है। ऐसा यह सन्यासका दूसरा प्रकार है।

(२१)

पाचवे अध्यायमे सन्यासके दो प्रकारोकी तुलना की गई है। एक चौबीसो घटे कर्म करके भी कुछ नही करता और दूसरा एक क्षण भर भी कुछ न करके सब कुछ करता है। एक बोलकर न बोलनेका प्रकार, तो दूसरा न बोलकर बोलनेका प्रकार। इन दो प्रकारोकी यहा तुलना की गई है। ये जो दो दिव्य प्रकार है उनका अवलोकन करे, विचार करें, मनन करे इसमे अपूर्व आनंद है।

यह विषय ही अपूर्व व उदात्त है। सचमुच ही सन्यासकी यह कल्पना बहुत ही पवित्र व भव्य है। जिस किसीने यह विचार—यह कल्पना पहले-पहल खोज निकाली उसे कितने धन्यवाद दिये जाय। यह बडी उज्ज्वल कल्पना है। मानवीय बुद्धिने, मानवीय विचारने अबतक जो ऊची उड़ानें मारी है उन सबमे ऊची उडान सन्यास तक पहुची है। इसके आगे अभी तक कोई उडान न मार सका। उड़ाने मारना तो जारी है। परतु मै नही कह सकता कि विचार और अनुभवमे इतनी ऊची उडान किसीने मारी हो। इन दो प्रकारोसे युक्त सन्यासकी कोरी कल्पना ही आखोके सामने आनेसे अपूर्व आनद होता है। किंतु भाषा और व्यवहारके इस जगत्मे जब आते है तब वह आनद कम हो जाता है। जान पडता है नीचे गिर रहे है। मै अपने मित्रोसे इसके विषयमे हमेशा कहता रहता हू। आज कितने ही वर्षोसे मै इन दिव्य विचारोका मनन कर रहा हू। यहां भाषा अधूरी पडती है। शब्दोकी कक्षामे यह आता ही नही।

न करके सब कुछ कर डाला व सब कुछ करके भी लेशमात्र नही किया —कितनी उदात्त, रसमय व काव्यमय यह कल्पना है। अब काव्य और क्या बाकी रहा? जो कुछ काव्यके नामसे प्रसिद्ध है वह सब इस काव्यके आगे फीका है। इस कल्पनामे जो आनंद, जो उत्साह, जो स्फूर्ति व जो

दिव्यता है वह किसी भी काव्यमें नहीं। इस तरह यह पांचवां अध्याय ऊंची—बड़ी ऊंची भूमिका पर प्रतिष्ठित किया गया है। चौथे अध्यायतक कर्म, विकर्म बताकर यहां खूब ही ऊंची उड़ान मारी है। यहां अकर्म दशाके दो प्रकारोकी प्रत्यक्ष तुलना ही की है। यहा भाषा लड़खड़ाती है। कर्मयोगी श्रेष्ठ या कर्म-संन्यासी श्रेष्ठ—कर्म कौन ज्यादा करता है, यह कहा ही नही जा सकता। सब करके भी कुछ न करना व कुछ भी न करते हुए सब कुछ करना ये दोनो संन्यास है—योग है। परंतु तुलना-के लिए एक को योग कहा है, दूसरेको सन्यास।

(२२)

तो अब इनकी तुलना कैसे की जाय ? इसके लिए उदाहरणसे ही काम लेना पड़ेगा। जब उदाहरण देने जाते है तो प्रतीत होता है मानो नीचे गिर रहे हैं। परंतु नीचे गिरना ही होगा। सच पूछिए, तो पूर्ण कर्म-सन्यास अथवा पूर्ण कर्म-योग ये कल्पनाए ऐसी है जो इस शरीरमें नही समा सकती। वे इस देहको फोड़ डालेगी। परंतु जो महापुरुष इस कल्पनाके नजदीक तक पहुच गये है उनके उदाहरणसे हमे काम चलाना होगा। उदाहरण तो सदा अधूरे ही रहनेवाले है। परतु थोड़ी देरके लिए वही मान लेना होगा कि वे पूर्ण है।

रेखागणितमें जैसा कहते है कि 'कल्पना करो'—'सा' 'रे' 'ग'—एक त्रिकोण है। भला 'कल्पना' क्यों करें ? क्योकि इस त्रिकोणकी रेखाएं यथार्थ रेखाएं नही है। रेखाकी तो व्याख्या ही यह है कि जिसमें लबाई है पर चौड़ाई नही। तख्तेपर बिना चौडाईके यह लबाई दिखाई कैसे जाय? लबाई जहा खीची कि चौड़ाई आ ही जाती है। जो भी रेखा हम खीचेंगे उसमे कुछ-न-कुछ चौडाई रहेगी ही। इसलिए भूमिति-शास्त्रमे रेखा 'माने' बिना काम ही नही चलता। भक्ति-शास्त्रमें भी ऐसी ही बात है। वहा भी भक्त कहता है—इस छोटी सी शालग्रामकी बट्टीमे अखिल ब्रह्मांड-नायक है, यह मानो। यदि कोई कहे—"यह क्या पागलपन है ?" तो उससे कहो—"तुम्हारा यह भूमिति क्या पागलपन है ? बिलकुल स्पष्टतः मोटी रेखा दिखाई पड़ती है और कहते हो कि इसे बिना चौड़ाईकी मानो,

यह क्या पागलपन है ?" खुर्दबीनसे देखोगे तो वह आधा इंच चौड़ी दिखाई देगी। जैसे तुम अपनी भूमितिमें मानते हो, वैसे ही भक्ति-शास्त्र कहता है कि—"मानो, इस शालग्राममे परमेश्वर मानो।" अब कोई यदि यह कहे कि "परमेश्वर न टूटता है, न फूटता। तुम्हारा यह शालग्राम तो टूट जायगा, लगाऊ एक चोट ?" तो यह समझदारी नही कही जायगी। क्योकि जब भूमितिमे 'मानो' चलता है, तो फिर भक्ति-शास्त्रमे क्यो न चलना चाहिए ? बिदुको कहते है 'मानो' और तख्तेपर बिंदु (प्रत्यक्ष) निकालते है। बिंदु भी क्या, एक खासा वर्तुल होता है। बिंदुकी व्याख्या यानी ब्रह्मकी ही व्याख्या है। बिंदुकी न लबाई, न चौडाई, न मोटाई-कुछ भी नही। कितु व्याख्या तो ऐसी करते है व फिर उस तख्तेपर बनाकर दिखाते है। पर बिंदु तो वास्तवमे अस्तित्व मात्र है, त्रि-परिणाम रहित है। मतलब यह कि सच्चा त्रिकोण, सच्चा बिंदु व्याख्यामे ही रहता है। परतु हमको उसे मानकर चलना पडता है। भक्ति-शास्त्रमे भी शालग्राममे न टूटने-फूटनेवाला सर्व व्यापी परमेश्वर मानना पडता है। हम भी ऐसे ही काल्पनिक दृष्टात लेकर इनकी तुलना करेगे।

मीमासकोने तो एक बडा मजा ही किया है। परमेश्वर कहा है—इसकी मीमासा करते हुए उन्होने बडा सुदर विवरण किया है। वेदोमें इद्र, अग्नि, वरुण आदि देवता है। इन देवताओ का विचार मीमासामे करते हुए एक ऐसा प्रश्न पूछा जाता है—"यह इद्र कैसा है ? इसका रूप कैसा है ? यह रहता कहा है ?' मीमासक उत्तर देते है—'इन्द्र' शब्द ही इद्र का रूप है। 'इन्द्र' शब्दमे ही वह रहता है। 'इ' व उस पर 'अनस्वार,' फिर 'द्र'—यही उसका स्वरूप है। वही उसकी मूर्त्ति, वही परिमाण। वरुण देवता कैसे ? वैसे ही। पहले 'व', फिर 'रु', फिर 'ण'। व रु ण—यह वरुण का रूप। इसी तरह अग्नि आदि देवताओंके विषयमे समझिए। ये सारे देवता अक्षर-रूप धारी है। देवता सब अक्षर-मूर्त्ति हैं, इस कल्पनामे—इस विचारमें बडी मिठास है। देवकी कल्पना—देव वस्तु किसी आकारमें न समाने जैसी है। उस कल्पनाको प्रदर्शित करनेके लिए अक्षर यही एक चिह्न काफी होगा। ईश्वर कैसा है ? तो पहले 'ई' फिर 'श्व' फिर 'र'। आखिरमें 'ॐ' ने तो कमाल

ही कर डाला। 'ॐ' अक्षर ही ईश्वर हो गया। ईश्वरके लिए वह एक सञ्ज्ञा ही बन गया। ऐसी सज्ञाएं बनानी पड़ती हैं। क्योंकि मूर्त्तिमें—आकारमें ये विशाल कल्पनाएं समा ही नही सकती। परंतु मनुष्यकी इच्छा बड़ी जबरदस्त होती है। वह इन कल्पनाओंको मूर्त्तिमें प्रविष्ट करनेका प्रयत्न किये बिना नही रहता।

(२३)

सन्यास व योग ये बहुत ऊची उड़ानें हैं। पूर्ण सन्यास व पूर्णयोग-की कल्पना इस देहमे नही समा सकती। भले ही देहमे ये ध्येय न समा सकें, तो भी विचारमे जरूर समा जाते है । पूर्ण योगी और पूर्ण सन्यास तो व्याख्यामे ही रहनेवाले हैं। ध्येयभूत और अप्राप्य ही रहेगे। परतु उदाहरणके तौरपर ऐसे व्यक्ति लेने होगे जो इन कल्पनाओंके अधिक-से अधिक नजदीक पहुच पाये होंगे। और फिर भूमितिकी तरह कहना होगा कि 'इसे पूर्ण योगी और इसे पूर्ण सन्यासी' समझो। सन्यासका उदाहरण देते समय शुक, याज्ञवल्क्यके नाम लिये जाते है। इधर कर्मयोगीके रूपमे जनक और श्रीकृष्णका नाम खुद भगवद्गीतामे ही लिया गया है। लोकमान्यने 'गीता-रहस्य' मे एक नामावली ही दे दी है। "जनक, श्रीकृष्ण आदि इस मार्गसे गये, शुक, याज्ञवल्क्य आदि उस मार्गसे गये।" परतु थोडा विचार करनेसे यह फेहरिस्त भीगे हाथका लिखा जिस तरह मिटाया जाता है उस तरह मिटा दी जायगी। याज्ञवल्क्य संन्यासी थे, जनक कर्मयोगी थे। यानी सन्यासी याज्ञवल्क्यके कर्मयोगी जनक शिष्य थे। लेकिन उसी जनकके शिष्य शुकदेव सन्यासी हुए। याज्ञवल्क्यके शिष्य जनक और जनकके शिष्य शुक। सन्यासी, फिर कर्मयोगी, फिर सन्यासी—ऐसी यह मालिका बनती है। इस तरह योग और संन्यास एक-ही परंपरामें आ जाते है।

शुकदेवसे व्यासने कहा—"बेटा शुक, तुम ज्ञानी तो हो, परंतु गुरुकी मोहर (छाप) अभी तुम पर नहीं लगी। इसलिए तुम जनकके पास जाओ।" शुकदेव चले। जनक तीसरे मंजिल पर अपने विशाल-भवनमें बैठे थे। शुक थे वनवासी! नगर देखते-देखते चले। जनकने शुकदेवसे

पूछा—"क्यो आये ?" शुकने कहा—"ज्ञान पानेके लिए ।" "किसने भेजा ?" "व्यासदेवने ।" "कहासे आए ?" "आश्रमसे ।" "आते हुए यहा बाजारमें क्या-क्या देखा ?" "चारो तरफ एक ही शकरकी मिठाई सजी हुई दिखाई दी ।" "और क्या देखा ?" "चलते-बोलते शकरके पुतले देखे ।" "फिर क्या देखा ?" "यहा आते हुए शकरकी सख्त सीढ़िया मिली ।" "फिर क्या मिला ?" "शकरके चित्र यहा भी सर्वत्र देखे ।" "अब क्या दीख रहा है ?" "एक शकरका पुतला दूसरे शकरके पुतलेसे बात कर रहा है ।" जनकने कहा, "जाओ तुमको सब ज्ञान मिल चुका ।" शुकदेवको जनकसे उनके दस्तखतका जो प्रमाणपत्र चाहिए था वह मिल गया । मुद्दा यह कि कर्मयोगी जनकने सन्यासी शुकदेवको शिष्यके रूपमें पास किया। शुक तो सन्यासी ही थे परतु प्रसग कैसा मजेदार है ! परीक्षितको शाप मिला—सात दिनमे तुम्हारी मौत आ जायगी । परीक्षितको मरनेकी तैयारी करनी थी । उसे ऐसा गुरु चाहिए था जो यह सिखाये कि मरे कैसे । उसने शुकाचार्यको बुलाया । शुकाचार्य जो आकर बैठे तो २४×७=१६८ घटे पल्थी मार कर भागवत सुनाते रहे। जो आसन जमाया तो फिर, छोडा ही नही । एक-सी कथा कहते ही रहे । 'तो इसमे कौन बडी बात है ?' बडी बात यह कि सतत सात दिन तक उनको भारी श्रम करना पडा । फिर भी वह उन्हे कुछ नही मालूम हुआ । सतत कर्म करते रहकर भी मानो वह कर्म कर ही नही रहे थे । श्रम की भावना ही वहा नही थी । सार यह कि सन्यास और कर्म-योग ये दोनो भिन्न है ही नही ।

इसलिए भगवान् कहते है—

"एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।"

सन्यास और योगमे जो एक-रूपता देखेगा, कहना होगा कि उसीने वास्तविक रहस्य समझा है । एक न करके करता है और दूसरा करके भी नही करता । जो सचमुच श्रेष्ठ संन्यासी है, जिसकी सदैव समाधि लगी रहती है, जो बिलकुल निर्विकार है, ऐसा सन्यासी पुरुष दस दिन हमारे आपके बीचमे आकर रहने दो । कितना प्रकाश, कितनी स्फूर्ति उससे

मिलेगी ! अनेक वर्षोंतक कामका ढेर लगाकर भी जो नहीं हुआ वह केवल उसके दर्शनसे —अस्तित्व मात्रसे हो जायगा। फोटो देखकर यदि मनमें पावनता उत्पन्न होती है, मृत लोगोके चित्रोसे यदि भक्ति, प्रेम, पवित्रता हृदयमे उत्पन्न होती है तो जीवित संन्यासीको देखनेसे कितनी प्रेरणा प्राप्त होगी ? सन्यासी और योगी दोनो लोक-सग्रह करते हैं। एक जगह यदि बाहरसे कर्म-त्याग दिखाई दिया तो भी उस कर्म-त्यागमें कर्म लबालब भरा हुआ है। उसमें अनत स्फूर्ति भरी हुई है। ज्ञानी सन्यासी और ज्ञानी कर्मयोगी दोनो एक ही सिंहासनपर बैठनेवाले है। भिन्न-भिन्न होनेपर भी अर्थ एक ही है। एक ही तत्त्वके ये दोनो पहलू या प्रकार हैं। यत्र जब वेगसे घूमता है तो वह ऐसा दिखाई देता है मानो स्थिर है, घूम नही रहा है। सन्यासीकी भी स्थिति ऐसी ही होती है। उसकी शाति-मे से, स्थिरतामेसे, अनत शक्ति, अपार प्रेरणा निकलती है। महावीर, बुद्ध, निवृत्तिनाथ ऐसी ही विभूतिया थी। संन्यासीके तमाम उद्योगोकी दौड़ एक आसन पर आकर स्थिर हो जाय तो भी वह प्रचंड कर्म करता है। मतलब यह कि योगी ही सन्यासी है और सन्यासी ही योगी है। दोनोंमें कुछ भी भेद नही है। शब्द अलग-अलग है। पर अर्थ एक ही है। पत्थरके माने पाषाण और पाषाणके माने पत्थर जैसे है, वैसे ही कर्मयोगीके माने सन्यासी और सन्यासीके माने कर्मयोगी है।

(२४)

बात यद्यपि ऐसी है तो भी भगवान्‌ने एक तुर्रा लगा रखा है। भगवान् कहते है—संन्याससे कर्मयोग श्रेष्ठ है। जब दोनो ही एकस है तो फिर भगवान् ऐसा क्यो कहते है ? यह फिर क्या दिल्लगी है ? जब भगवान् कहते है कि कर्मयोग श्रेष्ठ है तब वह साधककी दृष्टिसे कहते है। बिलकुल कर्म न करते हुए सब कर्म करनेकी विधि एक सिद्धके लिए शक्य है, साधकके लिए नही। परतु सब कर्म करके भी कुछ न करना इस तरह थोडा-बहुत अनुकरण किया जा सकता है। एक विधि ऐसी है जो साधकके लिए शक्य नही, सिर्फ सिद्धके ही लिए शक्य है। दूसरी ऐसी है जो साधकके लिए भी थोडी बहुत शक्य है। बिलकुल कर्म न करते हुए कर्म

कैसे करना, यह साधकके लिए एक पहेली ही रहेगी। यह उसकी समझमें नही आ सकता। कर्मयोग साधकके लिए एक मार्ग भी है व मुकाम—पडाव भी है, परतु संन्यास तो आखिरी मजिल पर ही है, मार्गमे नही है। इसी कारण सन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग साधककी दृष्टिसे श्रेष्ठ है।

इसी न्यायसे भगवान्‌ने आगे बारहवे अध्यायमे निर्गुणकी अपेक्षा सगुणको विशेष माना है। सगुणमे सब इद्रियोके लिए काम है, निर्गुणमे ऐसा नही है। निर्गुणमे हाथ बेकार, पाव बेकार, आंखे बेकार—सब इद्रिया कर्म-शून्य ही रहती है। साधकसे यह सब नही सध सकता। परतु सगुणमे ऐसी बात नही है। आखोसे रूप देख सकते है, कानोसे कीर्त्तन सुन सकते है, हाथसे पूजा कर सकते है, लोगोकी सेवा की जा सकती है, पावसे तीर्थ-यात्रा होती है—इस तरह सब इद्रियोको काम देकर उनसे वैसा-वैसा काम कराते हुए धीरे-धीरे उन्हे हरिमय बना देना सगुणमे शक्य रहता है। परतु निर्गुणमे यह सब बद, जीभ बद, कान बद, हाथ-पैर बद। यह सारा 'बदी' प्रकार देखकर बेचारा साधक घबरा जाता है। उसके चित्तमे निर्गुण बैठेगा कैसे? वह यदि खामोश बैठा रहेगा तो उसके चित्तमें अट-शट विचार आने लगेगे। इद्रियोका यह स्वभाव ही है कि उन्हे कहते है कि न करो तो वे जरूर करेगी। विज्ञापनोमे क्या ऐसा नही होता? ऊपर लिखते है 'मत पढो।' तो पाठक मनमे कहता है यह जो न पढनेको लिखा है तो पहले इसीको पढो न! 'मत पढो' कहना इसी उद्देश्यसे होता है कि पाठक उसे जरूर पढे। मनुष्य अवश्य ही उसे जतनसे पढता है। निर्गुण-मे मन भटकता रहेगा। सगुण भक्तिकी बात ऐसी नही। वहा आरती है, पूजा है, सेवा है, भूत-दया है, इद्रियोंके लिए वहा काम है। इन इद्रियोको ठीक काममे लगाकर फिर मनसे कहो 'अब जाओ जहा जी चाहे।' परन्तु तब मन नही जाने का। वही रम रहेगा, अनजाने ही एकाग्र हो जायगा। परतु यदि उसे जान-बूझकर एक स्थान पर बैठाना चाहोगे तो वह भाग ही छूटेगा। भिन्न-भिन्न इद्रियोको उत्तम, सुदर, काममे लगा दो, फिर मनको खुशीसे भटकनेके लिए कह दो। वह नहीं भटकेगा। उसे जानेकी बिलकुल छुट्टी दे दो तो वह कहेगा—'लो मैं यही बैठ गया।' यदि उसे हुक्म दिया कि 'चुप बैठो' तो कहेगा 'मै यह चला'।

देहधारी मनुष्यके लिए सुलभताकी दृष्टिसे निर्गुणकी बनिस्बत सगुण श्रेष्ठ है। कर्म करते रहते भी उसे उडा देनेकी युक्ति कर्म न करते हुए कर्म करनेकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। क्योकि उसमे आसानी होती है। कर्मयोगमें प्रयत्न, अभ्यासके लिए जगह है। सब इंद्रियोको अपने अधीन बनाकर धीरे-धीरे सब उद्योगोमे मन हटा लेनेका अभ्यास कर्मयोगमे किया जा सकता है। यह तरकीब आज न सधी तो भी सधने जैसी है। कर्मयोग अनुकरण-सुलभ है, यही सन्यासकी अपेक्षा उसकी विशेषता है। परतु पूर्णावस्थामे कर्मयोग व सन्यास दोनो एक ही हैं। पूर्ण सन्यास व पूर्ण कर्मयोग दोनो एक ही है। नाम दो है, देखनेमे अलग-अलग है, परतु असलमे दोनो है एक ही। एक प्रकारसे कर्मका भूत बाहर नाचता हुआ दिखाई देता है, परतु भीतर शाति है। दूसरे प्रकारमे कुछ न करते हुए त्रिभुवनको हिला डालनेकी शक्ति है। जो दीख पडता है वह नही है—यह दोनो स्वरूप है। पूर्ण कर्मयोग सन्यास है, तो पूर्ण सन्यास कर्मयोग है। कोई भेद नही। परतु साधकके लिए कर्मयोग सुलभ है। पूर्णावस्थामे दोनो एक ही है।

ज्ञानदेवको चागदेवने एक पत्र भेजा। वह सिर्फ कोरा कागद था। चागदेवसे ज्ञानदेव उम्रमे छोटे थे। 'चिरजीव' लिखते है तो ज्ञानदेव ज्ञानमे श्रेष्ठ थे, 'पूज्य' लिखे तो उम्रमे कम थे। अब मजमून भी क्या लिखे ? कुछ तय नही हो पाता था। अत: चागदेवने कोरा कागद ही भेज दिया। वह पहले निवृत्तिनाथके हाथमे पडा। उन्होने उसे पढकर ज्ञानदेवको दे दिया। ज्ञानदेवने पढा व मुक्ताबाईको दे दिया। मुक्ता बाईने पढकर कहा—'चागदेव, इतना बडा हो गया है, पर है अभी कोरा-का-कोरा ही।' निवृत्तिनाथने और ही अर्थ पढा था उन्होने कहा—'चाग-देव कोरे है, शुद्ध है, निर्मल है, उपदेश देनेके योग्य है।' फिर ज्ञानदेवसे पत्रका जवाब देनेके लिए कहा। ज्ञानदेवने ६५ ओवियो[1] का पत्र भेजा। उसे 'ज्ञानदेव पासष्ठी' कहते है। इस पत्रकी ऐसी मनोरजक कथा है। लिखा हुआ पढना सरल है, परन्तु न लिखा हुआ पढना कठिन है। उसका पढना

---

[1]एक मराठी प्रचलित छंद।

कभी खतम ही नही होता। इसी तरह सन्यासी रीता कोरा दिखाई दिया तो भी उसमे अपरंपार कर्म भरा रहता है।

संन्यास व कर्मयोग—पूर्ण रूपमे दोनोकी कीमत एक-सी है, परतु कर्मयोगकी व्यवहारिक कीमत और ज्यादा है। किसी एक नोटकी कीमत पाच रुपये है। सोनेका सिक्का भी पाच रुपयेका होता है। जब तक सरकार स्थिर है तबतक दोनोकी कीमत एक-सी है, परतु यदि सरकार बदल गई तो फिर व्यवहारमे उस नोटकी कीमत एक पाई भी नही रहती। मगर सोनेके सिक्केकी कीमत जरूर कुछ-न-कुछ मिल जायगी। क्योकि आखिर वह सोना है। पूर्णावस्थामे कर्म-त्याग व कर्मयोग दोनोकी कीमत एक-सी है; क्योकि ज्ञान दोनोमे समान है। ज्ञानकी कीमत अनत है। अनतमे कुछ मिलाओ तो कीमत अनत ही रहती है। गणित-शास्त्रका यह सिद्धात है। कर्म-त्याग व कर्मयोग जब परिपूर्ण ज्ञानमे मिल जाते है तो दोनोकी कीमत बराबर हो जाती है। परतु ज्ञानको यदि दोनो ओरसे हटा लिया तो फिर कर्म-त्यागकी अपेक्षा कर्मयोग ही साधकके लिए श्रेष्ठ सिद्ध होगा। ठोस शुद्ध ज्ञान दोनो ओर लिया जाय तो कीमत एक-सी है। मजिल पर पहुँच जानेपर ज्ञान + कर्म = ज्ञान + कर्माभाव। परतु ज्ञानको दोनो ओरसे घटा दीजिए तो फिर कर्मके अभाव की अपेक्षा कर्म ही साधकके लिए श्रेष्ठ ठहरेगा। न करके करना साधकको समझमें ही नही आ सकता। करके न करना वह समझ सकता है। कर्मयोग मार्गमे भी है और मुकाम पर भी है, परतु सन्यास सिर्फ मुकाम पर ही है, मार्गमें नही। यदि यही बात शास्त्रकी भाषामें कहनी हो तो कर्मयोग साधन भी है, व निष्ठा भी है, परतु सन्यास सिर्फ निष्ठा है। निष्ठाका अर्थ है अतिम अवस्था।

छठा अध्याय

रविवार, २७-३-३२

(२५)

पाचवे अध्यायमे हम कल्पना और विचारके द्वारा देख सके कि मनुष्य उची-से-ऊची उडान कहातक मार सकता है। कर्म, विकर्म, अकर्म मिलकर सारी साधना पूर्ण होती है। कर्म स्थूल वस्तु है। जो-जो स्वधर्म-कर्म हम करे उनमे हमारे मनका सहयोग होना चाहिए। मानसिक शिक्षणके लिए जो कर्म किया जाय वह विकर्म, विशेष कर्म अथवा सूक्ष्म कर्म है। जरूरत कर्म और विकर्म दोनोकी है। इन दोनोंका प्रयोग करते-करते अकर्मकी भूमिका तैयार होती है। हमने पिछले अध्यायमे देख लिया कि इस भूमिकामे कर्म व सन्यास दोनो एक-रूप ही हो जाते है। अब छठे अध्यायके आरभमे फिर कहा है कि कर्मयोगकी भूमिका सन्यास की भूमिकासे अलग दिखाई देनेपर भी अक्षरश एक-रूप है। सिर्फ दृष्टिका फर्क है। पाचवे अध्यायमे जिस अवस्थाका वर्णन किया गया है उसके साधन खोजना यह बादके अध्यायोका विषय है।

कई लोगोकी एक ऐसी भ्रामक कल्पना है कि परमार्थ, गीता आदि ग्रथ, साधुओके लिए है। एक सज्जनने कहा—'मै कोई साधु नही हू' इसका अर्थ यह हुआ कि साधु नाम के कोई जीव है, जिनमेसे वे सज्जन नही है। जैसे घोडे, सिह, भालू, गाय आदि प्राणी है वैसे ही साधु नामके भी कोई जीव है और परमार्थकी कल्पना सिर्फ उन्हीके लिए है। शेष जो व्यावहारिक जगत्मे रहते है वे मानो किसी और जातिके है। उनके विचार अलग, आचार अलग ! इस कल्पना ने साधु-संत और व्यावहारिक लोग ऐसी दो अलग-अलग जातियां बना दी है। गीता रहस्यमें तिलक महराजने इस बातकी ओर ध्यान खीचा है। गीताग्रंथ सर्वसाधारण व्यावहारिक लोगोके लिए है, उनका यह कथन मै अक्षरश: सही मानता हूं। भगवद्गीता सारे संसारके लिए है। परमार्थ-विषयक समस्त साधन

प्रत्येक व्यावहारिक मनुष्यके लिए है। परमार्थ सिखाता है कि अपना व्यवहार शुद्ध और निर्मल रख कर मनका समाधान और शाति कैसे प्राप्त की जाय ? व्यवहार शुद्ध कैसे किया जाय—यह बतानेके लिए गीता है। जहा-जहा तुम व्यवहार करते हो वहा-वहा गीता आती है। परतु वहा वह आपको रखना नही चाहती। आपका हाथ पकड़कर वह अतिम मजिल तक आपको ले जायगी। एक मशहूर कहावत है न कि 'पर्वत यदि मुहम्मदके पास न आवे तो मुहम्मद पर्वतके पास जायगा।' मुहम्मदको यह चिंता है कि मेरा सदेश जड पर्वत तक भी पहुचे। पर्वत जड है, इसलिए मुहम्मद उसके आनेकी बाट नही जोहता रहेगा। यही बात गीता-ग्रंथकी है। कैसा ही दीन-दुर्बल हो, गवार हो, गीता उसके पास पहुच जायगी। परतु इसलिए नही कि उसे जहा-का-तहा रख दे, बल्कि इसलिए कि उसे हाथ पकडकर आगे ले जाय, ऊपर उठावे। गीता चाहती है कि मनुष्य अपना व्यवहार शुद्ध करके परमोच्च स्थितिको प्राप्त करे। इसीके लिए गीताका जन्म हुआ है।

अतएव "मै जड हू, व्यवहारी हू, सासारिक जीव हू"—ऐसा कहकर अपने आस-पास बाड मत लगाओ। मत कहो कि "मेरे हाथोसे क्या होगा ? इस साढे तीन हाथके शरीरमे ही मेरा सार-सर्वस्व है।"ऐसे बधनोकी दीवारे अपने आस-पास खडी करके पशुवत् व्यवहार मत करो। तुम तो आगे बढनेकी—ऊपर चढनेकी हिम्मत रखो।

"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्"

ऐसी हिम्मत रखो कि मै अपनेको अवश्य ऊपर चढा ले जाऊगा। यह मानकर कि मै क्षुद्र सासारिक जीव हू, मनकी शक्तिको मार मत डालो। कल्पनाके पख काट मत डालो। अपनी कल्पनाको विशाल बनाओ। चडूलका उदाहरण अपने सामने रखो। प्रात काल सूर्यको देखकर चडूल कहता है कि मै सूर्य तक उड जाऊगा। वैसा हमे बनना चाहिए। अपने दुर्बल पंखोसे चडूल बेचारा कितना ही ऊचा उडे, तो भी वह सूर्य तक कैसे पहुं-चेगा ? परतु अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा वह जरूर सूर्यको पा सकता है। हमारा आचरण इससे उलटा होता है। हम जितने ऊचे जा सकते थे उतने

भी न जाकर अपनी कल्पना और भावनाओं पर रुकावटें डाल अपनेको और नीचे गिरा लेते हैं। जो शक्ति प्राप्त है उसे भी अपनी हीन भावना-से नष्ट कर लेते हैं। जहा कल्पनाके ही पाव टूट गये तो फिर नीचे गिरनेके सिवाय क्या गति होगी ? अत कल्पनाका रुख हमेशा ऊपरकी ओर होना चाहिए। कल्पनाकी सहायतासे मनुष्य आगे बढता है, अत कल्पनाको सिकोड मत डालो।

"स्थूल मार्गको तजो नहीं।
पड़े व्यवहारमें रहो न इत-उत भटको भय्या व्यर्थ कहीं।"

ऐसा रोना मत रोते रहो। आत्माका अपमान मत कर लो। साधकके पास यदि विशाल कल्पना होगी, आत्म-विश्वास होगा तो ही वह टिक सकेगा। इसीसे उद्धार होगा। परतु धर्म तो साधु-सतोके लिए ही है, साधु-सतोके पास गये भी तो यह प्रशस्ति-पत्र लेने के लिए कि 'तुम जिस स्थितिमे हो उसमें यही व्यवहार उचित है' इस किस्मके खयाल छोड दो। ऐसी भेदात्मक कल्पनाए करके अपनेको बधनमे मत डालो। यदि उच्च आकाक्षा नही रखेगे तो एक कदम भी आगे नही बढ सकोगे।

यह दृष्टि, यह आकाक्षा, यह महान् भावना, यदि हो तब तो साधनो-का जोड-तोड आवश्यक है, नही तो फिर सारा किस्सा ही खतम। बाह्य कर्मकी सहायताके लिए मानसिक साधन-रूपी विकर्म बताया है। कर्मकी मददके लिए विकर्म निरतर चाहिए। इन दोनोकी सहायतासे अकर्म नामक जो दिव्य स्थिति प्राप्त होती है वह और उसके प्रकार पाचवें अध्याय-मे देखे। इस छठे अध्यायसे विकर्मके प्रकार बताये गये हैं। मानसिक साधना बताई गई है। इस मानसिक साधनाको समझानेसे पहले गीता कहती है—

"भय्या जीव, तुम देव हो सकते हो। तुम यह दिव्य आकाक्षा रखो। मन को मुक्त बनाकर उसके पखो को सुदृढ बनाओ।" साधना के, विकर्म के' भिन्न-भिन्न प्रकार है। भक्ति-योग, ध्यान, ज्ञान-विज्ञान, गुण-विकास, आत्मानात्म-विवेक आदि नाना प्रकार है।

छठे अध्यायमे ध्यान-योग नामक साधन-प्रकार बताया गया है ।

(२६)

ध्यान-योगमे तीन बाते मुख्य है—(१) चित्तकी एकाग्रता (२) चित्तकी एकाग्रताके लिए उपयुक्त जीवनकी परिमितता और (३) साम्य-दशा या सम-दृष्टि । इन तीन बातोके बिना वास्तविक साधना नही हो सकती। चित्तकी एकाग्रताका अर्थ है चित्तकी चचलता पर अकुश । जीवनकी परिमितताका अर्थ है सब क्रियाओका नाप-तौल कर होना । समदृष्टिका अर्थ है विश्वकी ओर देखनेकी उदार दृष्टि। इन तीन बातोको लेकर ध्यान-योग बन जाता है । इन तीन साधनोके भी फिर और साधन है । वे है अभ्यास और वैराग्य । इन पाचो बातोकी थोडी-सी चर्चा हम यहा करे ।

पहले चित्तकी एकाग्रताको लीजिए । प्रत्येक काममे चित्तकी एकाग्रता आवश्यक है । व्यावहारिक बातोमे भी चित्तकी एकाग्रता चाहिए । यह बात नही कि व्यवहारमे अलग गुणोकी जरूरत है और परमार्थमे अलग । व्यवहारको शुद्ध करनेका ही अर्थ है परमार्थ । कैसा भी व्यवहार हो उसका यशापयश, सफलता-विफलता आपकी एकाग्रता पर अवलबित है । व्यापार, व्यवहार, शास्त्र-शोधन, राजनीति, कूटनीति किसीको ले लीजिए, इनमे जो कुछ यश मिलेगा वह उन पुरुषोके चित्तकी एकाग्रताके अनुसार मिलेगा । नेपोलियनके लिए कहा जाता है कि युद्धकी व्यवस्था जहा एक बार ठीक-ठीक लगा दी कि फिर समर-भूमिमे वह गणितके सिद्धात हल किया करता था । डेरो-तबुओपर गोले बरसते, सैनिक मरते, परतु नेपोलियनका चित्त अपने गणितमे ही मग्न रहता । मैं यह नही कहता कि नेपोलियनकी एकाग्रता बहुत बढी हुई थी । उससे भी ऊचे दरजेकी एकाग्रताके उदाहरण दिये जा सकेगे । परतु एकाग्रता उसके पास कितनी थी यह देखो । खलीफा उमरकी भी ऐसी ही बात कही जाती है । बीच लडाईमे जब नमाजका समय हो जाता तो वह वही समरभूमिमे चित्त एकाग्र करके घुटने टेककर नमाज पढने लगता और उसका चित्त इतना एकाग्र हो जाता कि उसे यह होश भी नही रहता कि किसके आदमी कट-मर रहे है । शुरूके मुसलमानोकी इस परमेश्वर

निष्ठाकी ही बदौलत, इस एकाग्रताकी ही बदौलत, इस्लाम-धर्म इतना फैला था।

उस दिन मैंने एक कहानी सुनी । एक फकीर था। उसके शरीरमें तीर चुभ गया। इससे उसे बडी वेदना हो रही थी। तीर खीचनेकी कोशिश करते तो वेदना और बढ जाती थी। इससे वह तीर भी नही खीचा जा सकता था। क्लोरोफोर्म जैसी बेहोश करनेकी दवा उस समय थी नही। बडी समस्या खडी हो गई। कुछ लोग उस फकीरको जानते थे। वे आगे बढकर बोले—'तीर अभी मत निकालो। यह नमाज पढने बैठेगा तब निकाल लेगे।' शामकी नमाजका वक्त हुआ । फकीर नमाज पढने लगा। पल भरमे ही उसका चित्त इतना एकाग्र हो गया कि तीर उसके बदनसे निकाल लिया तो भी उसे मालूम नही हुआ। कैसी जबरदस्त है यह एकाग्रता !

साराश यह कि व्यवहार हो या परमार्थ, चित्तकी एकाग्रताके बिना, उसमे सफलता मिलना कठिन है। यदि चित्त एकाग्र रहेगा तो फिर सामर्थ्यकी कभी कमी न पडेगी। साठ वर्षके बूढे होनेपर भी किसी नौजवानकी तरह तुममे उत्साह और सामर्थ्य दीख पडेगा। मनुष्य ज्यो-ज्यों बुढापेकी तरफ जाता है त्यो-त्यो उसका मन अधिक मजबूत होता जाना चाहिए। फलको ही देखिए न ? पहले वह हरा होता है, फिर पकता है, फिर सडता है और मिट जाता है, परतु त्यो-त्यो भीतरका बीज अधिकाधिक सख्त होता जाता है । यह बाहरी शरीर सड जायगा, गिर जायगा, परतु बाहरी शरीर फलका सार-सर्वस्व नही है। उसका सार-सर्वस्व, उसकी आत्मा तो है बीज। यही बात शरीरकी है। शरीर भले ही बूढा होता चला जाय, परतु स्मरणशक्ति तो बढती ही रहनी चाहिए, बुद्धि तेजस्वी होनी चाहिए। परतु ऐसा होता नहीं। मनुष्य कहता है— "आजकल मेरी याद्दाश्त कम हो गई।" "क्यो ?" "अब बुढापा आ गया है।" तुम्हारा जो ज्ञान, विद्या या स्मृति है वह तुम्हारा बीज है। शरीर ज्यो-ज्यो बूढा होता जायगा त्यों-त्यो ढीला पडता जायगा। परतु त्यो-ही-त्यो आत्मा बलवान होती जानी चाहिए। और यह बिना एकाग्रताके नही हो सकता।

(२७)

एकाग्रता तो होनी चाहिए, पर वह हो कैसे ? उसके लिए क्या करना चाहिए ? भगवान् कहते हैं आत्मामें मनको स्थिर करके "न किंचिदपि चिंतयेत्"—दूसरा कुछ भी चिन्तन न करे—

परंतु यह सधे कैसे ? मनको बिलकुल शांत करना बड़ी महत्वकी वस्तु है। विचारोंके चक्रको जोरसे रोके बिना एकाग्रता कैसे होगी ? बाहरी चक्र तो किसी तरह रोक भी लिया जाय परंतु भीतरी चक्र तो चलता ही रहता है। चित्तकी एकाग्रताके लिए ये बाहरी साधन जैसे-जैसे काममें लाये जाय वैसे-वैसे भीतरके चक्र अधिक वेगसे चलने लगते हैं। आप आसन जमाकर तनकर बैठ जाइए, आंखे स्थिर कर लीजिए। परंतु इतनेसे मन एकाग्र नहीं हो सकेगा। मुख्य बात यह है कि मनका चक्र चलना बंद होना चाहिए।

बात यह है कि बाहरका यह अपरपार संसार जो हमारे मनमें भरा रहता है, उसको बंद किये बिना एकाग्रता अशक्य है। अपने आत्माकी अपार ज्ञान-शक्ति हम बाह्य क्षुद्र वस्तुओंमें खर्च कर डालते हैं, लेकिन ऐसा नहीं होना चाहिए। जिस तरह दूसरेको न लूटते हुए खुद अपने प्रयत्नसे धनी हो जानेवाला पुरुष बिना जरूरत खर्च नहीं करता, उसी तरह हमें भी अपने आत्माकी ज्ञान-शक्ति क्षुद्र बातोंके चिंतनमें खर्च नहीं करनी चाहिए। यह ज्ञान-शक्ति हमारी अमूल्य थाती है, परंतु हम उसे स्थूल विषयोंमें खर्च कर डालते हैं। यह साग अच्छा नहीं बना, इसमें नमक कम पड़ा, अरे भाई कितनी अन्नीभर नमक कम पड़ा ? नमक तनिक-सा कम पड़ा, इस महान् विचारमें ही हमारा ज्ञान खर्च हो जाता है। बच्चोंको पाठशालाकी चारदीवारीके अंदर ही पढ़ाते हैं, क्योंकि, कहते हैं कि यदि पेड़के नीचे पढ़ायेंगे तो कौवे, कोयल और चिड़िया देखकर उनका मन एकाग्र नहीं होगा। बच्चे ही जो ठहरे; कौवे, चिड़िया नहीं दिखाई दी तो होगई एकाग्रता। परंतु अब हम हो गये हैं घोड़ेके बराबर, हमारे अब सींग निकल आये है। यदि हमें सात-सात दीवारोंके अंदर भी किसीने बंद कर दिया तो भी हमारे मनकी एकाग्रता नहीं हो सकती। क्योंकि हमारी

आदत दुनियामे हर छोटी-बडी चीजकी चर्चा करनेकी पड़ गई है। जो ज्ञान परमेश्वरकी प्राप्ति करा सकता है, उसे हम साग-सब्जीके जायकेकी चर्चा करनेमे खो देते हैं, और उसमें कृतार्थता मानते है !

दिन-रात ऐसा यह भयानक ससार हमारे चारो ओर भीतर-बाहर धू-धू करता रहता है। प्रार्थना अथवा भजन करनेमें भी हमारा हेतु बाहरी ही रहता है । परमेश्वरसे तन्मय होकर एक क्षणके लिए भी ससारको भुलानेकी भावना ही नही रहती। प्रार्थना भी एक दिखावा हैं। ऐसी जहा मनकी स्थिति है वहा आसन जमाकर बैठना और आख मूदना सब व्यर्थ है। मनकी दौड निरतर बाहर ही होते रहनेमे मनुष्य-का सारा सामर्थ्य नष्ट हो जाता है। किसी भी प्रकारकी व्यवस्था, नियन्त्रणशक्ति मनुष्यमे नही रहती। इसका अनुभव आज हमारे देशमे कदम कदमपर हो रहा है। वास्तवमे भारतवर्ष तो परमार्थ-भूमि है। यहाके लोग पहले ही, ऊची हवामे उडनेवाले समझे जाते है। पर ऐसे देशमे हमारी आपकी क्या दशा है ? छोटी-छोटी बातोकी इतनी चिताके साथ चर्चा व पिष्टपेषण करते है कि जिसे देखकर दु ख होता है । क्षुद्र विषयोमें ही हमारा चित्त डूबा रहता है।

कथा-पुराण-श्रवणमें मीठी नींद सदा आ जाती है।
पडते ही बिस्तरपं किंतु चिंता मनको खाती है।
कर्मकी गति ऐसी गहना। उसे रोनेंसे क्या पाना ?

कथा-पुराण सुननेके लिए जाते है, वहा नीद आ घेरती है, और नीद लेने जाते है, तो वहा चिता और विचार-चक्र शुरू हो जाता है। एक ओर शून्याग्रता तो दूसरी ओर अनेकाग्रता । एकाग्रताका कही पता नही। इतना यह मनुष्य इद्रियोका गुलाम है। एक बार किसीने पूछा— 'आखे अधमुदी रखनी चाहिए, ऐसा क्यो कहा गया है ?' मैने कहा— सरल ही उत्तर देता हू। आखे बिलकुल मूद ले तो नीद लग जाती है। खुली रखे तो चारो ओर दृष्टि जाकर एकाग्रता नही होगी। आखे मूदनेसे नीद लग जाती है, यह तमोगुण हुआ। खुली रखनेसे दृष्टि सब जगह जाती है, यह रजोगुण आ गया। इसलिए बीचकी स्थिति कही है।

तात्पर्य यह है कि मनकी स्थिति बदले बिना एकाग्रता नही हो सकती। मनकी स्थिति ठीक शुद्ध होनी चाहिए। केवल आसन जमाकर बैठनेसे वह नही प्राप्त हो सकती। इसके लिए हमारे सब व्यवहार शुद्ध होने चाहिए व्यवहार शुद्ध करनेके लिए उसका उद्देश्य बदलना चाहिए। व्यवहार व्यक्तिगत लाभके लिए, वासना तृप्ति के लिए, अथवा बाहरी बातोंके लिए नही करना है।

व्यवहार तो हम दिन भर करते रहते है, आखिर दिन भरकी इस उधेडबुनका हेतु क्या है ?

इसी हेतु मेरा सारा परिश्रम।
अंतकी ये घड़ी होवे मीठी॥

सारी उधेडबुन, सारी दौड-धूप इसीलिए न कि हमारा अतिम दिवस मधुर हो जाय ? जिंदगीभर कडवा विष क्यो पचाया जाय ? इसलिए कि अतिम घडी, वह मरण, पवित्र हो जाय। दिनकी अतिम घडी शामको आती है। आजके दिनका सारा काम यदि पवित्र भावसे किया गया तो रातकी प्रार्थना मधुर होगी। वह दिनका अतिम क्षण यदि मधुर हो गया तो दिनका सारा कर्म सफल समझो। तब मेरा मन एकाग्र हो जायगा।

एकाग्रताके लिए ऐसी जीवन-शुद्धिकी जरूरत है। बाह्य वस्तुओका चिंतन छूटना चाहिए। मनुष्यकी आयु बहुत नही है, परतु इस थोडी-सी आयुमे भी परमेश्वरीय सुखके स्वाद लेनेका सामर्थ्य है। दो मनुष्य बिलकुल एक ही साचेमे ढले, एक-सी छाप लगे हुए, दो आंखें, उनके बीच एक नाक और उस नाकमे दो नासा-पुट। इस तरह बिलकुल एकसे होकर भी एक मनुष्य देव-तुल्य होता है तो दूसरा पशु-तुल्य। ऐसा क्यो होता है ? एक ही परमेश्वरके बालबच्चे—

'सब एक ही खानिके'

है तो फिर यह फर्क क्यो पडता है ? इन दो व्यक्तियोकी जाति एक है ऐसा यकीन नही होता। एक नरका नारायण है तो दूसरा नरका वानर।

मनुष्य कितना ऊचा उठ सकता है, इसका नमूना दिखाने वाले लोग

पहले भी हो गये है, और आज भी हमारे बीचमें हैं। यह अनुभवकी बात है। इस नर-देहमे कितनी शक्ति है, इसको दिखानेवाले सत पहले निकले और आज भी हैं। इस देहमे रहकर यदि मनुष्य ऐसी अद्‌भुत करनी कर सकता है तो फिर भला मै क्यों न कर सकूगा ? मैं अपनी कल्पनाको मर्यादामे क्यो बाध लू ? जिस नर-देहमे रहकर दूसरे नर-वीर हो गये, वही नर-देह मुझे भी मिला है, फिर मेरी ऐसी दशा क्यो ? कही-न-कही मुझसे भूल हो रही है। मेरा यह चित्त सदैव बाहर जाता रहता है। दूसरेके गुण-दोष देखनेमे वह बहुत वाहियात हो गया है। परतु मुझे दूसरेके गुण-दोष देखनेकी जरूरत क्या है ?

कहां गुण-दोष परायके देखूं।
कमी क्या मुझमें दोषोंकी है ?

खुद मुझमे क्या दोष कम है ! यदि मै सदैव दूसरोकी छोटी-छोटी बातें देखनेमे ही तल्लीन रहा तो फिर मेरे चित्तकी एकाग्रता हो भी कैसे ? उस दशामे मेरी स्थिति दो ही प्रकारकी हो सकती है, एक तो शून्य अवस्था अर्थात् नीद, और दूसरी अनेकाग्रता। तमोगुण और रजोगुणमें ही मै उलझता रहूगा !

भगवान्‌ने यह जरूर कहा है कि चित्तकी एकाग्रताके लिए इस तरह बैठो, इस तरह आखे रखो, इस तरह आसन जमाओ, आदि—परंतु इन सबसे फायदा तभी होगा, जब पहले चित्तकी एकाग्रताके हम कायल हो। मनुष्यके चित्तमे पहले यह जम जाय कि चित्तकी एकाग्रता आवश्यक है, फिर तो मनुष्य खुद ही उसकी साधना और मार्ग ढूढ लेगा।

(२८)

चित्तकी एकाग्रतामे सहायक दूसरी बात है जीवनकी परिमितता। हमारा सब काम नपा-तुला होना चाहिए। गणित-शास्त्रका यह रहस्य हमारी सब क्रियाओमे आ जाना चाहिए। औषध जैसे नाप-तौल कर ली जाती है वैसे ही आहार-निद्रा भी नपी-तुली होनी चाहिए। जीवनमे सब जगह चारो तरफ नाप-तौल करनी चाहिए। प्रत्येक इद्रियपर पहरा बिठाना चाहिए। मै ज्यादा तो नही न खाता हू, अधिक तो नही न सोता,

जरूरतसे ज्यादा तो नही न देखता—ऐसा ध्यान बारीकीसे निरतर रखना चाहिए।

एक साहब किसी शख्सके लिए कह रहे थे कि वे किसीके कमरेमे गये तो एक मिनिट मे उनकी निगाहमे आजाता था कि उसमे कहा क्या रक्खा है ? मैंने मन मे कहा—'भगवन, यह महिमा मुझे न प्राप्त हो।' क्या मैं उसका मत्री हू जो पाच-पचास चीजोकी सची मनमे रक्खू ? या मुझे चोरी करनी है ? साबुन यहा था, घडी वहा थी, इससे मुझे क्या करना है ? इस ज्ञानकी मुझे क्या जरुरत ? आखोकी यह फजूलियात मुझे छोड़ देनी चाहिए। उसी प्रकार कानपर भी पहरा रखो। बाज लोग समझते है, यदि कुत्तोकी तरह हमारे कान होते तो कितना अच्छा रहता ! जिधर चाहते उधर एक क्षणमे उन्हे हिलाया करते। मनुष्यके कानमे परमात्माने यह कसर ही रख दी। परन्तु कानकी यह वाहियात शक्ति हमे नही चाहिए। वैसे यह मन भी बहुत जबरदस्त है। जरा कही खटका हुआ, आहट हुई कि गया उधर ध्यान। अत जीवनमे परिमितता लाओ। खराब चीज नही देखे। खराब किताब नही पढे। निदास्तुति नही सुने। सदोष वस्तु तो दूर, निर्दोष वस्तुओका भी जरूरतसे ज्यादा सेवन न करे। लोलुपता किसी भी प्रकारकी न होनी चाहिए। शराब, पकौडी, रसगुल्ले तो होने ही नहीं चाहिए, परतु सतरे, केले, मौसमी भी बहुत नही चाहिए। फल-आहार यो शुद्ध आहार है; परन्तु वह भी अनाप-शनाप नही होना चाहिए। जीभका स्वेन्छाचार भीतरी मालिकको सहन न होना चाहिए। इद्रियोपर यह धाक रहनी चाहिए कि यदि हम ऊट-पटाग करेगे तो भीतरका मालिक हमे जरूर सजा देगा। नियमित आचरणको ही जीवनकी परिमितता कहते है।

(२९)

तीसरी बात है समदृष्टि होना। समदृष्टिका ही अर्थ है—शुभ दृष्टि। शुभ दृष्टि प्राप्त हुए बिना चित्त एकाग्र नही हो सकता। सिंह इतना बडा वनराज है, परतु चार कदम चलकर पीछे देखता है। हिसक सिहको एकाग्रता कैसे प्राप्त होगी ? शेर, कौवे, बिल्ली, इनकी आखे हमेशा

फिरती रहती है। निगाह उनकी चौकन्नी-घबराई हुई होती है। हिंस्र प्राणियोका ऐसा ही हाल रहेगा। साम्य दृष्टि ग्रानी चाहिए। यह सारी सृष्टि मगलमय मालूम होनी चाहिए। जैसा मुझे खुद अपने पर विश्वास है वैसा ही सारी सृष्टि पर मेरा विश्वास होना चाहिए। यहां डरनेकी बात ही क्या है ? सब कुछ शुद्ध ग्रौर पवित्र है।

"विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवाः।"

यह विश्व मगलमय है, क्योकि परमेश्वर उसकी देख-भाल करता है। अंग्रेज कवि ब्राउनिंगने भी ऐसा ही कहा है।

"ईश्वर आकाशमे विराजमान है। और ससार सब ठीक तरहसे चल रहा है।"

ससारमे कुछ भी बिगाड नही है। अगर बिगाड कही है तो वह है मेरी दृष्टिमे। जैसी मेरी दृष्टि वैसी यह सृष्टि। यदि मै लाल रगका चश्मा चढा लूगा तो सारी सृष्टि लाल ही लाल दिखाई देगी—जलती हुई दिखाई देगी।

रामदास रामायण लिखते जाते व शिष्योको पढकर बताते जाते थे। हनूमान भी गुप्त रूपसे उसे सुननेके लिए आकर बैठते थे। समर्थने लिखा था—"हनूमान अशोक-वनमे गये । वहा उन्होने सफेद फूल देखे।" यह सुनते ही वहा झटसे हनूमान प्रकट हो गये और बोले—"मैंने सफेद फूल नही देखे, लाल देखे थे। तुमने गलत लिखा है। उसे सुधार लो।" समर्थने कहा—"मैंने ठीक लिखा है। तुमने सफेद ही फूल देखे थे।" हनूमानने कहा—"मै खुद वहा गया था और मै ही झूठा ?" अंतमें झगड़ा रामचद्रजीके पास गया। उन्होने कहा—"फूल तो सफेद ही थे। परतु हनूमानकी आखे क्रोधसे लाल हो रही थी इसलिए वे शुभ्र फूल उन्हें लाल दिखाई दिये।" इस मधुर कथाका आशय यह है कि ससारकी ओर देखनेकी जैसी हमारी दृष्टि होगी, संसार भी हमे वैसा ही दिखाई देगा।

यदि हमारे मनको इस बातका निश्चय न हो कि यह सृष्टि शुभ है तो चित्तकी एकाग्रता नही हो सकती। जबतक मै यह समझता रहूगा कि सृष्टि बिगड़ी हुई है—तबतक मै सशंक दृष्टिसे चारों ओर देखता

रहूंगा। कवि पछियोकी स्वतत्रताके गान गाते है। उनसे कहना चाहिए कि जरा एक बार पछी होकर देखो तो। फिर उनकी ग्राजादीकी सही कीमत मालूम हो जायगी। पक्षियोकी गर्दन बराबर ग्रागे-पीछे एक-सी नाचती रहती है। उन्हे सतत दूसरोका भय लगा रहता है। चिडियाको ग्रासनपर ला बिठाग्रो। क्या वह एकाग्र हो जायगी ? मेरे जरा निकट जाते ही वह फुर्रसे उड जायगी। वह डरेगी कि कही यह मुझे मारने तो नही ग्रा रहा है। जिनके दिमागमे ऐसी भयानक कल्पना है कि यह सारी दुनिया भक्षक है—सहारक है, उन्हे शाति कहा ? जबतक यह खयाल दिमागसे न निकलेगा कि मेरा रक्षक मै ग्रकेला ही हू, बाकी सब भक्षक है, तबतक एकाग्रता नही हो सकती। समदृष्टिकी भावना करना ही उसका उत्तम मार्ग है। ग्राप सर्वत्र मागलय देखने लग जाइए, चित्त ग्रपने ग्राप शात हो जायगा।

किसी दु खी मनुष्यको कल-कल बहने वाली नदीके किनारे ले जाइए। उसके स्वच्छ शात प्रवाहको देखकर उसकी बेचैनी कम हो जायगी। वह ग्रपना दु ख भूल जायगा। उस झरनेमे, उस प्रवाहमे, इतनी शक्ति कहासे ग्रागई ? परमेश्वरकी शुभशक्ति उससे प्रकट हुई है। वेदोमे झरनोका बडा ही सुदर वर्णन है—

"ग्रतिष्ठन्तीनाम् ग्रनिवेशनानाम्"

ऐसे ये झरने है। झरना ग्रखड बहता है, उसका ग्रपना कोई घर-बार नही, वह सन्यासी है। ऐसा पवित्र झरना एक क्षणमे मेरे मनको एकाग्र बना देता है। ऐसे सुदर झरनेको देखकर प्रेमका, ज्ञानका स्रोत मेरे मनमे क्यो न उमड पडे ?

यह बाहरका जड पानी भी यदि मेरे मनको इतनी शाति प्रदान कर सकता है तो फिर मेरी मानसदरीमे यदि भक्ति ग्रौर ज्ञानका चिन्मय झरना बहने लगे तो मेरे मनको कितनी शाति प्राप्त होगी ! मेरे एक मित्र पहले हिमालयमे—काश्मीरमे घूम रहे थे। वहाके पवित्र पर्वतोके, सुदर जल-प्रवाहोके वर्णन लिख-लिख कर मुझे भेजते थे। मैने उन्हे उत्तर दिया कि जो जल-स्रोत, जो पर्वत-माला, जो शुभ समीर तुमको ग्रनुपम

आनंद देते है उन सबका अनुभव मुझे अपने हृदयमें हो सकता है। अपनी अत सृष्टिमे मैं नित्य उन सब रमणीय दृश्योको देखता हू, अत. तुम्हारे बुलानेपर भी मैं अपने हृदयके इस भव्य-दिव्य हिमालयको छोड़ कर नही आऊगा।

स्थिरोंमें मैं हिमालय

स्थिरताकी मूर्त्तिके रूपमे जिस हिमालयकी उपासना स्थिरता लानेके लिए करनी है उसका वर्णन सुनकर यदि मैने अपना कर्त्तव्य छोड़ दिया तो वह उल्टी ही बात होगी।

साराश, चित्तको जरा शात कीजिए। सृष्टिको मगल-दृष्टिसे देखिए। तो फिर आपके हृदयमे अनत झरने बहने लगेगे। कल्पनाओके दिव्य तारे हृदयाकाशमे चमकने लगेगे। पत्थर और मट्टीकी शुभ वस्तु देखकर यदि चित्त शात हो जाता है तो फिर अत सृष्टिके दृश्य देखकर क्यो न होगा? एक बार मै त्रावणकोर गया था। एक दिन समुद्र किनारे बैठा था। वह अपार समुद्र, उसकी धू-धू गर्जना, सायकालका समय, मै स्तब्ध, निश्चेष्ट बैठा था। मेरे मित्रने वही समुद्र किनारे कुछ फल वगैरा मेरे खानेके लिए ला दिये। उस समय वह सात्त्विक आहार भी मुझे जहरकी तरह लगा। समुद्रकी वह ॐ-ॐ गर्जना मुझे—"माम-नुस्मर युद्धय च" इस गीता-वचनकी याद दिला रही थी। समुद्र सतत स्मरण कर रहा था और कर्म भी कर रहा था। एक लहर आई, वह गई और दूसरी आई। उसे एक क्षणके लिए विश्राति नही। यह दृश्य देखकर मेरी भूख-प्यास उड गई थी। आखिर उस समुद्रमें ऐसा क्या था! उस खारे पानीकी लहरोको उछलते हुए देखकर यदि मेरा हृदय उछलने लगता है तो फिर ज्ञान और प्रेमके अथाह सागरके हृदयमे हिलोरे मारनेपर मै कितना नाच उठूगा! वैदिक ऋषिके हृदयमे ऐसा ही समुद्र हिलोरे मारता था—

> "अंतःसमुद्रे हृदि अंतरायुषि
> घृतस्य धारा अभिचाकशीमि
> समुद्रादूर्मिर्मधुमानुदारत्"

इस दिव्य भाषापर भाष्य लिखते हुए बेचारे भाष्यकारोकी भी फजीहत होनेकी नौबत आ गई। कैसी वह घृतकी धारा ? कैसी वह मधुकी धारा ? क्या मेरे अत समुद्रमे खारी लहरे उठेगी ? नही, नही। मेरे हृदयमे तो दूध, मधु और घीकी लहरे हिलोरे मार रही है।

(३०)

हृदयके इस समुद्रको निहारना सीखो। बाहरके निरभ्र नील आकाशको देखकर चित्तको भी निर्मल और निर्लेप बनाओ। सच पूछो तो चित्तकी एकाग्रता एक खेल है। मामूली बात है। चित्तकी व्यग्रता ही अस्वाभाविक और अनैसर्गिक है। छोटे बच्चोकी आखोकी ओर एक टक लगाकर देखो। छोटा बच्चा एक-सा टक लगाकर देखता है। लेकिन तुम दस बार पलक मारोगे। बच्चोका मन तुरत एकाग्र हो जाता है। चार-पाच महीनेके बच्चेको बाहरकी हरी-भरी सृष्टि दिखलाओ। वह एक-सा देखता रहेगा। स्त्रियोका तो ऐसा खयाल है कि बाहरकी हरियालीको देखकर उसकी विष्ठा भी हरे रगकी हो जाती है। मानो सब इद्रियोकी आखे बनाकर वह देखता है। छोटे बच्चेके मनपर किसी भी घटनाका बडा प्रभाव पडता है। शिक्षा-शास्त्री कहते है---शुरूके दो-चार सालोंमे जो शिक्षा बालकोको मिल जाती है वही वास्तविक शिक्षा है। आप कितने ही विद्यापीठ, पाठशाला, सघ कायम कीजिये। शुरूमे जो शिक्षा मिली है वह फिर कभी नही मिल सकती। शिक्षा-विषयसे मेरा सबध है। दिन-दिन मुझे यह निश्चय होता जा रहा है कि इस बाहरी शिक्षाका परिणाम शून्यवत् है। आरभिक सस्कार वज्रलेप हो जाते है। बादके शिक्षणको बाहरी रग, ऊपरी झिल्ली, समझो। साबुन लगानेसे ऊपरका दाग, मैल निकल जाता है, परतु चमडेका काला रग कैसे चला जायगा ? उसी तरह जो सस्कार आदिमे पड जाते है उनका मिटना कठिन हो जाता है।

तो ये आदिके सस्कार बलवान् क्यो ? बादके सस्कार कमजोर क्यो ? इसलिए कि बचपनमे चित्तकी एकाग्रता नैसर्गिक रहती है। एकाग्रता होनेके कारण जो सस्कार पडते है वे फिर नही मिटते। चित्तकी

एकाग्रताकी इतनी महिमा है; जिसे यह एकाग्रता प्राप्त हो गई उसके लिए क्या अशक्य है ?

हमारा सारा जीवन आज कृत्रिम हो गया है। हमारी बाल-वृत्ति मर गई है, नष्ट हो गई है। जीवनमे वास्तविक सरसता नही, वह शुष्क हो गया है। हम ऊट-पटाग, जैसे-तैसे, चल रहे है। डारविन साहब नही, बल्कि हम खुद अपनी कृतिसे यह सिद्ध कर रहे है कि मनुष्यके पूर्वज बदर थे।

छोटा बच्चा विश्वास-शील होता है। मा जो कहे वह उसके लिए प्रमाण। जो कहानिया उसे कही जाती है वे उसे असत्य नही मालूम होती। कौआ बोला, चिडिया बोली, यह सब उसे सच मालूम होता है। बच्चोकी इस मगल-वृत्तिके कारण उनकी एकाग्रता जल्दी हो जाती है।

(३१)

तात्पर्य यह कि ध्यानयोगके लिए चित्तकी एकाग्रता, जीवनकी परिमितता व शुभ साम्य-दृष्टिकी जरूरत है। इसके सिवा और भी दो साधन बताये है—वैराग्य और अभ्यास। एक है विध्वंसक और दूसरा है विधायक। खेतसे घास उखाडकर फेकना विध्वसक काम हुआ। इसीको वैराग्य कहते है। उसमे बीज बोना विधायक काम है। मनमे सद्-विचारोका पुन-पुन चितन करना अभ्यास कहलाता है। वैराग्य विध्वसक क्रिया है, अभ्यास विधायक क्रिया। अब वैराग्य आये कैसे ? हम कहते है—आम मीठा है, परन्तु क्या यह मिठास निरे आममे है ? नही, निरे आममे नही है। हम अपनी आत्माकी मिठास वस्तुमे डालते है और फिर वह वस्तु मीठी लगती है। अत भीतरी मिठासको चखना सीखो। केवल बाह्य वस्तुमे मधुरता नही है। बल्कि वह "रसाना रसतम." माधुर्य-सागर आत्मा मेरे निकट है, उसीकी बदौलत मीठी वस्तुओको मिठास मिली है, ऐसी भावना करते रहनेसे मनमे वैराग्यका सचार होता है। सीता माताने हनूमानको मोतियोका हार इनाममे दिया। हनूमान मोतियोको चबाता, देखता और फेंक देता। उनमे उसे कही 'राम' दिखाई नही देता था। राम तो था उसके हृदयमें। उन्ही मोतियोके लिए मूर्ख लोग लाख रुपये भी दे देते ।

इस ध्यान-योगका वर्णन करते हुए भगवान्ने एक बहुत ही महत्वकी बात शुरूमें ही बता दी है। वह यह कि मनुष्यको ऐसा दृढ सकल्प करना चाहिए कि मुझे स्वत अपना उद्धार करना है। मै आगे बढूगा। मैं ऊंची उडान मारूगा। इस नर-देहमे मै ज्यो-का-त्यो पडा नही रहूगा। परमेश्वरके पास जानेका साहस करूगा और ऐसा प्रयत्न भी करूगा।

यह सब सुनकर अर्जुनके मनमें शका उठी कि 'भगवन्, अब तो हमारी उमर बीत गई। कुछ दिनोमे हम मर जायगे तो फिर यह साधना क्या काम आयेगी।' भगवान्ने कहा--मृत्युका अर्थ तो है लबी नीद। रोज काम करके हम सात-आठ घटे सोते है। इस नीदसे कोई डरता है? बल्कि नीद न आये तो फिक्र पड जाती है। जैसे नीद जरूरी, वैसे ही मौत भी जरूरी है। जैसे नीदसे उठकर फिर हम अपना काम प्रारभ कर देते है वैसे ही मरणके बाद भी पहलेकी यह सारी साधना हमारे काम आ जायगी। ज्ञानदेवने ज्ञानश्वरीमे इस प्रसगको लेकर लिखी ओवियोमे मानो अपना आत्म-चरित्र ही लिख दिया हो—

"शैशवमें ही सर्वज्ञता। वरती है उन्हें।
सकल शास्त्र स्वयं हो। मुखसे निकलें।"

आदि चरणोमे यही दिखाई देता है। पूर्व-जन्मका अभ्यास तुम्हें खीच लेता है। किसीका चित्त विषयोकी ओर जाता ही नही। वह जानता ही नही कि मोह कैसा होता है। क्योकि पूर्व जन्ममे वह उनकी साधना कर चुका है।

"शुभकारी कभी कोई
पाता कुगतिको नहीं।"

जो मनुष्य कल्याण-मार्गपर चलता है उसका जरा भी श्रम व्यर्थ नही जाता। अतमें इस तरहकी श्रद्धा बताई गई है। जो कुछ अपूर्ण है वह अतको पूरा होकर रहेगा। भगवान्के इस उपदेशका सार ग्रहण करो और अपने जीवनको सार्थक करो।

सातवां अध्याय

रविवार, ३-४-३२

(३२)

भाइयो, अर्जुनके सामने जब स्वधर्म-पालनका प्रश्न उपस्थित हुआ तो उसके मनमे स्वकीय व परकीयका मोह उत्पन्न हो गया और वह स्वधर्माचरणसे बचनेकी तदबीर करने लगा। उसका यह वृथा मोह पहले अध्यायमे दिखाया गया। इस मोहको मिटानेकी तजवीजसे दूसरा अध्याय शुरू हुआ। उसमे ये तीन सिद्धात बताए गये (१) आत्मा अमर है और वह सर्वत्र व्याप्त है (२) देह नाशवान् है और (३) स्वधर्मका त्याग कभी न करना चाहिए। साथ ही कर्मफल–त्याग–रूपी वह तरकीब भी बतलाई जिससे उन सिद्धातोपर अमल करनेकी कुजी हाथ लग जाय। इस कर्मयोगका विवरण करते हुए उसमे से कर्म, विकर्म और अकर्म ये तीन चीजें पैदा हुई। कर्म-विकर्मके सगमसे उत्पन्न होनेवाले दो प्रकारके अकर्म पाचवे अध्यायमे हमने देख लिये। छठे अध्यायसे भिन्न-भिन्न विकर्म बतानेकी शुरुआत की गई। छठे अध्यायमे साधनाके लिए आवश्यक एकाग्रताका महत्त्व बताया गया।

आज सातवा अध्याय है। इस अध्यायमे विकर्मका एक नया ही भव्य भवन खोल दिया गया है। सृष्टि-देवीके मदिरमे, किसी विशाल वनमें, हम जिस तरह नाना प्रकारके मनोहर दृश्य देखते जाते है वैसा ही अनुभव गीता-ग्रथमे होता है। छठे अध्यायमें एकाग्रताका भवन देखा। अब हम जरा दूसरे भवनमे प्रवेश करें।

उस भवनका द्वार खोलनेके पहले ही भगवान्ने इस मोहकारिणी जगत्-रचनाका रहस्य समझा दिया है। एक ही प्रकारके कागद पर एक ही कूचीसे चित्रकार नानाविध चित्र निकालता है। कोई सितारी सात सुरोसे ही अनेक राग निकालता है। वाङ्मयमे ५२ अक्षरोकी सहा-

यातासे हम नाना प्रकारके विचार व भाव प्रकट करते है। वैसे ही इस सृष्टिको समझो। सृष्टिमे अनत वस्तुए और अनत वृत्तिया दिखाई देती है। परतु यह सारी अतर्बाह्य सृष्टि एक ही अखड आत्मा व एक ही अष्टधा प्रकृति इस दुहेरे मसालेसे बनी हुई है। क्रोधी मनुष्यका क्रोध, प्रेमी मनुष्यका प्रेम, दु खितका क्रदन, आनदीका हर्ष, आलसीका नीदकी ओर झुकाव, उद्योगीका कर्मस्फुरण—ये सब एक ही चैतन्य-शक्तिके खेल है। इन परस्पर विरुद्ध भावोके मूलमे एक ही चैतन्य यहासे वहा तक भरा हुआ है। भीतरी चैतन्य एक ही है। उसी तरह बाह्य आवरणका भी स्वरूप एक-सा ही है। चैतन्यमय आत्मा व जड प्रकृति इस दुहेरे मसालेसे सारी सृष्टि बनी है, जन्मी है—यह आरभमे ही भगवान् बता रहे है।

आत्मा व देह, परा व अपरा प्रकृति, सर्वत्र एक ही है, फिर मनुष्य मोहमे क्यो पड जाता है, भेद क्यो दिखाई देता है ? प्रेमी मनुष्यका चेहरा मधुर मालूम होता है। तो किसी दूसरेको देखकर तबियत हटती है। एकसे मिलनेकी व दूसरेसे परहेज करनेकी तबियत क्यो होती है ? एक ही पेन्सिल, एक ही कागज, एक ही चित्रकार। परतु नाना चित्रोसे नाना भाव प्रकट होते है। चित्रकारकी यही कुशलता है। चित्रकारकी कूचीमे, सितारीकी उगलियोमे ऐसी कुशलता है कि वे हमे रुला देते है, हसा देते है। यह सारी खूबी उनकी उन उगलियोमे है।

यह नजदीक रहे, वह दूर रहे, यह मेरा, वह पराया, ऐसे जो विचार मनमे आते है और जिनकी वजहसे समय पर कर्त्तव्यसे भी पीछे हटनेकी प्रवृत्ति होने लगती है, उसका कारण मोह है। इस मोहसे बचना हो तो उस सृष्टि-निर्माताकी उगलीकी करामातका रहस्य समझ लेना चाहिए। बृहदारण्यक उपनिषद्मे नगारेका दृष्टात दिया गया है। एक ही नक्कारे-से भिन्न-भिन्न नाद निकलते है। कुछ नादोसे मै भयभीत हो जाता हू, कुछको सुनकर नाच उठता हू। इन सब भावोको यदि जीत लेना है तो नक्कारा बजाने वालेको पकड लेना चाहिए। उसके पकड़मे आते ही सारे नाद पकडमे आ जाते है। भगवान् एक ही वाक्यमे कहते हैं—'जो मायाको तैर जाना चाहते है वे मेरी शरणमे आवे।'

यहां वही लीला तरें, जो मेरी शरण गहे,
वे यहीं भस्म करें, माया-जाल ॥

तो यह माया क्या है ? माया कहते हैं परमेश्वरकी शक्तिको, उसकी कला-कुशलताको । आत्मा व प्रकृति—अथवा जैन परिभाषामे कहे तो जीव व अजीव—रूपी इस मसालेसे जिसने यह अनत रगोंवाली सृष्टि रची है उसकी शक्ति अथवा कला ही माया है । जेलखानेमे जिस तरह एक ही अनाजकी वह रोटी और वही एक सर्व-रसी दाल होती है वैसे ही एक ही अखड आत्मा व एक ही अष्ट-धा शरीर समझो । इससे परमेश्वर तरह-तरहकी चीजे बनाता रहता है । हम इन चीजोको देख-कर भिन्न-भिन्न परस्पर विरोधी अच्छे-बुरे भावोका अनुभव करते हैं । इसके परे जाकर यदि हम सच्ची शाति पाना चाहते है तो इन वस्तुओके निर्माताको जा पकडना चाहिए । उससे परिचय कर लेना चाहिए । उससे जान-पहचान होनेपर ही इस भेद-जनक, आसक्ति-जनक मोहसे बचा जा सकेगा ।

उस परमेश्वरको समझ लेनेका एक महान् साधन—एक महान् विकर्म—बतानेके लिए सातवे अध्यायमे भक्तिका भव्य भवन खुला कर दिया है । चित्त-शुद्धिके लिए, यज्ञ-दान, जप-तप, ध्यान-धारणा, इत्यादि अनेक विकर्म बताये जाते हैं । परतु इन साधनोको मै सोडा, साबुन, अरीठा—इनकी उपमा दूगा । लेकिन भक्तिको पानी कहूंगा । सोडा, साबुन, अरीठा सफाई लाते हैं, परतु पानीके बिना उनका काम नही चल सकता । पानी न हो तो उनसे क्या लाभ ? इसके विपरीत यदि सोडा, साबुन, अरीठा न हो पर केवल पानी ही हो तो भी निर्मलता जरूर आ सकती है । उस पानीके साथ यदि ये पदार्थ भी हो तो 'अधिकस्य अधिक फलम्' हो जायगा, दूधमे शकर पडी कहेगे । यज्ञ, याग, ध्यान, तप, इन सबमे यदि हार्दिकता न हो तो फिर चित्त-शुद्धि होगी कैसे ? हार्दिकताका ही अर्थ है भक्ति ।

सब प्रकारके साधनोको भक्तिकी जरूरत है । भक्ति एक सार्व-भौम उपाय है । कोई सेवा-शास्त्रका जानकार, उपचारोसे भलीभाति परिचित मनुष्य किसी रोगीकी सेवा-शुश्रूषाके लिए जाता है; पर यदि

उसके मनमे सेवाकी भावना न हो तो बताओ सच्ची सेवा कैसे बनेगी ? बैल भले ही खासा मोटा-ताजा हो पर यदि गाडी खीचनेकी इच्छा ही उसे न हो तो वह कधा डालकर बैठ जायगा—और सभव है कि गाडीको किसी खड्डेमें भी गिरा दे। जिस कार्यमे हार्दिकता नही है उससे न तुष्टि मिल सकती है, न पुष्टि।

(३३)

यह भक्ति होगी तो उस महान् चित्रकारकी कलाको हम देख सकेगे। उसके हाथ भी वह कलम हम देख सकेगे। जहा एक बार उस उद्गमके झरनेको वह वहाके अपूर्व मधुर रसको चख लिया तो फिर बाकीके सब रस तुच्छ व नीरस मालूम होगे। जिसने वास्तविक केले खा लिये वह लकडीके रगीन केले हाथमे लेगा ? बडे सुदर है कहकर एक ओर रख देगा। असली केलोका स्वाद मिल जानेके कारण उसे इन नकली केलोके प्रति कोई उत्साह नही रहता है। इसी तरह जिसे असली झरनेकी मिठास-का मजा आगया है, वह बाहरके गुलाब-शर्बत पर लट्टू नही होगा।

एक दार्शनिक-तत्वज्ञानीको लोगोने कहा—'महाराज, चलिये शहरमे आज बडी आराइश की गई है।' दार्शनिकने पूछा—'भाई यह आराइश क्या होती है ? एक दिया, इसके बाद दूसरा, फिर तीसरा इस तरह लाख, दस लाख, करोड, जितने चाहे गिनलो। गणितश्रेढीमे होती है, १+२ +३ इस तरह अनत तक। सख्या सख्यामे जो अत रखना हो, वह यदि मालूम हो जाय, तो फिर सारी सख्या लिखनेकी जरूरत नही रहती। उसी तरह वे दिये एक के बाद एक रख दिये। इसमे इतना मशगूल होने जैसी कौनसी बात है ? परतु मनुष्यको ऐसे आनद प्रिय होते है। वह नीबू लायेगा, शकर लायेगा, पानीमे उसे घोलेगा और फिर बडे स्वादसे पीकर कहेगा—'वाह क्या बढिया शिकजी बनी है।' जबानको जायका लेनेके सिवा और काम ही क्या है ?यह इसमें मिलाओ, वह उसमे मिलाओ। ऐसी चाट खानेमे ही उसे सारा मजा। बचपन मे एक बार मै सिनेमा देखने गया था। साथमे एक टाटका टुकडा ले गया था। मतलब यह कि नीद आने लगे तो सो जाऊ। परदेपर आखोको चौंधिया देनेवाली वह आग मै देखने लगा।

दो ही चार मिनटमें उन अग्नि-चित्रोको देखकर मेरी आखे थकने लगी। मैं अपने टाटपर सो गया व कहा कि जब खतम हो जाय तो जगा लेना। रातको बाहर खुली हवामे आकाशके चाद-तारे देखना छोड़कर, शांत सृष्टिका वह पवित्र आनद छोडकर, उस कुद थियेटरमें आगकी पुतलियोको नाचता देखकर तालिया पीटते हैं ! मेरी समझमे ही यह सब न आता था।

मनुष्य इतना निरानद कैसे ? उन निर्जीव पुतलियोको देखकर आखिर बेचारा किसी तरह थोडा आनद प्राप्त कर लेता है। जीवनमें जबकि आनद नही है तो फिर ऐसे कृत्रिम आनद खोजते हैं। एक बार हमारे पडौसमे 'टमटम' बजना शुरू हुआ। मैंने पूछा—'यह बाजा क्यों।' तो कहा गया—'लडका हुआ है!' दुनियामें क्या एक तुम्हारे ही लडका हुआ है ? जो 'टमटम' बजाकर दुनियाको कहता है कि मेरे यहां लड़का हुआ है। नाच, गान, खेल होते है—इसलिए कि लड़का हुआ है। यह सब लडकपन नही तो क्या है ? मानो आनंदका अकाल ही पड गया है। अकालके दिनोमे जैसे कही अनाजका दाना दिखते ही लोग टूट पडते हैं उसी तरह जहा लडका हुआ, सरकस आया, सिनेमा आया कि ये आनद के भूखे-प्यासे बेचारे टिड्डीकी तरह टूट पडते है।

क्या यह सच्चा आनद है ? गाना कानोंमे घुसकर उसकी लहरें दिमागको धक्का पहुचाती है। आखोमे रूप घुसकर दिमागको धक्का देता है। इस धक्के लगनेमे ही बेचारोका वह आनद समाया रहता है। कोई तमाखू कूटकर उसे नाकमे घुसेडता है, कोई उसकी बीडी बनाकर मुहमें खोसता है। उस सुघनीका या उस धुएका धक्का लगा तो मानो उन्हे आनदकी गठरी मिल जाती है। बीडीका ठूट मिलते ही उनके आनद-की सीमा नही रहती। टाल्स्टाय लिखते हैं—'उस सिगरेटकी खुमारीमें वह कभी किसीका खून भी कर डाले तो आश्चर्य नही।' वह एक प्रकारका नशा ही समझो!

ऐसे आनदमें मनुष्य क्यो मस्त हो जाता है ? क्योकि उसे वास्तविक आनदका पता नही है। मनुष्य परछाईमें ही पागल हो रहा है। आज वह पाच ज्ञानेद्रियोंका ही आनद ले रहा है। यदि आंख इंद्रिय उसके न

होती तो वह चार ही इंद्रियोका आनंद ससारमे मानता । कलको यदि मगल ग्रहसे कोई छ इद्रिय वाला मनुष्य नीचे उतर आये तो ये बेचारे पाच इंद्रियोवाले रोने लग जायगे व कहेगे कि 'इसके मुकाबले हम कितने दीन-हीन है ।'

सृष्टिका सारा अर्थ इन पाच इद्रियोको कैसे मालूम होगा ? इन पाच विषयोमे भी फिर वह चुनाव करता है और उनमे रमता रहता है । गधेका रेकना उसके कानोमे गया तो कहता है वहासे यह अशुभ आवाज आ गई । तो क्या तुम्हारा दर्शन होनेसे गधेका कुछ अशुभ नही होगा ? तुम्हीको अलबत्ते उससे नुकसान होता है । क्या दूसरोका तुमसे कुछ नही बिगडता ? मान लिया है कि गधेका रेकना अशुभ है । एक बार मेरे बडौदा कालेजमे रहते हुए कुछ यूरोपियन गायक आये । थे तो वे उत्तम गवैये । अपनी तरफसे कमाल कर रहे थे । परतु मैं सोच रहा था कि कब यहासे भाग छूटू । क्योकि मुझे वैसा गाना सुननेकी आदत नही थी । मैंने उन्हे फेल कर दिया । हमारी तरफके गवैये यदि उधर गय तो कदाचित् वे वहा फेल समझे जायगे । इस तरह सगीनसे एकको आनद होता है तो दूसरेको नही । मतलब यह सच्चा आनद नही है, मायावी आनद है । जबतक वास्तविक आनदका दर्शन न होगा तबतक इस झूठे, धोखा-देह आनदमे ही झूलते रहेगे । जबतक असली दूध नही मिला था तबतक आटा घोलकर बनाया दूध ही अश्वत्थामा दूध कहकर पीता था । इस तरह जब आप सच्चा स्वरूप समझ लेगे, उसका आनद चख लेगे तो फिर दूसरी सब चीजे फीकी लगेगी ।

इस आनदका पता लगानेके लिए उत्कृष्ट मार्ग है भक्ति । इस रास्ते चलते-चलते परमेश्वरी कुशलता मालूम हो जायगी । उस दिव्य कल्पनाके आते ही दूसरी सब कल्पनाए अपने-आप विलीन हो जायगी । फिर क्षुद्र आकर्षण नही रह जायगा । फिर ससारमे एक ही आनद भरा हुआ दिखाई देगा । मिठाईकी दूकाने भले ही सैकडो हो, परतु मिठाइयो-का प्रकार सबमे एक-सा होता है । सो जबतक असली चीज हाथ न लगेगी तबतक हम चचल चिडियाकी तरह एक चीज यहाकी खायेगे, एक वहाकी । सुबह मैं तुलसी रामायण पढ रहा था । दियेके पास कीडे जमा हो रहे थे

इतनेमे वहां एक छिपकली आई। उसे मेरी रामायणसे तो क्या लेना देना था ? कीडे देखकर उसे कितना आनद हो रहा था ! वह कीड़ोपर झपटने वाली थी कि मैंने जरा हाथ हिलाया, वह भाग गई। परतु उसका ध्यान एक-सा था कीडेकी ओर। मैंने अपने मनमें कहा—"तू इस कीड़ेको खा लेगी ? तेरी जबानमे लार टपकती है ?" मेरी जबानमे लार नही टपकी। जिस रसका आनद मैं लूट रहा था, उसका उस बेचारी छिपकलीको क्या पता ? वह रामायणका रस नही चख सकती थी। इस छिपकलीकी तरह हमारी दशा है। हम नाना रसोमे मस्त है। परंतु यदि सच्चा रस मिल जाय तो क्या बहार हो ? भगवान् भक्ति-रूपी एक साधन दिखा रहे है, जिससे हम उस असली रसको पा व चख सके।

(३४)

भगवान्‌ने भक्तके तीन प्रकार बतलाए है—(१) सकाम भक्ति करनेवाला, (२) निष्काम परतु एकागी भक्ति करनेवाला, (३) ज्ञानी अर्थात् सपूर्ण भक्ति करने वाला। निष्काम परतु एकागी भक्ति करने वालोके तीन प्रकार है—(१) आर्त (२) जिज्ञासु (३) अर्थार्थी। भक्ति-वृक्षकी ये शाखा-प्रशाखाए है।

तो सकाम भक्तका अर्थ क्या ? कुछ इच्छा मनमे रखकर भगवान्‌के पास जानेवाला। मै उसकी यह कह कर निन्दा न करूगा कि यह भक्ति निकृष्ट पकारकी है। कई लोग सार्वजनिक सेवा-क्षेत्रमे इसीलिए कूदते है कि मान-सम्मान मिले। इसमे नुकसान क्या है ? आप उन्हे मान दीजिए। उनका खूब सम्मान कीजिए। इस सम्मानसे कुछ बिगाड न होगा। ऐसा मान मिलते रहनेसे फिर आगे चलकर सार्वजनिक सेवामें वे सुस्थिर हो जायगे। फिर उसी काममे उन्हे आनद मालूम होने लगेगा। मान पानेकी जो इच्छा होती है उसका भी अर्थ आखिर क्या है ? यही कि उस सम्मानसे हमे यह निश्चय, विश्वास हो जाता है कि जो काम हम करते है वह उत्तम है। मेरी सेवा अच्छी या बुरी, यह समझनेके लिए जिसके पास कोई आतरिक साधन नही है, वह इस बाह्य साधनका अवलबन लेता है। माने बच्चेकी पीठ ठोककर कहा शाबाश, तो उसकी तबियत

होती है कि माका काम और भी करे। यही बात सकाम भक्तिकी है। सकाम भक्त परमेश्वरके पास जाकर कहेगा—'दो'। सबकुछ परमेश्वरसे मागनेकी प्रवृत्ति होना कोई मामूली बात नही। यह असाधारण बात है। ज्ञानदेवने नामदेवसे पूछा—'तीर्थयात्राको चलोगे न ?' नामदेवने पूछा—'किसलिए ?' ज्ञानदेवने जवाब दिया—'साधु संतोंका समागम होगा।' नामदेवने कहा—'तो भगवान्से पूछ आता हू।' नामदेव मंदिरमें जाकर भगवान्के सामने खडे हो गये। उनकी आखो से आसू बहने लगे। भगवान्के उन समचरणोकी ओर ही वह देखते रहे। अतको रोते-रोते उन्होने पूछा—'प्रभो, क्या मै जाऊ ?' ज्ञानदेव पास ही थे। इस नामदेवको क्या आप पागल कहेगे ? ऐसे लोग कम नही है जो स्त्रीके घरमे न होनेपर रोते है। परतु परमेश्वरके पास जाकर रोनेवाला भक्त भले सकाम ही क्यो न हो, असाधारण है। अब यह उसका अज्ञान समझना चाहिए कि जो वस्तु सचमुच मागने योग्य है उसे वह नही मागता। परतु इतनेके लिए उसकी सकाम भक्ति त्याज्य नही मानी जा सकती।

स्त्रिया सुबह उठकर नाना प्रकारके व्रत आदि करती है, आरती करती है, दीपक दिखाती है, तुलसीकी प्रदक्षिणा करती है। किसलिए ? मरनेके बाद परमेश्वरका अनुग्रह प्राप्त हो। उनके मनकी ऐसी भोली धारणा हो सकती है। परतु उसके लिए वे व्रत, जप, उपवास आदि अनुष्ठान करती है। ऐसे व्रत-शील परिवारमे महापुरुषोका जन्म होता है। तुलसीदासके कुलमें रामतीर्थ उत्पन्न हुए। रामतीर्थ फारसी भाषाके ज्ञाता थे। किसीने कह दिया—'तुलसीदासके कुलमे जन्मे हो और तुम सस्कृत नही जानते हो ?' रामतीर्थको यह बात चुभ गई। कुलस्मृतिका यह कितना सामर्थ्य ! इससे प्रेरित होकर वे सस्कृतके प्रगाढ अध्ययनमे जुट पडे। स्त्रिया जो भक्ति-भाव रखती हैं उसकी दिल्लगी न उड़ानी चाहिए। जहा भक्तिका ऐसा एक-एक कण सचित होता है वहा तेजस्वी सतति उत्पन्न होती है। इसीलिए भगवान् कहते हैं—"मेरा भक्त सकाम होगा तो भी उसकी भक्तिको दृढ करूंगा। उसके मनमें गोलमाल नहीं होने दूगा। यदि वह मुझसे सच्चे हृदयसे प्रार्थना करेगा कि मेरा रोग दूर कर दो तो मै उसके आरोग्यकी भावनाको पुष्ट करके उसका रोग दूर

कर दूगा। किसी भी निमित्तसे क्यो न हो, वह मेरे पास आवेगा तो मैं उसकी पीठपर हाथ फेरकर उसको अवश्य अपनाऊगा।" ध्रुवका ही उदाहरण लीजिए। पिताजीकी गोदीमे बैठने न पाया तो उसकी मांने कहा, ईश्वरसे स्थान माग। वह उपासनामें जुट पड़ा। भगवान्ने उसे अचल स्थान दे दिया। मन यदि निष्काम न हो तो भी क्या हुआ? असल बात यह है कि मनुष्य जाता किसके पास है, मांगता किससे है? ससारके सामने हाथ न पसारकर ईश्वरको मनानेकी वृत्तिका महत्त्व कम न आकना चाहिए।

निमित्त कुछ भी हो, तुम भक्ति-मदिरमे जाओ तो। शुरूमें यदि कामना लेकर भी आगे होगे तो आगे चलकर निष्काम हो जाओगे। प्रदर्शिनियां की जाती है। उनके सचालक कहते हैं—"अजी आप आकर तो देखिए, कैसी बढिया, रगीन, महीन खादी बनने लगी है। जरा नमूना तो देखिए।" गाहक आता है, व प्रभावित होता है। यही बात भक्तिकी है। भक्ति-मदिरमें एक बार प्रवेश तो करो, फिर वहाका सौदर्य व सामर्थ्य अपने-आप मालूम हो जायगा। स्वर्ग जाते हुए धर्मराजके साथ अतको एक कुत्ता ही रह गया। भीम, अर्जुन, सब रास्तेमे गल गये। स्वर्ग-द्वारके पास धर्मसे कहा गया—'तुम आ सकते हो, परतु यह कुत्ता नही जा सकता।' धर्मने कहा—'अगर मेरा कुत्ता नही जा सकता तो मै भी नही जा सकता' अनन्य सेवा करनेवाला कुत्ता भी क्यो न हो, परतु दूसरे 'मैं-मैं' करनेवालोसे तो वह श्रेष्ठ ही है। और वह कुत्ता भीम-अर्जुनसे भी श्रेष्ठ साबित हुआ। परमेश्वरकी ओर जानेवाला भले ही एक कीड़ा क्यो न हो, वह परमेश्वरकी ओर न जानेवाले बडे-से-बडे व्यक्तिसे श्रेष्ठ व महान् है। मदिरमे कछुए व नदीकी मूर्तिया होती है, परतु उस नदी—बैलको सब नमस्कार करते है। क्योकि वह साधारण बैल नही है। वह भगवान्के सामने रहता है। बैल होनेपर भी यह नही भूल सकते कि वह परमेश्वरका है। बडे-बड़े बुद्धिमानोंकी अपेक्षा वह श्रेष्ठ है। एक बावला जीव भी क्यो न हो, वह यदि भगवान्का स्मरण करता है तो विश्व-वन्द्य हो जाता है।

एक बार मै रेलमे जा रहा था। यमुनाके पुलपर गाडी आई। पाससे एक आदमीने बडे पुलकित हृदयसे उसमे एक धेला डाल दिया। पड़ोसमें एक आलोचक महाशय बैठे थे। कहने लगे—"देश पहले ही

कगाल है, और ये लोग यो व्यर्थ पैसा फेकते है।" मैने कहा—"आपने उसके हेतुको पहचाना नही। जिस भावनासे उसनें धेला-पैसा फेका उसकी कीमत दो-चार पैसे भी हो सकती है या नही ? यदि दूसरे सत्कार्यके लिए ये पैसे दिये होते तो यह दान और भी अच्छा हुआ होता, किंतु इस बातका विचार पीछे करेगे। परतु उस भावनाशील मनुष्यने तो इसी भावनासे प्रेरित होकर यह त्याग किया है कि यह नदी क्या, ईश्वरकी करुणा ही बह रही है। इस भावनाके लिए आपके अर्थ-शास्त्रमे कोई स्थान है क्या ? देशकी एक नदीको देखकर उसका अत करण द्रवित हो उठा। यदि इस भावनाकी आप कद्र कर सके तो मै आपकी देश-भक्ति-को परखूगा। देश-भक्तिका अर्थ क्या रोटी है ? देशकी एक महान् नदीको देखकर यदि यह भावना मनमे जगती है कि अपनी सारी सपत्ति इसमे डुबो दू, उसके चरणोमे अर्पण कर दू, तो यह कितनी बडी देश-भक्ति है ? वह सारी धन-दौलत, वे सब हरे-पीले पत्थर, कीडोकी विष्ठासे बने मोती व कोयलेसे बने हीरे—इन सबकी कीमत पानीमे डुबो देने लायक ही है। परमेश्वरके चरणोके आगे ये सब धूल तुच्छ समझो। आप कहेगे कि नदीका व परमेश्वरके चरणोका क्या सबध ? आपकी सृष्टिमे पर-मात्माका कुछ सबध है भी ? नदी है आक्सिजन व हाइड्रोजन। सूर्य है गैसकी बत्तीका एक बडा-सा नमूना। उसे नमस्कार क्या करे ? नमस्कार करना होगा सिर्फ आपकी रोटीको। फिर उस रोटीमे भी भला क्या है ? वह भी तो आखिर एक सफेद मिट्टी ही है। उसके लिए क्यो इतनी लार टपकाते हो ? इतना बडा यह सूर्य उगा है, ऐसी यह सुदर नदी वह रही है—इनमे यदि परमेश्वरका अनुभव न होगा तो फिर होगा कहा ?" अग्रेज कवि वर्डस्वर्थ बडे दु खसे कहता है—"पहले जब मै इद्र-धनुष देखता था, मै नाच उठता था। हृदय हिलोरे मारने लगता था, पर आज मै क्यो नही नाच उठता ? पहलेकी जीवन-माधुरी खोकर कही मै पत्थर तो नही हो गया ?"

मतलब यह कि सकाम भक्ति अथवा गवार मनुष्यकी भावनाका भी बडा महत्त्व है। अतमे इससे महान् सामर्थ्य पैदा होता है। जीवधारी कोई भी व कैसा ही हो वह जब एक बार परमेश्वरके दरबारमें आ जाता

तो फिर मान्य हो जाता है। आगमें किसी भी लकड़ीको डालिये, वह जल ही उठेगी। परमेश्वरकी भक्ति एक अपूर्व साधना है। परमेश्वर सकाम भक्तिकी भी कद्र करेगा। आगे जाकर वह भक्ति निष्कामता व पूर्णताकी ओर चली जायगी।

(३५)

सकाम भक्त यह एक प्रकार हुआ। अब निष्काम भक्ति करनेवालोसे मिले। इनमे भी और दो प्रकार—एकागी और पूर्ण। एकागी तीन प्रकार। उनमे पहला प्रकार आर्त्त भक्तोका। आर्त्त होता है दया-प्रार्थी, भगवान्के लिए रोने-चिल्लाने व छटपटानेवाला जैसे नामदेव। वह इस बातके लिए उत्सुक, व्याकुल, अधीर, आतुर रहता है कि कब भगवान्के प्रेम-रसका पान करूगा, कब उससे गले लिपटकर जीवनको कृतार्थ करूगा, कब उसके चरणोमे अपनेको डालकर धन्य होऊगा। प्रत्येक कार्यमे वह यह देखेगा कि सच्चाई, हार्दिकता, व्याकुलता, प्रेम है या नही? दूसरा प्रकार है, जिज्ञासुओका। फिलहाल अपने देशमे इस श्रेणीके भक्त बहुत नही है। इस कोटिके भक्त कोई गौरीशकर पर बार-बार चढेंगे व मरेगे, कोई उत्तर ध्रुवकी खोजमे निकलेगे और अपनी खोजके फल कागदपर लिखकर उन्हे बोतलमे बद करके पानीमे छोडकर मर जायगे, कोई ज्वालामुखीके उदरमे उतरेगे। अभी तो हिंदुस्तानियोके लिए मौत एक हौआ हो बैठी है। कुटुब परिवारके भरण-पोषणसे बढकर कोई पुरुषार्थ ही नही रहा है! जिज्ञासु भक्तके पास अदम्य जिज्ञासा होती है। वह प्रत्येक वस्तुके गुण-धर्मकी खोज करता है। मनुष्य जैसे नदी-मुखके द्वारा अतमे समुद्रको पा जाता है उसी तरह यह जिज्ञासु भी अतको परमेश्वरतक पहुच जायगा। तीसरा वर्ग है अर्थार्थियोंका। अर्थार्थीका अर्थ है प्रत्येक बातमे अर्थ देखनेवाला। 'अर्थ' का यहा रुपये-पैसोसे मतलब नही, बल्कि हित-कल्याणसे है। किसी भी बातकी जाच करते समय वह उसे इस कसौटीपर कसेगा—इसके द्वारा समाजका क्या कल्याण होगा? वह देखेगा कि मै जो कुछ कहता, लिखता, करता हू उससे संसारका मंगल होगा या नही? निरुपयोगी अहितकर क्रिया उसे मजूर न होगी। ससार-

के हितकी चिता करनेवाला कितना बडा महात्मा है ! जगत्का कल्याण ही उसका ग्रानद है। जो प्रेमकी दृष्टिसे समस्त क्रियाग्रोको देखता है वह ग्रार्त्त, ज्ञानकी दृष्टिसे देखता है वह जिज्ञासु व सबके कल्याणकी दृष्टिसे देखता है वह ग्रर्थार्थी।

ये तीनो भक्त है तो निष्काम, परतु एकांगी है। एक कर्मके द्वारा, दूसरा हृदयके द्वारा, तीसरा बुद्धिके द्वारा, ईश्वरके पास पहुचता है ! ग्रब रहा बाकी पूर्ण भक्तका प्रकार। इसीको ज्ञानी भी कह सकते हैं। इस भक्तको जो कुछ दीखता है सो सब परमेश्वरका ही रूप। कुरूप-सुरूप, राव-रक, स्त्री पुरुष, पशु-पक्षी सर्वत्र परमात्माके ही पावन दर्शन।

नर नारी बच्चे सब ही नारायण।
ऐसा मेरा मन बनाग्रो प्रभु॥

सत तुकारामकी ऐसी प्रार्थना है। हिंदू-धर्ममे जैसे नाग-पूजा, हाथीकी सूड रखने वाले देवताकी पूजा, पेडोकी पूजा ग्रादि पागलपनके नमूने हैं उनसे भी ग्रधिक पागलपनकी कमाल ज्ञानी भक्तोके यहा हुई दीखती है। उनसे कोई भी क्यो न मिले, उन्हे चीटीसे लेकर चद्र-सूर्यतक सर्वत्र एक ही परमात्मा दीखता है ग्रौर उसका हृदय ग्रानदसे हिलोरे मारने लगता है।

फिर वह सुख ग्रनंत-ग्रपार।
ग्रानंदसे सागर हिलोरता॥

ऐसा जो यह दिव्य व भव्य दर्शन है, उसे भले ही ग्राप भ्रम कहे। परतु यह भ्रम सौख्यकी राशि है, ग्रानदका स्थान-निधि है। गंभीर सागरमे उसे परमेश्वरका विलास दिखाई देता है, गो-माता में उसे ईश्वरका वात्सल्य नजर ग्राता है। पृथ्वीमे उसकी क्षमता दीख पडती है, निरभ्र ग्राकाशमे उसकी निर्मलता, रवि-चद्र-तारोमें उसका तेज व भव्यता दीखती है। फूलमे उसकी कोमलता, दुर्जनोमे ग्रपनी परीक्षा करने वाला परमेश्वर दीखता है। इस तरह 'एक ही परमात्मा सर्वत्र रम रहा है'— यह देखनेका ग्रभ्यास ज्ञानी भक्त किया करते है। ऐसा करते हुए वह— ज्ञानी भक्त—एक दिन ईश्वरमे ही मिल जाता है।

आठवां अध्याय

रविवार, १०-४-३२

(३६)

मनुष्यका जीवन अनेक सस्कारोसे युक्त होता है। हमसे असंख्य क्रियाए होती रहती है। यदि हम उनका हिसाब लगाने लगे तो उसका अत ही नही आ सकता। यदि मोटे तौर पर हम चौबीस घटोकी ही क्रियाओको देखने लगे तो उनकी गिनती कितनी बढ जायगी। खाना, पीना, बैठना, सोना, चलना, फिरना, काम करना, लिखना, बोलना पढना-- इनके अलावा नाना प्रकारके स्वप्न, राग-द्वेष, मानापमान, सुख-दु ख आदि अनत प्रकार दिखाई देगे। इन सबके सस्कार हमारे मन पर होते रहते है। अत अगर कोई मुझसे पूछे कि जीवन किसे कहते है, तो मै उसकी व्याख्या करूगा—सस्कार-सचय।

सस्कार दोनो प्रकारके होते है—अच्छे भी और बुरे भी । दोनो का प्रभाव मनुष्यके जीवनपर पडता रहता है। बचपनकी क्रियाओंकी तो हमे याद भी नही रहती। सारा बालपन इस तरह मिट जाता है जैसे स्लेटपर लिखकर पोछ दिया हो। पूर्व-जन्मके सस्कार तो बिलकुल ही साफ पोछ दिये जैसे हो जाते है—यहातक कि इस बातकी भी शंका उठ सकती है कि पूर्व-जन्म था भी या नही। जब इस जन्मका ही बचपन याद नही आता तो फिर पूर्व-जन्मकी तो बात ही क्या ? पूर्व-जन्मको जाने दीजिए, हम इसी जन्मका विचार करे। जितनी क्रियाए हमे याद रहती है उतनी ही होती है—सो बात नही। क्रियाएं अनेक होती है और ज्ञान भी अनेक। परतु ये क्रियाए व ज्ञान मिटकर अतमे कुछ संस्कार ही शेष रह जाते है। रातको सोते समय दिनकी सब क्रियाओको यदि हम याद करने लगें तो भी याद नही आती। याद कौनसी क्रियाए आती हैं ? वे ही क्रियाए हमारी आखोके सामने आ जाती है जो बहुत स्पष्ट व प्रभावकारी

होती है। यदि हमारा बहुत लडाई-झगडा किसीसे हुआ हो तो वह याद रहता है। क्योकि उस दिनकी वही मुख्य कमाई होती है। मुख्य व स्पष्ट क्रियाओके सस्कार मन पर बडे गहरे हो जाते हैं। मुख्य क्रिया याद रहती है, शेष सब फीकी पड जाती हैं। यदि हम रोजनामचा लिखने बैठे तो दो ही चार महत्वकी बाते लिख लेते है। यदि प्रति दिनके ऐसे सस्कार को लेकर एक हफ्तेका हिसाब लगाने लगे तो और भी कई बातें इसमेसे निकल जायगी व सप्ताहकी मुख्य घटनाये ही कायम रह जायगी। फिर महीनेभर बाद हम अपने पिछले कामोका हिसाब लगाने बैठे तो उतनी ही बाते हमारे सामने आती रहेगी जो उस मासमे बहुत मुख्य-मुख्य रही होगी। इसी तरह फिर छ महीना, साल, पाच सालका हिसाब लगावें तो बहुत ही थोडी महत्त्वपूर्ण बाते याद रहेगी और उन्हीके सस्कार बनेगे। असख्य क्रियाओ व अनत ज्ञानोके हो जानेपर भी अतको मनके पास बहुत थोडी बचत रहती है। वे विभिन्न कर्म व ज्ञान आये व अपना काम करके मर गये। उन सब कर्मोके पाच-दस दृढ सस्कार ही शेष रह जाते है। ये सस्कार ही हमारी पूजी है। हम जीवन-रूपी व्यापार करके सिर्फ सस्कार-रूपी सपत्ति जोडते है। जैसे व्यापारी रोजका, महीनेका, व साल भरका जमा-खर्च करके अतमे नफे या टोटेका एक ही आकडा निकालता है उसी प्रकार जीवनका हाल होता है। अनेक सस्कारोका जमा-नामे होते-होते अतको एक अत्यत ठोस सीमित निचोड जैसी चीज बाकी बच जाती है। जब जीवनकी अतिम घडी आती है तब जीवनकी आखिरी रोकड़ बाकी आत्मा याद करने लगता है। जन्म भरमे क्या-क्या किया—इसकी जब वह याद करता है तो सारी कमाईके रूपमे दो-चार बाते ही नजर आती है। इसका यह अर्थ नही कि वे सब कर्म व ज्ञान व्यर्थ चले गये। उनका काम पूरा हो गया है। हजारो उखाड-पखाड के बाद अखीरमे कुल पाच हजारका घाटा नफा या दस हजारका नफा इतना ही सार व्यापारीके हाथ लगता है। नुकसान हुआ तो छाती बैठ जाती है, फायदा रहा तो दिल उछलने लगता है।

हमारे जीवनकी भी ऐसी ही बात है। मरनेके समय यदि खानेकी वासना हुई तो सारी जिंदगी भर भोजनकी रुचि लेनेका ही अभ्यास करते

रहे यह सिद्ध होगा। भोजन या स्वादकी वासना यही जिंदगी भरकी कमाई। किसी माताको मरते समय यदि बेटेकी याद हो आई तो उसका पुत्र-संबंधी संस्कार ही बलवान् मानना चाहिए। बाकी जो असंख्य कर्म किये वे गौण सिद्ध हो गये। अंकगणितमें अपूर्णांकके सवाल होते हैं। कितनी बड़ी-बड़ी संख्याएं। परंतु संक्षेप बनाते-बनाते अंतको एक अथवा शून्य ऐसा उत्तर आता है। इसी तरह जीवनमें संस्कारोंकी अनेक संख्याएं चली जाकर अंतमें एक बलवान् संस्कार ही सार-रूपमें रह जाता है। जीवन-रूपी सवाल का वह उत्तर होता है। अंतकालीन स्मरण ही सारे जीवनका फलित होता है।

जीवनका यह अंतिम सार मधुर निकले, अंतकी यह घड़ी मधुर हो—इसी दृष्टिसे सारे जीवनके उद्योग होने चाहिए। जिसका अंत मधुर वह सब मधुर। उस अंतिम उत्तर पर ध्यान रखकर सारे जीवनका सवाल हल करना चाहिए। इस ध्येयको दृष्टिके सामने रखकर सारे जीवनकी योजना बनाओ। जब कोई सवाल हल करते हो तो जो खास प्रश्न पूछा गया है उसीको सामने रखकर उत्तर लाते हैं। उसी तरहकी रीतिसे काम लेना पड़ता है। अंत मरनेके समय जो संस्कार दृढ़ रहे, या उठे—ऐसी इच्छा होगी उसके अनुसार ही सारे जीवनका प्रवाह मोड़ना चाहिए। दिन-रात उसीकी तरफ झुकाव रहना चाहिए।

(३७)

इस आठवें अध्यायमें यह सिद्धांत बताया गया है कि जो विचार मरते समय प्रबल रहता है वही अगले जन्ममें बलवत्तर साबित होता है। इस पाथेयको साथ लेकर जीव आगे यात्राके लिए निकलता है। आज दिनकी कमाई लेकर, नींदके बाद हम कलका दिन शुरू करते हैं। उसी तरह इस जन्मकी जमा-पूंजी लेकर मरण-रूपी नींदके बाद फिर हमारी यात्रा शुरू होती है। इस जन्मका जो अंत है वही अगले जन्मकी शुरूआत होती है। अंत सदैव मरणका स्मरण रखकर चलो।

मरणका स्मरण रखनेकी जरूरत और भी इसलिए है कि मृत्युकी भयानकताका मुकाबला किया जा सके। उसका रास्ता निकाला जा सके।

एकनाथ महाराजकी एक बात है। एक सज्जनने उनसे पूछा—"महाराज आपका जीवन कितना सीधा-सादा, कितना निष्पाप। हमारा जीवन ऐसा क्यो नही ? आप कभी किसी पर गुस्सा नही होते ? किसीसे लडाई-झगडा नही, टटा-बखेडा नही। कितना शात, कितना प्रेमपूर्ण, कितना पवित्र है आपका स्वभाव।"एकनाथने कहा—"फिलहाल मेरी बात रहने दो। तुम्हारे सबधमे मुझे एक बात मालूम हुई है। आजसे सातवें दिन तुम्हारी मौत आ जायगी।" अब एकनाथकी कही बात को झूठ कौन मानता ? सात दिनमे मृत्यु। सिर्फ १६८ ही घटे बाकी रहे। हे भगवन्, यह क्या अनर्थ ! वह मनुष्य जल्दी-जल्दी घर दौड गया। कुछ सूझ नही पडता था। आखिरी समयकी, सब कुछ समेट लेनेकी बाते कर रहा था। अब बीमार हो गया। बिस्तर पर पड़ गया। छ दिन बीत गये—सातवे दिन एकनाथ उससे मिलने आये। उसने नमस्कार किया। एकनाथने पूछा—"क्या हाल है ?" उसने कहा—"बस, अब चला।" नाथजीने पूछा—"इन छ दिनोमे कितना पाप किया ?—पापके कितने विचार मनमे आये ?" वह आसन्न-मरण व्यक्ति बोला— "नाथजी, पापका विचार करनेकी तो बिलकुल फुरसत ही नही मिली। मौत एक-सी आखोके सामने खडी थी।" नाथजीने कहा—"हमारा जीवन इतना निष्पाप क्यो है—इसका उत्तर अब मिल गया न ? मरण-रूपी शेर सदैव सामने खडा रहे तो फिर पाप सूझेगा किसे ? पाप करनेके लिए भी निश्चिन्तता चाहिए। मरणका सदैव स्मरण रखना पापसे मुक्त होनेका उपाय है। यदि मौत सामने दीखती रहे तो फिर मनुष्य किस बल पर पाप करेगा ?"

परतु मनुष्य मरणका स्मरण टालता है। पास्कल नामक एक फ्रेंच दार्शनिक हो गया है। उसकी एक पुस्तक है—'पासें'। 'पासें' का अर्थ है 'विचार'। उसने इस पुस्तकमे भिन्न-भिन्न स्फुट विचार दिये है। उसमे वह एक जगह कहता है—"मौत सदा पीछे खडी है, परतु मनुष्य का यह प्रयत्न सतत चल रहा है कि उसे भूले कैसे ? किंतु वह यह बात अपने सामने नही रखता कि मृत्युको याद रखकर कैसे चले ?" मनुष्य को मरण शब्द तक बरदाश्त नही होता। खाते समय यदि मौतका नाम

किसीने ले लिया तो कहते है—'क्या अशुभ बात मुहसे निकालते हो ? परंतु इतना होते हुए भी हमारा एक-एक कदम मौतकी तरफ जा ही रहा है। बबईका टिकट कटाकर जब एक बार हम रेलमे बैठ गये तो हम भले ही बैठे रहे, परंतु गाड़ी हमें बबई ले जाकर छोड देगी। जन्म होते ही हमने मौतका टिकट कटा रखा है। अब आप बैठे रहिये या दौड़ते रहिये। बैठे रहेगे तो भी मौत आवेगी, दौडते रहेगे तो भी आवेगी। आप मौतका विचार करे या न करे, वह आये बिना न रहेगी। मरण निश्चित है, और बातें भले ही अनिश्चित हो। सूर्य अस्ताचलकी ओर गया कि हमारी आयु का एक अश वह खा जाता है। जीवनके भाग यो कटते जा रहे हैं, जीवन छीज रहा है, एक-एक बूद घट रहा है। तो भी मनुष्यको उसका कुछ सोच नही होता। ज्ञानेश्वर कहते हैं—'आश्चर्य दीखता है।' ज्ञानदेवको आश्चर्य होता है कि मनुष्य क्यो कर इतनी निश्चिन्तता अनुभव करता है। मनुष्यको मरणका इतना भय मालूम होता है कि उसे मरणका विचार तक सहन नहीं होता। वह सदा उसके विचार व खयाल तकसे बचना चाहता है। आखों पर पर्दा डालकर बैठ जाता है। लडाईमे जानेवाले सैनिक, मरणका खयाल न आने पावे इसलिए खेलते हैं, नाचते गाते है, सिगरेट पीते है। पास्कल कहता है कि "मरण सर्वत्र प्रत्यक्ष दीखते हुए भी यह टामी, यह सिपाही उसे भूलनेके लिए खाने-पीनेमे व गान-तानमे मस्त हो रहेगा।"

हम सब इस टामीकी तरह है। चेहरेको गोल हँसमुख बनानेका प्रयत्न करना, सूखा हो तो तेल, पाउडर लगाना, बाल सफेद हो गये हों तो खिजाब लगाना—आदि प्रयत्न मनुष्य करता है। छाती पर मौत नाच रही है—फिर भी हम टामीकी तरह उसे भूलनेका अक्षय प्रयत्न कर रहे हैं। और चाहे कुछ भी बाते करेगे, पर 'मौतकी बात मत निकालो' कहेगे। मैट्रिक पास लडकेसे पूछो कि 'अब आगे क्या इरादा है।' तो कहता है—'अभी मत पूछो, अभी तो फर्स्ट इयरमे हू।' दूसरे साल फिर पूछोगे तो कहेगा—'पहले इटर तो हो जाने दो, फिर देखेगे।' यही सिलसिला चलता है। जो आगे होनेवाला है उसका पहलेसे विचार क्या नहीं करना चाहिए ? अगले कदमके बारेमे पहलेसे सोच लेना चाहिए, नहीं तो वह खड्डेमे गिरा सकता है। परंतु विद्यार्थी इसको टालता है। बेचारे-

की शिक्षा ही इतनी अंधकार-मय होती है कि उससे उस पारका भविष्य दिखाई ही नही देता। अत आगे क्या करना है यह सवाल ही वह सामने नही आने देता। क्योकि उसे चारो ओर अंधकार ही दिखाई देता है। परतु भविष्य टाला नही जा सकता। वह तो सिरपर आकर सवार होता ही है।

कालेजमें अध्यापक तर्क-शास्त्र पढाते है—"मनुष्य मर्त्य है, सुकरात मनुष्य है, अत सुकरात मरेगा।" यह अनुमान वे सिखाते है—वे सुकरातका उदाहरण देते है—खुद अपना क्यो नही देते? अध्यापक भी मर्त्य है। वह यो नही सिखावेगा—कि 'सब मनुष्य मर्त्य है, अत मै अध्यापक भी और तुम शिष्य भी मर्त्य हो।' वह उस मरणको सुकरात पर ढकेल देता है। क्योकि सुकरात तो मर चुका है। वह शिकायत करनेके लिए हाजिर नही है। शिष्य व गुरु दोनो सुकरातको मरण सौपकर अपने लिए 'तेरी भी चुप' 'मेरी भी चुप' वाली गति करते है। मानो वे यह समझे बैठे है कि हम तो बहुत सुरक्षित है।

इस तरह मृत्युको भूलनेका यह प्रयत्न सर्वत्र जान-बूझकर हो रहा है। परतु इससे मृत्यु कही टल सकती है? कल मा मर गई तो मौत सामने आ गई। मनुष्य निर्भयता-पूर्वक मरणका विचार करके यह हिम्मत ही नही करता कि उसमेसे रास्ता कैसे निकाला जाय। किसी हिरणका पीछा एक शेर कर रहा हो। चपल होने से हिरण खूब चौकडी भरता है परतु उसकी शक्ति कम पडती जाती है व आखीरमे वह थकता है, पीछेसे वह शेर-मृत्यु दौडा आ ही रहा है। उस समय उस हिरणकी क्या दशा होती है? वह उस शेरकी ओर देख भी नही सकता। वह मिट्टीमे सीग व मुह घुसेडकर खडा हो जाता है। मानो निराधार होकर कहता है—'ले अब आ व मुझे हडप जा।' हम मरणको अपने सामने नही देख सकते। उससे बचनेके लिए हम हजारो तरकीब निकालेगे, तो भी अतमे वह हमारी गर्दन धर ही दबाता है।

और फिर जब मौत आती है तब मनुष्य अपने जीवनकी रोकड बाकी देखता है। परीक्षामे बैठा हुआ आलसी—मद विद्यार्थी दवातमें कलम डुबोता है, बाहर निकालता है, परतु सफेद पर काला करनेकी हिम्मत नही होती। अरे भाई, कुछ लिखोगे भी या नही? सरस्वती आकर

थोडे ही जवाब लिख जायगी ? तीन घंटे खतम हो जाते हैं—वह कोरा कागद दे देता है या अखीरमे कुछ-न-कुछ घिस-घिसा कर दे जाता है। सवालको हल करना है, जवाब लिखना है, यह सूझता ही नही ! इधर देखता है, उधर देखता है। ऐसा ही हमारा हाल है। अत. हमे चाहिए कि हम इस बातको याद रखकर कि जीवनका सिरा मौतकी ओर गया हुआ है, अतिम क्षणको पुण्य-मय, अत्यत पावन व मधुर बनानेका अभ्यास जीवनभर करते रहे। आजसे ही इस बातका विचार करते रहना चाहिए कि मनपर ऊचे-से-ऊचे सुदर-से-सुदर सस्कार कैसे पड़े। परन्तु अच्छे सस्कारोके अभ्यासकी पडी किसे है ? इससे उलटा, बुरी बातोका अभ्यास अलबत्ते दिन-रात होता रहता है। जीभ, आख व कानको हम चटोरापन सिखा रहे है। चित्तको इससे भिन्न अभ्यासमे लगाना चाहिए। अच्छी बातोकी ओर चित्त लगाना चाहिए। उसमे उसे रग जाना चाहिए। जिस क्षण अपनी भूल प्रतीत हो जाय उसी क्षणसे उसे सुधारनेमें व्यस्त हो जाना चाहिए। भूल मालूम हो जानेपर भी क्या उसे वैसी ही करते रहेंगे ? जिस क्षण हमे अपनी भूल मालूम हुई उसी क्षण हमारा पुनर्जन्म हुआ। उसे अपना नवीन बचपन, अपने जीवनका नवीन प्रभात, समझो। अब तुम सचमुचमे जगे हो। अब दिन रात जीवनकी जाच-पड़ताल करते रहो व सावधान रहो। ऐसा न करोगे तो फिर फिसलोगे, फिर बुरी बातका अभ्यास शुरू हो जायगा।

बहुत साल पहले मै अपनी दादीसे मिलने गया था। बहुत बूढी हो गई थी। मुझसे कहती—"विन्या अब इधर मुझे याद नही रहता। घीकी दोहनी लेने जाती हू और वैसे ही लौट आती हू।" परतु ५० साल पहलेकी गहनोकी एक बात मुझसे कहा करती। पांच मिनट पहलेकी बात याद नही रहती, मगर ५० साल पहलेके बलवान् सस्कार अखीर तक सतेज थे। इसका कारण क्या ? वह गहनेवाली बात उसने हरेकसे कही होगी। उस बातका सतत उच्चार होता रहा। अत. वह जीवन-से चिपक कर बैठ गई। जीवनके साथ एक-रूप हो गई। मैने मनमे कहा—भगवान् करे, दादीको मरते समय उन गहनोकी याद न आये तो भर पाये।

(३८)

जिस बातका हम रात-दिन अभ्यास करते है वह हमसे क्यो चिपकी न रहेगी ? उस अजामिलकी कथा पढकर भ्रममे न पड़ जाना। वह ऊपरसे पापी था। परतु उसके जीवनके भीतरसे पुण्यकी धारा बह रही थी। वह पुण्य अतिम क्षणमे जग उठा। सदा-सर्वदा पाप करके अतमें राम-नाम अचूक याद आ जायगा—इस धोखेमे मत रह जाना। बचपनसे ही मन लगाकर अभ्यास करो। ऐसी चिंता रखो कि हमेशा अच्छे ही संस्कार सगृहीत हो। ऐसा न कहो कि इससे क्या होगा, व उससे क्या होगा ? चार बजे ही क्यो उठें ? सात बजे उठे तो उससे क्या बिगडा ? ऐसा कहनेसे काम नही चलेगा। यदि सबको बराबर ऐसी आजादी देते चले गये तो अखीरमे फस जाओगे। फिर सच्चे सस्कार अकित नही होने पावेगे। एक-एक कण बीनकर लक्ष्मी-सपत्ति जुटाना पडती है। एक-एक क्षणको व्यर्थ न जाने देते हुए विद्यार्जनमे लगाना पडता है। इस बातका ध्यान रक्खो कि प्रत्येक क्षण सस्कार अच्छा ही पड़ रहा है न ? खराब बात कही, तो पड गया उसी समय बुरा सस्कार। हमारी प्रत्येक कृति छीनी बनकर हमारे जीवन-रूपी पत्थरको आकार देती है। दिन अच्छी तरह बीत गया तो भी सपनेमें बुरे खयाल आ जाते है। दस-पाच दिनके ही विचार सपनेमे आते हो सो बात नही। कितने ही बुरे सस्कार गफलत-मे पड़ जाते हैं। नही कह सकते वे कब जग पडेगे। इसलिए छोटी-से-छोटी बातोमे भी सजग रहना चाहिए। डूबतेको तिनकेका भी सहारा लग जाता है। हम ससार-सागरमे डूब रहे है। यदि हम थोडा भी अच्छा बोले तो वह भी हमारे लिए आधार बन जाता है। भला किया व्यर्थ नही जाता। वह तुमको तार देगा। लेश-मात्र भी बुरे सस्कार न होने चाहिए। सर्वदा ऐसा ही उद्योग करो जिससे आखे पवित्र रहे, कान निंदा न सुने, अच्छा बोले। यदि ऐसी सावधानी रखोगे तो आखिरी समय पर हुक्मी पासा पड़ेगा। हम अपने जीवन-मरणके स्वामी हो रहेगे।

पवित्र सस्कार डालनेके लिए उदात्त विचार मनमे दौड़ाते रखने चाहिए। हाथ पवित्र कर्म करनेमे लगे रहे। भीतरसे ईश्वरका स्मरण व बाहरसे स्वधर्माचरण। हाथोंसे सेवा-रूपी कर्म, मनमे विकर्म। ऐसा

नित्य करते रहना चाहिए। गांधीजीको देखो, रोज चरखा चलाते हैं। वे रोज कातने पर जोर देते हैं। रोज क्यो कातें? कपड़ेके लिए कभी-कभी कात लिया करे तो क्या काम नही चलेगा? परतु यह तो हुआ व्यवहार। रोज कातनेमे आध्यात्मिकता है। देशके लिए मुझे कुछ-न-कुछ करना है, इस बातका वह चितन है। वह सूत हमे नित्य दरिद्र-नारायणसे जोड़ता है। वह सस्कार दृढ़ होता है।

डाक्टरने रोज दवा पीनेके लिए कहा, पर हम सारी दवा एक ही रोज पी ले तो? तो वह बेतुकी बात हो जायगी। औषधिका उद्देश्य उससे सफल न होगा। रोज-ब-रोज दवा का सस्कार पड़ कर प्रकृतिकी विकृति दूर करनी चाहिए। ऐसी ही बात जीवनकी है। शंकर पर धीरे-धीरे ही अभिषेक करना पडता है। मेरा यह प्रिय दृष्टात है। बचपनमें मै नित्य इस क्रियाको देखता था। चौबीस घटे मिला कर बहुत हुआ तो वह पानी दो बाल्टी होता होगा। फिर एकसाथ दो बाल्टी शिवजी पर एकदम क्यो न उडेल दी जाय? इसका उत्तर बचपनमे ही मुझे मिल गया। पानी एकदम उडेल देनेसे वह कर्म सफल नहीं हो सकता। एक-एक बूद-धारा सतत पड़ना ही उपासना है। समान सस्कारोंकी सतत धारा लगनी चाहिए। जो सस्कार सुबह, वही दोपहरको, वही शामको, वही दिनमे, वही रातमे, वही कल, वही आज, व जो आज वही कल, जो इस साल वही अगले साल, जो इस जन्ममे वही अगले जन्ममे, जो जीवनमे वही अतकालमे---ऐसी एक-एक सत्सस्कारकी दिव्य-धारा सारे जीवनमें सतत बहती रहनी चाहिए। ऐसा प्रवाह अखड चालू रहेगा तो ही हम अतमें जीत सकेगे। तभी हम जाकर मुकाम पर अपना झडा गाड सकेगे। सस्कारोका प्रवाह एक ही दिशामे बहना चाहिए। नही तो पहाड पर गिरा पानी यदि बारह दिशामे बह निकला तो फिर उससे नदी नहीं बन सकती। इसके विपरीत अगर सारा पानी एक ही दिशामे बहेगा तो वह सोतेसे धारा, धारासे प्रवाह, प्रवाहसे नदी, नदीसे गगा बनकर ठेठ समुद्र तक जा पहुचेगी। जो पानी एक ही दिशामे बहा, वह जाकर समुद्रमें मिल गया, परतु जो चारो दिशाओंमे बहा वह कही आगे जाकर खतम हो गया। यही बात संस्कारोकी है। संस्कार यदि आते गये व

जाते गये तो क्या फायदा ? यदि जीवनमे सस्कारोका पवित्र प्रवाह सतत बढता रहा तो ही अतमे मरण महा-आनदका निधान मालूम पडेगा। जो यात्री रास्तेमे ज्यादा न ठहरते हुए रास्तेके मोह व प्रलोभनसे बचते हुए कठिन चढ़ाई कदम जमा-जमा कर चढता हुआ शिखर तक पहुच गया, व ऊपर पहुचकर छातीपरके सारे बोझ व बधन हटा कर वहाकी खुली हवाका अनुभव करने लगा उसके आनदका क्या अदाज दूसरे लोग लगा सकेंगे ? पर जो मुसाफिर रास्तेमे ही अटक गया, उसके लिए सूर्य कही रुकता है ?

(३९)

सार यह है कि बाहरसे सतत स्वधर्माचरण व भीतरसे हरि-स्मरण रूपी चित्त-शुद्धिकी क्रिया इस तरह जब ये अतर्बाह्य कर्म-विकर्मके प्रवाह काम करेंगे तब मरण आनद-दायी मालूम होगा। इसीलिए भगवान् कहते हैं—

"अतः सदा मुझे याद करके जूझते रहो।"

मेरा अखड स्मरण करो, व लडते रहो। "उसीमे रग रहा सदा।"सदा ईश्वरमे लीन रहो। ईश्वरी प्रेमसे जब अतर्बाह्य रग जाओगे, जब वह रग सारे जीवनमे फैल जायगा, तभी पवित्र बातोमे सदैव आनद मालूम होने लगेगा। तब बुरी वृत्तिया सामने आकर खडी ही न रहेगी। सुदर, बढिया मनोरथोके अकुर मनमे उगने लगेगे। अच्छे कर्म अपने-आप होने लगेगे।

यह तो ठीक है कि ईश्वर-स्मरणसे अच्छे कर्म सहज भावसे होने लगेंगे, परतु भगवान्की यह भी आज्ञा है—सतत लडते रहो। तुकाराम महाराज कहते हैं—

"दिन रात हमें युद्धकी ही धुन।
अंतर्बाह्य जग और मन॥"

भीतर व बाहर अनत सृष्टि व्याप्त है। इस सृष्टिसे मनका सतत झगडा जारी रहता है। इस झगडेमें हर बार जय ही होगी, यह नही कह सकते। जो अतको पा लेगा, वही सच्चा विजयी। अतमे जो फैसला

हो वही सही । कई बार यश मिलेगा तो कई बार अपयश । अपयश— असफलता मिली तो निराश होनेका कोई कारण नही है। पत्थर पर उन्नीस बार चोट लगानेसे वह नही फूटा, बीसवी बारकी चोटसे जरूर फूट गया समझो तो फिर क्या वे उन्नीस चोटे फिजूल ही गईं ? उस बीसवी चोटकी सफलताकी तैयारी वे उन्नीस चोटे कर रही थी।

निराश होनेका अर्थ है नास्तिक होना । विश्वास रखो कि परमेश्वर हमारा रक्षक है। बच्चेकी हिम्मत बढानेके लिए मा उसे इधर-उधर जाने देती है, परतु वह उसे गिरने नही देती । जहा गिरने लगा कि झट आकर धीरेसे सहारा लगा देती है। ईश्वर भी तुमपर सतत निगाह रखता है। तुम्हारे जीवन-रूपी पतगकी डोरी उसके हाथमे है। कभी वह डोर खीच लेता है, कभी ढीली छोड देता है। परतु यह विश्वास रखो कि डोर है उसके हाथमे । गगाके घाटपर तैरना सिखाते है। डोरी या साकल कमरसे बाधकर पानीमे आदमीको फेंक देते है। परतु सिखानेवाले उस्ताद पानीमे ही रहते है। वह नौसिखिया पहले तो दो-चार बार डूबता-उतराता है, परतु अतमे वह तैरनेकी कला सीख जाता है। इसी तरह परमेश्वर हमे जीवनकी कला सिखा रहा है।

(४०)

अत परमेश्वरपर श्रद्धा रखकर यदि काया-वाचा-मनसे दिन-रात लडते रहोगे तो अतकी घडी अतिशय उत्तम हो जायगी। उस समय सब देवता अनुकूल हो जायगे। यही बात इस अध्यायके अतमे एक रूपकके द्वारा बताई गई है। इस रूपकको आप लोग समझ लीजिए। जिसके मरणके समय आग जल रही है, सूर्य चमक रहा है, शुक्ल पक्षका चद्र बढ रहा है, उत्तरायणमे निरभ्र व सुदर आकाश फैला हुआ है, वह ब्रह्म-मे विलीन होता है। और जिसकी मृत्युके समय धुआ फैल रहा हो, भीतर-बाहर अधेरा हो रहा हो, कृष्ण पक्षका चद्रमा क्षीण हो रहा हो, दक्षिणा-यनमे मलिन व अभ्राच्छादित आकाश फैल रहा हो तो वह फिरसे जन्म-मरणके फेरेमे पडेगा।

बहुतसे लोग इस रूपकको पढ़कर चक्करमें पड जाते है। यदि

यह चाहते हो कि पुण्य मरण हो तो अग्नि, सूर्य, चद्र, आकाश इन देवताओं-की कृपा रहनी चाहिए। अग्नि कर्मका चिह्न है, यज्ञका चिह्न है। अत समयमे भी यज्ञकी ज्वाला जलती रहनी चाहिए। न्यायमूर्ति रानडे कहते थे—'सतत कर्तव्यका पालन करते हुए यदि मौत आजाय तो वह धन्य है। कुछ-न-कुछ पढ रहे है, लिख रहे है, कोई काम कर रहे है—ऐसी हालतमें मै मरू तो भर पाया।' 'आग जल रही है' इसका यह अर्थ है। मरण समय मे भी कर्म करते रहे—यह अग्निकी कृपा है। सूर्यकी कृपाका अर्थ यह है कि बुद्धिकी प्रभा अततक चमकती रहनी चाहिए। चन्द्रकी कृपाका मतलब यह है कि मौतके समय पवित्र भावना सतत बढती रहनी चाहिए। चद्र मनका—भावनाका —देवता है। शुक्ल पक्षके चद्रकी तरह मनकी प्रेम, भक्ति, उत्साह, परोपकार, दया, इत्यादि शुद्ध भावनाओका पूर्ण विकास होना चाहिए। आकाशकी कृपासे अभिप्राय है कि हृदयाकाशमे आसक्ति-रूपी बादल बिलकुल न रहने चाहिए। एक बार गाधीजीने कहा—'मै दिन-रात चरखा-चरखा चिल्ला रहा हू। चर्खेको बडी पवित्र वस्तु मानता हू। परतु अत समयमे उसकी भी वासना न रहनी चाहिए। जिसने मुझे चरखेकी प्रेरणा की है, वह खुद चरखेकी चिता करनेमे पूर्ण समर्थ है। चरखा अब दूसरे भले-भले लोगोके हाथोमें चला गया है। चरखेकी चिंता छोडकर मुझे परमात्मासे मिलनेकी तैयारी करनी चाहिए।' मतलब यह कि उत्तरायणका अर्थ है हृदयमे आसक्ति-रूपी बादल न रहना।

आखिरी सास तक हाथसे कोई-न-कोई सेवाकार्य हो रहा है, भावना की पूर्णिमा चमक रही है, हृदयाकाशमे जरा भी आसक्ति नही है, बुद्धि सतेज है—इस तरह जिसकी मृत्यु होगी वह परमात्मामें जा मिला। ऐसा परम मगल-मय अत लानेके लिए रात-दिन सावधान व दक्ष रहकर लडते रहना चाहिए। एक क्षणके लिए भी मन पर अशुभ सस्कार न पडने दीजिए। और ऐसा बल मिलता रहे, इसके लिए परमात्मासे सतत प्रार्थना करते रहना चाहिए। नाम-स्मरण, तत्त्व-स्मरण पुन.पुनः करते रहना चाहिए।

नवां अध्याय

रविवार, १७-४-३२

(४१)

आज मेरे गलेमे दर्द है। मुझे सदेह है कि मेरी आवाज आप तक पहुच सकेगी या नही? इस समय साधुचरित बडे माधवराव पेशवाके अत समयकी बात याद आ रही है। वह महापुरुष मरण-शय्या पर पड़ा हुआ था। कफ बहुत बढ गया था। कफका अतिसारमे पर्यवसान किया जा सकता है। अत. माधवरावने वैद्यसे कहा—'कोई ऐसी तजवीज कीजिए जिससे मेरा कफ हट जाय और उसकी जगह अतिसार हो जाय। इससे मुह खुल जायगा व मैं राम-नाम ले सकूगा। मैं भी आज परमेश्वरसे प्रार्थना कर रहा था। भगवान्‌ने कहा—'जैसा गला हो वैसा ही बोलता रह। मै जो यहा गीता सुना रहा हू वह किसीको उपदेश देनेके लिए नहीं। जो उससे लाभ उठाना चाहते है उन्हे अवश्य उससे लाभ होगा। परंतु मैं तो गीता राम-नाम समझ कर सुना रहा हूं। गीताका प्रवचन करते हुए मेरी भावना 'हरि-नाम' की रहती है।

मैं जो यह कह रहा हूं उसका आजके नवे अध्यायसे सबध है। इस अध्यायमे हरि-नामकी अपूर्व महिमा बताई गई है। यह अध्याय गीताके मध्य-भागमे खड़ा है। सारे महाभारतके मध्यमें गीता, व गीताके मध्य मे यह नवा अध्याय है। अनेक कारणोसे इस अध्यायको पावनता प्राप्त हो गई है। कहते है कि ज्ञानदेवने जब अतिम समाधि ली तो उन्होने इस अध्यायका जप करते हुए प्राण छोड़ा था। इस अध्यायके स्मरण-मात्रसे मेरी आंखे छल-छलाने लगती हैं व दिल भर आता है। व्यासदेवका यह कितना बडा उपकार है। केवल भारतवर्षपर ही नही, सारी मनुष्य-जाति पर उनका यह उपकार है। जो अपूर्व बात भगवान्‌ने अर्जुनको बताई वह शब्दो द्वारा प्रकट करने योग्य न थी। परंतु दयाभावसे प्रेरित होकर

व्यासजीने इसे सस्कृत-भाषा द्वारा प्रकट किया। गुप्त वस्तुको वाणीका रूप दिया। इस अध्यायके शुरूमे ही भगवान् कहते हैं--

"राज-विद्या महागुह्य उत्तमोत्तम पावन।"

यह जो राज-विद्या है, यह जो अपूर्व वस्तु है, वह प्रत्यक्ष अनुभव करनेकी है। भगवान् उसे 'प्रत्यक्षावगम' कहते हैं। शब्दोमे न समाने वाली परतु प्रत्यक्ष अनुभवकी कसौटी पर कसी हुई यह बात इस अध्यायमें बताई गई है। इससे यह बहुत मधुर हो गया है। तुलसीदासजीने कहा है---

को जानै को जैहै जम-पुर को सुर-पुर पर-धामको,
तुलसिहि बहुत भलो लागत जग जीवन राम-गुलामको ॥

मरनेके बाद मिलनेवाले स्वर्ग व उसकी कथाओसे यहा क्या काम चलेगा ? कौन कह सकता है कि स्वर्गमे कौन जाता है व यम-पुरको कौन जाता है ? यदि ससारमे चार दिन रहना है तो रामका गुलाम बनकर रहनेमे ही मुझे आनद है। ऐसा तुलसीदासजी कहते है। राम का गुलाम होकर रहनेका मजा इस अध्यायमे है। प्रत्यक्ष इसी देहमें इन्ही आखोसे अनुभूत होनेवाला फल, जीते-जी अनुभव की जानेवाली बाते इस अध्यायमे बताई गई है। जब गुड खाते है तो उसकी मिठास प्रत्यक्ष मालूम होती है। उसी तरह रामका गुलाम होकर रहनेका मजा यहा है। ऐसी इस मृत्यु-लोकके जीवनका मजा प्रत्यक्ष दिखानेवाली राज-विद्या इस अध्यायमे कही गई है। वह वैसे गूढ है, परतु भगवान् उसे सबके लिए सुलभ व खोल कर रख रहे है।

(४२)

गीता जिस धर्मका सार है उसे वैदिक धर्म कहते है। वैदिक धर्म-का अर्थ है वेदोसे निकला हुआ धर्म। इस जगतीतलपर जितने अति प्राचीन लेख है उनमे वेद सबसे पहले लेख माने जाते है। इसी कारण भावुक लोग उन्हे अनादि मानते है। इसीसे वेद पूज्यताको प्राप्त हुए और यदि इतिहासकी दृष्टिसे देखा जाय तो भी वह हमारे समाजकी प्राचीन भावनाओके प्राचीनतम चिह्न है। ताम्रपट, शिला-लेख, सिक्के, बरतन, प्राणियोके अवशेष--इत्यादिसे भी यह लेखी साधन बहुत ही

महत्वपूर्ण है। ससारमे पहला ऐतिहासिक प्रमाण अगर कोई है तो वह वेद है। इन वेदोमे जो धर्म बीज-रूपमे था वह वृक्ष होते-होते अतमे उसे गीता रूपी दिव्य मधुर फल लगे। फलके सिवा पेडका हम खावे भी क्या? जब वृक्षमे फल लगते है तभी हमारे खानेकी चीज उससे हमे मिल सकती है। वेद-धर्मके सारका सार भी यह गीता है।

यह जो वेद-धर्म प्राचीन कालसे रूढ था उसमे नाना यज्ञ-याग, क्रिया-कलाप, विविध तपश्चर्या, अनेक साधनाएं बतलाई गईं। यह जो सारा कर्मकाड है सो निरुपयोगी नही—तो भी उसके लिए अधिकार चाहिए। कर्मकाड सबके लिए सुलभ न था। ऊचे नारियलपर चढ कर फल कौन तोडे, कौन छीले व कौन फोडे? मै चाहे कितना ही भूखा होऊ, पर ऊचे पेडसे नारियल कैसे तोड पाऊ? मैं नीचेसे उसकी ओर देखता हूँ, ऊपरसे नारियल मुझे देखता है। परतु इससे पेटकी ज्वाला कैसे बुझेगी? जबतक वह नारियल मेरे हाथमे न पडे तबतक सब फिजूल। वेदोकी इन नाना क्रियाओमें फिर बडे बारीक विचार रहते थे। जन साधारणको उनका ज्ञान कैसे हो? वेद-मार्गके सिवा मोक्ष नही, परन्तु वेदोका तो अधिकार नही। तब दूसरोका काम कैसे चले? अत कृपा सागर सत लोग आगे बढे और कहा—'आओ, हम इन वेदोका रस निकाल ले। वेदोका सार थोडेमे निकालकर ससारको दे।' इसीलिए तुका-राम महाराज कहते है—

'वेद कहा है अनंत—अर्थ इतना ही है चिंत्य!'

वह अर्थ क्या है? तो हरिनाम। हरिनाम वेदोका सार है। राम-नामसे मोक्ष निश्चित हुआ। स्त्रिया, बच्चे, शूद्र, वैश्य, गवार, दीन, दुर्बल, रोगी, पगु, सबके लिए मोक्ष सुलभ हो गया। वेदोकी अलमारी में बद मोक्षको भगवान्ने चौराहे पर लाकर रख दिया। मोक्षकी यह कितनी सीधी सादी सरल तरकीब! जिसका जैसा सीधा-सादा जीवन है, जो कुछ स्वधर्म-कर्म है, सेवाकर्म है, उसीको यज्ञरूप क्यो न बना दे! फिर दूसरे यज्ञ-यागकी जरूरत ही क्या है? तुम्हारा नित्यका जो सीधा-सादा सेवा-कर्म है उसीको यज्ञ समझकर करो। यही राज-मार्ग है।

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥

इस मार्गसे यदि आखे मूदकर दौडते चले जाओ तो भी गिरने या ठोकर खानेका भय नही। दूसरा मार्ग है—'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया'; तलवारकी धार भी शायद थोडी भोठी होगी। यह वैदिक-मार्ग इतना विकट है। इसकी अपेक्षा रामका गुलाम होकर रहनेका मार्ग अधिक सुलभ है। एक इजीनियर रास्तेकी ऊचाई धीरे-धीरे बढाता हुआ ऊपर ले जाता है और हमको ऊचे शिखर पर ला बिठाता है। हमको सहसा पता भी नही लगता कि इतने ऊचे चढ रहे है। इजीनियरकी इस खूबीकी तरह ही इस राज-मार्गकी खूबी है। मनुष्य जिस जगह कर्म करते हुए खडा है वही, उस सादे कर्म द्वारा वह परमात्माको प्राप्त कर सकता है। ऐसा यह मार्ग है।

परमेश्वर क्या कही छिपकर बैठा है ? किसी खोहमे, किसी गलीमे, किसी नदीमे, या किसी स्वर्गमे वह लुककर बैठ गया है ? लाल, नीलम, चादी-सोना पृथ्वीके पेटमे छिपा रहता है। मोती-मूगा रत्नाकर समुद्र मे छिपे रहते है। क्या वैसा यह परमेश्वर-रूपी 'लाल रतन' कही छिपा हुआ है ? भगवान्‌को कहीसे खोदकर थोडे ही बाहर निकालना है ? वह तो हमेशा हम सबके सामने और सर्वत्र खडा ही है। ये जितने लोग है सब परमात्माकी ही तो मूर्तिया है। भगवान् कहते है—"इस मानव-रूपमे प्रकटित हरि-मूर्तिका अपमान मत करो।" ईश्वर ही सब चराचर-रूपमे प्रकट हो रहा है। उसको खोजनेके लिए कृत्रिम उपायोकी क्या जरूरत ? उपाय तो सीधा सरल है। तुम जो कुछ सेवा-कार्य करो उन सबका सबध भगवान्से जोड दो, बस काम बन गया। तुम रामके गुलाम हो जाओ। वह कठिन वेद-मार्ग, वह यज्ञ, वे स्वाहा, वे स्वधा, वे श्राद्ध, वह तर्पण सब हमे मोक्षकी ओर ले जायगे। परतु इसमे अधिकारी और अनधिकारीके भेदका टटा खडा होता है। हमे उसकी जरूरत ही नही। सिर्फ इतना ही करो कि जो कुछ करते हो वह ईश्वरके अर्पण कर दो। अपनी प्रत्येक कृतिका सबध ईश्वरसे जोड दो। इस नवें अध्यायकी यही शिक्षा है। इसलिए वह भक्तोको बहुत प्रिय है।

(४३)

कृष्णके सारे जीवनमें उसका बचपन बहुत ही मधुर है। बालकृष्ण की ही विशेष उपासना की जाती है। वह ग्वाल-बालोके साथ गायें चराने जाता, उनके साथ खाता-पीता और हँसता-बोलता। इंद्रकी पूजा करनेके लिए जब ग्वाल-बाल निकले तो उसने उनसे कहा—"इंद्रको किसने देखा है? उसने हम पर उपकार भी ऐसा क्या किया है? लेकिन यह गोवर्धन पर्वत हमे प्रत्यक्ष दिखाई देता है। यहा गायें चरती है। इसमें पानीके सोते निकलते है। अतः तुम इसीकी पूजा करो।" ऐसी बातें वह उन्हें सिखाया करता। जिन गोपालकोमे खेला, जिन गोपियोसे हँसा-बोला, जिन गाय-बछडोके साथ रहा उन सबके लिए उसने मोक्षका द्वार खुला कर दिया। कृष्ण परमात्माने अपने अनुभवसे यह सरल मार्ग बतलाया है। बचपनमें उसका काम गाय-बछडोसे पडा। बडे होने पर घोडोसे। मुरलीकी ध्वनि सुनते ही गाये गद्गद् हो जाती और कृष्णके हाथ फेरते ही घोडे फुरफुराने लगते। वे गाय-बछडे और वे रथके घोडे कृष्णमय हो जाते थे। पाप-योनि माने गये उन पशुओको भी मानो मोक्ष मिल जाता था। मोक्षपर केवल मनुष्यका ही अधिकार नही, बल्कि पशु-पक्षीका भी है—यह बात श्रीकृष्णने साफ कर दी है। अपने जीवनमे उन्होने इस बातका अनुभव किया था।

जो अनुभव भगवान्‌को हुआ वही व्यासजीको भी। कृष्ण और व्यास दोनो एक रूप ही हैं। दोनोके जीवनका सार भी एक ही। मोक्ष न विद्वत्ता पर अवलबित है, न कर्म-कलाप पर। उसके लिए तो सीधी-सादी भक्ति ही काफी है। मैं-मैं कहनेवाले ज्ञानी पीछे ही रखे रहे व भोली-भावुक स्त्रिया उनसे आगे बढ गई हैं। यदि मन पवित्र हो और सीधा-भोला पवित्र भाव हो तो फिर मोक्ष कठिन नही है। महाभारतमे 'जनक-सुलभा-सवाद' नामक एक प्रकरण है। उसमें व्यासने एक ऐसे प्रसगकी रचना की है जिसमें जनक राजा ज्ञान-प्राप्तिके लिए एक स्त्रीके पास गये है। आप लोग भले ही बहस करते रहे कि स्त्रियोको वेदोका अधिकार हैं या नही? परतु सुलभा तो यहा प्रत्यक्ष जनकराजको ब्रह्म-विद्या सिखा रही है। वह एक मामूली स्त्री। जनक कितना बड़ा सम्राट्!

कितनी विद्याओसे सपन्न। पर उस महाज्ञानी जनकके हाथ मोक्ष नही था। इसलिए व्यासदेवने उसे सुलभाके चरणोमे गिरनेके लिए भेजा है। ऐसी ही बात उस तुलाधार वैश्यकी है। जाजलि ब्राह्मण उसके पास ज्ञान पानेके लिए जाता है। तुलाधार कहता है "तराजूकी डडी सीधी रखनेमे ही मेरा सारा ज्ञान समाया हुआ है।" वैसी ही कथा व्याध की है। व्याध तो कसाई। पशुओको मारकर वह समाजकी सेवा करता था। एक अहकारी तपस्वी ब्राह्मणको उसके गुरुने उस व्याधके पास जानेके लिए कहा। ब्राह्मणको आश्चर्य हुआ कि यह कसाई मुझे क्या सिखायेगा ? ब्राह्मण व्याधके यहा गया। व्याध क्या कर रहा था ? मास काट रहा था, धो रहा था। और साफ करके उसे बिक्रीके लिए रख रहा था। उसने ब्राह्मणसे कहा, "देखो, मेरा यह कर्म जितना धर्म-मय किया जा सकता है उतना मै करता हू। अपनी आत्मा जितनी इस कर्ममे उडेली जा सकती है उतनी उडेल कर मै यह कर्म करता हू और अपने मा-बापकी सेवा करता हू।" ऐसे इस व्याधके रूपमे व्यासदेवने आदर्श मूर्ति खडी की है।

महाभारतमे ये जो स्त्री, वैश्य, शूद्र आदिकी कथाए आई है, उनका उद्देश्य यह है कि सबको यह साफ-साफ दीख जाय कि मोक्षका द्वार सबके लिए खुला हुआ है। उन कथाओका तत्व इस नवे अध्यायमे बतलाया गया है। उन कथाओपर इस अध्यायमे मुहर लगाई गई है। रामका गुलाम होकर रहनेमे जो मजा है वही उस व्याधके जीवनमे है। सत तुकाराम अहिसक थे, परतु उन्होने बडे चावसे यह वर्णन किया है कि सजन कसाईने कसाईका काम करके मोक्ष प्राप्त कर लिया। तुकाराम ने एक जगह पूछा है "भगवन्, पशुओका वध करनेवालोकी क्या गति होगी ?" परतु 'सजना कसाईके साथ बेचता है मास' यह चरण लिख कर उन्होने कहा है कि भगवान् सजन कसाईकी मदद करते है। नरसी मेहता की हुडी सिकारनेवाला, एकनाथके यहा कावर भरके लानेवाला, दामाजी के लिए महार होनेवाला, महाराष्ट्रकी प्रिय जनाबाईको कूटने-पीसने मे मदद करनेवाला भगवान् सजन कसाईकी भी उतने ही प्रेमसे मदद करता था, ऐसा तुकाराम कहते है। साराश यह कि अपने सब कृत्योका

संबंध परमेश्वरसे जोडना चाहिए। कर्म यदि शुद्ध भावनासे पूर्ण और सेवा-मय हो तो वह यज्ञ-रूप ही है।

(४४)

नवे अध्यायमे एक विशेष बात कही गई है। इसमे कर्म-योग और भक्ति-योगका मधुर मिलाप है। कर्म-योगका अर्थ है कर्म तो करना, परतु फलका त्याग कर देना। कर्म ऐसी खूबीसे करो कि फलकी वासना चित्तको न छुए। यह अखरोटके पेड लगाने जैसा है। अखरोटके वृक्ष मे २५ वर्षमे जाकर फल लगते है। अपने जीवनमे शायद ही उसके फल चखनेको मिले। फिर भी पेड लगा है। और उसे बहुत प्रेमसे पानी पिलाना है। कर्मयोगका अर्थ पेड लगाना परतु फलकी इच्छा न रखना। और भक्ति-योग किसे कहते है? भाव-पूर्वक ईश्वरके साथ जुड जानेका अर्थ है भक्ति-योग। राज-योगमे कर्म-योग और भक्ति-योग दोनो एकत्रित हो जाते है। राज-योगकी कई लोगोने कई व्याख्याए की है। परतु राजयोग यानी सक्षेपमे कर्म-योग व भक्ति-योगका मधुर मिश्रण, ऐसी मै व्याख्या करता हू।

हम कर्म तो करे परतु फल फेके नही, बल्कि उसे परमात्माके अर्पण कर दे। जब यह कहते है कि फल फेक दो तो उसका अर्थ हो जाता है फलका निषेध, किंतु अर्पणमे ऐसा नही होता। कितनी सुदर व्यवस्था है यह! बहुत माधुरी है इसमे। फल छोडनेका यह अर्थ नही कि फल कोई लेगा ही नही। कोई-न-कोई उसे अवश्य ग्रहण करेगा। किसी-न-किसीको तो वह मिलेगा ही। फिर यह तर्क खड़ा हो सकता है कि जो इस फलको पायेगा वह इसका अधिकारी भी है या नही। कोई भिखारी घर आ जाता है तो हम झट कहते है—"तू मोटा ताजा है, भीख मागना तुझे शोभा नही देता। चला जा।" हम इस बातका विचार करते है कि उसका भीख मागना उचित था या नही? भिखारी बेचारा शर्मिन्दा होकर चला जाता है। हमारे दिलमे उसके लिए सहानुभूतिका पूर्ण अभाव है। फिर भीख मागनवालेकी योग्यता हम कैसे ठहरायेगे? मैने बचपनमे एक बार अपनी मासे भिखारियोके बारेमे ऐसी ही शंका की थी। उसने

जो उत्तर दिया वह अभी तक मेरे कानोमे गूज रहा है। मैने उससे पूछा—"यह भिखारी तो हट्टा-कट्टा है। इसको भिक्षा देनेसे इसका व्यसन और आलस्य ही तो बढेगा।" गीता का "देशे काले च पात्रे च" यह श्लोक भी मैने उसे सुनाया। उसने जवाब दिया—"जो भिखारी आया वह परमेश्वर ही था। अब करो पात्रापात्रका विचार। भगवान्को क्या अपात्र कहोगे ? पात्रापात्रके विचार करनेका तुम्हे व मुझे क्या अधिकार है ? ज्यादा विचार करनेकी मुझे जरूरत ही नही मालूम होती। मेरे लिए वह भगवान् ही है।" माके इस जवाबका कोई माकूल जवाब मुझे अभीतक नही सूझा है।

दूसरोको भोजन कराते समय मै उसकी पात्रापात्रका विचार करता हू। परतु अपने पेटमे रोटी डालते समय मुझे यह खयाल तक नही होता कि मुझे भी इसका कोई अधिकार है या नही। जो हमारे दरवाजे आ जाता है उसे अभद्र भिखारी ही क्यो समझा जाय ? जिसे हम देते है वह भगवान् ही है—ऐसा हम क्यो न समझे ? राजयोग कहता है—"तुम्हारे कर्मका फल किसी-न-किसीको तो मिलेगा ही न ? तो उसे भगवान् को ही दे डालो। उसीके अर्पण कर दो।" राजयोग अपने अर्पणका उचित स्थान तुम्हे बता देता है। यहा फल-त्यागरूपी निषेधात्मक कर्म भी नही है और क्योकि सब कुछ भगवान्के ही अर्पण करना है, इसलिए पात्रा-पात्रका भी सवाल हल हो जाता है। भगवान्को जो दान दिया गया है वह सर्वदा शुद्ध ही है। तुम्हारे कर्ममें यदि दोष भी रहा हो तो उसके हाथोमे पडते ही वह पवित्र हो जायगा। हम दोष दूर करनेका कितना ही उपाय करे तो भी दोष बाकी रह जाता है। फिर भी जितना शुद्ध होकर हम कर सके उतना करना चाहिए। बुद्धि ईश्वरकी देन है। उसको जितना शुद्ध-रूपमे हो सके काममे लेना हमारा कर्त्तव्य ही है। ऐसा न करना अपराध होगा। अतः पात्रापात्र-विवेक भी करना ही चाहिए। किंतु भगवद्-भाव रखनेसे वह सुलभ हो जाता है।

फलका विनियोग चित्त-शुद्धिके लिए करना चाहिए। जो काम जैसा हो जाय वैसा ही उसे भगवान्के अर्पण कर दो। प्रत्यक्ष क्रिया जैसे-जैसे होती जाय वैसे-ही-वैसे उसे भगवान्के अर्पण करके मनःतुष्टि प्राप्त

करते रहना चाहिए। फलको छोड़ना नही है, उसे भगवान्के अर्पण कर देना है। यह तो क्या मनमें उत्पन्न होने वाली वासनाए और काम क्रोधादि विकार भी परमेश्वरके अर्पण करके छुट्टी पाना है।

"काम-क्रोध मेरे अर्पण प्रभूके।"

यहा न तो संयमाग्निमे जलना है न झुलसना। चट अर्पण किया और छूटे। न किसीको दवाना न मारना।

"जो गुड़ दीन्हें ते मरें माहुर काहे देय।"

इद्रिया भी साधन है। उन्हे ईश्वरार्पण कर दो। कहते हैं—कान हमारी नही सुनते। तो फिर क्या सुनना ही बद कर दे? नहीं, सुनो जरूर, पर हरि-कथा सुनो। न सुनना बडा कठिन है। परतु हरि-कथा-रूपी श्रवणका विषय देकर कानका उपयोग करना अधिक रुचिकर व हितकर है। अपने कान तुम रामको देदो। मुखसे राम-नाम लेते रहो। इद्रिया शत्रु नही है। वे हैं भी अच्छी। उनके सामर्थ्यका ठिकाना नही। अतः ईश्वरार्पण-बुद्धिसे प्रत्येक इद्रियसे काम लेना—यही राज-मार्ग है। इसीको राजयोग कहते है।

(४५)

यह बात नही कि हम कोई खास क्रिया ही भगवान्के अर्पण करे। कर्म-मात्र उसे सौप दो। शबरीके वे बेर। रामने उन्हे कितने स्वादसे चखा! परमेश्वरकी पूजा करनेके लिए गुफामें जाकर बैठनेकी जरूरत नही है। तुम जहा जो भी कर्म करो वह परमेश्वरके अर्पण करो। मा बच्चेको सभालती है—मानो भगवान्को ही सभालती है। बच्चेको नहलाती क्या है, परमेश्वर पर रुद्राभिषेक ही करती है। बालक परमेश्वरी कृपाकी देन है, ऐसा मानकर माको चाहिए कि वह परमेश्वर-भावनासे बच्चेका लालन-पालन करे। कौशल्या रामकी व यशोदा कृष्णकी चिंता कितने दुलारसे करती थी? उसका वर्णन करते हुए शुक, वाल्मीकि, तुलसीदासने अपनेको धन्य माना। उस क्रियामें उन्हे अपार कौतुक मालूम होता है। माताकी वह सेवा-संगोपन-क्रिया बहुत उच्च

है। वह बालक, परमेश्वरकी वह मूर्ति, उस मूर्तिकी सेवासे बढकर सद्-भाग्य क्या हो सकता है ? यदि हम एक-दूसरेकी सेवा करते समय ऐसी ही भावना को स्थान दे तो हमारे कर्मोमे कितना परिवर्तन हो जाय ? जिसको जो सेवा मिल गई, वह ईश्वरकी ही सेवा है। ऐसी भावना करते रहना चाहिए।

किसान बैलकी सेवा करता है। उस बैलको क्या तुच्छ समझना चाहिए ? नही, वेदोमे वामदेवने शक्ति-रूपसे विश्वमे व्याप्त जिस बैलका वर्णन किया है, वही उस किसानके बैलमे भी मौजूद है—

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आविवेश।

जिसके चार सीग है, तीन पैर है, दो सिर है, सात हाथ है, जो तीन जगह बधा हुआ है, जो महान् तेजस्वी होकर सब मर्त्य वस्तुओमे व्याप्त है उसी गर्जना करने वाले विश्व-व्यापी बैलकी पूजा किसान करता है। टीकाकारोने इस एक ऋचाके पाच-सात भिन्न-भिन्न अर्थ दिये है। यह बैल है भी विचित्र ! आकाशमे गर्जना करके जो बैल पानी बरसाता है वही मल-मूत्रकी वृष्टि करके खेतमे फसल पैदा करने वाले इस किसानके बैलमे मौजूद है। यदि किसान इस उच्च भावनासे अपने बैलोकी सेवा चाकरी करेगा तो उसकी यह मामूली सेवा भी ईश्वरके अर्पण हो जायगी।

इसी तरह हमारे घरकी गृह-लक्ष्मी जो चौका लगाकर रसोई-घरको साफ-सुथरा रखती है, चूल्हा जलाती है, स्वच्छ और सात्विक भोजन बनाती है और यह इच्छा रखती है कि यह रसोई मेरे घरके सब लोगोको पुष्टि-तुष्टिदायक हो तो उसका यह सारा कर्म यज्ञ-रूप ही है। चूल्हा क्या, मानो उस माताने एक छोटा-सा यज्ञ ही जगाया है। परमेश्वरको तृप्त करनेकी भावना मनमे रख कर जो भोजन तैयार किया जायगा वह कितना स्वच्छ और पवित्र होगा जरा इसकी कल्पना कीजिए। यदि उस गृह-लक्ष्मीके मनमे ऐसी उच्च भावना हो तो इसे फिर भागवत्की ऋषि-पत्नि-

योंके ही समतोल रखना होगा। ऐसी कितनी ही माताए सेवा करके तर गई होंगी, और 'मैं-मैं' करने वाले पंडित और ज्ञानी कोनेमे ही पड़ रहे होंगे।

(४६)

हमारा दैनिक क्षण-क्षणका जीवन, मामूली दिखाई देता हो तो भी वह वास्तवमें वैसा नही होता। वह महान् अर्थ रखता है। सारा जीवन एक महान् यज्ञ-कर्म ही है। तुम्हारी निद्रा क्या, एक समाधि है। सब प्रकारके भोगोको यदि हम ईश्वरार्पण करके निद्रा लेगे तो वह समाधि नही तो क्या होगी ? हम लोगोमें स्नान करते समय पुरुष-सूक्तके पाठ करनेकी रूढि चली आ रही है। अब सोचो कि इस स्नानकी क्रियासे इस पुरुष-सूक्तका क्या सबध ? देखना चाहोगे तो जरूर दीखेगा। जिस विराट् पुरुषके हजार हाथ और हजार आखे है उसका मेरे इस स्नानसे क्या सबध ? सबध यह कि तुम जो लोटा भर जल सिर पर डालते हो, उसमे हजारो बूदे है; वे बूदे तुम्हारा मस्तक धो रही है—तुम्हे निष्पाप बना रही हैं। मानो तुम्हारे मस्तक पर ईश्वरका आशीर्वाद बरस रहा है। परमेश्वरके सहस्र हाथोसे सहस्र-धारा ही मानो तुमपर बरस रही है। इन बूदोके रूपमे मानो परमेश्वर ही तुम्हारे सिरके अदरका मैल धो रहे है। ऐसी दिव्य भावना उस स्नानमे डालो, तब वह स्नान कुछ और ही हो जायगा, उस स्नानमे अनत शक्ति आ जायगी।

कोई भी कर्म जब इस भावनासे किया जाता है कि वह परमेश्वर-का है तो मामूली होने पर भी पवित्र हो जाता है। यह बात अनुभव सिद्ध है। मनमे जरा यह भावना करके देखो तो कि जो व्यक्ति हमारे घर आया है वह ईश्वर-रूप है। कोई मामूली बड़ा आदमी भी जब हमारे घर आता है तो हम कितनी सफाई रखते है, और कैसा बढिया भोजन बनाते है। फिर यदि यह भावना करे कि वह परमेश्वर है तो भला बताओ, हमारी उस भावनामें कितना फर्क पड जायगा। कबीर कपडे बुनता था। उसी-मे निमग्न होकर वह गाता—

"झीनी झीनी बिनी चदरिया।"

यह गाता हुआ झूमता जाता। मानो परमेश्वरको ओढ़ानेके लिए वह

चादर बुन रहा हो। ऋग्वेदका ऋषि कहता है—

"वस्त्रेव भद्रा सुकृता सुपाणी"

मै अपना यह स्तोत्र सुदर हाथोसे बुने हुए वस्त्रकी तरह ईश्वरको ग्रहण कराता हू। कवि स्तोत्र बनाता है ईश्वरके लिए । बुनकर जो वस्त्र बनाता है सो भी ईश्वरके लिए ही। कैसी हृदयगम कल्पना! कितना चित्तको विशुद्ध बनानेवाला और हृदयको हिलोर देने वाला विचार!! यह भावना यदि जीवनमे एक बार आ जाय तो फिर जीवन कितना निर्मल हो जायगा! अधेरेमे जब बिजली आती है तो वह अधेरा एक क्षण-मे प्रकाश बन जाता है। वह अधकार क्या धीरे-धीरे प्रकाश बनता है? नही, एक क्षणमे ही सारा भीतर-बाहर परिवर्तन हो जाता है। उसी तरह प्रत्येक क्रियाको ईश्वरसे जोड देते ही जीवनमें एकदम अद्भुत शक्ति आती है। प्रत्येक क्रिया, विशुद्ध होने लगेगी। आज हमारे जीवनमें उत्साह है कहा? हम जी रहे है, क्योकि मरते नही। उत्साहका चारो ओर अकाल पडा हुआ है। कला-सौदर्य-हीन रोता हुआ जीवन परतु जरा यह भाव मनमे लाओ कि हमे अपनी सब क्रियाए—सब व्यापार ईश्वरके साथ जोडने है, फिर देखोगे कि तुम्हारा जीवन कितना रमणीक और नमनीय हो जायगा।

परमेश्वरके एक नाम-मात्रसे झट परिवर्तन हो जाता है। इसमे सदेह करनेकी जरूरत नही। यह मत कहो कि राम कहनेसे क्या होता है। जरा कहकर तो देखो। कल्पना करो कि सध्या समय किसान काम करके घर आ रहा है। रास्तेमे कोई मुसाफिर मिल जाता है। वह उससे कहता है—

'भाई यात्री, ओ नारायण, जरा ठहरो। अब रात होने आई। भगवन मेरे घर चलो।' उस किसानके मुहसे ऐसे शब्द निकलने तो दो, और फिर देखो, उस यात्रीका रूप बदलता है या नही। वह यात्री यदि डाकू और लुटेरा होगा तो भी पवित्र हो जायगा। यह फर्क भावनाके कारण होता है। भावनामें ही सब-कुछ भरा हुआ है। जीवन भावना-मय है। एक बीस सालका पराया लड़का हमारे घर आता है, पिता उसको

अपनी कन्या देता है। वह लडका तो २० सालका है, परंतु ५० सालका वह लडकीका पिता उसके पैर छूता है। यह क्या बात हुई? कन्या-अर्पण करनेका वह कार्य ही कितना पवित्र है। वह जिसे दी जाती है वह परमेश्वर ही मालूम होता है। यह जो भावना दामादके प्रति रखी जाती है उसीको और ऊपर ले जाओ, और आगे बढ़ाओ।

कोई कहेगे कि आखिर ऐसी झूठी कल्पना करनेसे लाभ क्या? मै कहता हूं कि पहलेसे ही सच्चा-झूठा मत कहो। पहले अभ्यास करो, अनुभव लो, तब तुम्हे सच-झूठ सब मालूम हो जायगा। उस कन्या-दानमें कोरी शाब्दिक नही किंतु यह सच्ची भावना करो कि वह जमाई सचमुच ही परमात्मा है तो फिर देख लोगे कि कितना फर्क पड जाता है। इस पवित्र भावनाके प्रभावसे वस्तुके पूर्व-रूप और उत्तर-रूपमे जमीन आसमानका अतर पड जायगा। कुपात्र सुपात्र हो जायगा। जो दुष्ट है वह सुष्ट हो जायगा। बाल्या भीलका कायापलट इसी तरह हुआ न? वीणा पर उगलिया नाच रही हैं, मुखसे नारायण नामका जप चल रहा है, और मारनेके लिए दौडता है तब भी शातिमे बाधा नही होती, उनकी ओर प्रेमपूर्ण दृष्टिसे निहारता है—ऐसा दृश्य ही बाल्याने इससे पहले कभी नही देखा था। उसने उस क्षण तक दो ही प्रकारके प्राणी देखे थे। एक तो उसकी तीर-कमठी देखकर भाग जानेवाले, या उलट कर उसपर हमला करनेवाले। परतु नारद उसे देखकर न तो भागे, न हमला ही किया, बल्कि शात भावसे खडे रहे। बाल्याकी तीर-कमान रुक गई। नारदकी न भौ हिली न आखे मुदी—मधुर भजन ज्यो-का-त्यो जारी था। नारदने बाल्यासे पूछा—"तुम्हारा तीर क्यो रुक गया?" बाल्याने कहा—"आपके शात भावको देखकर।" नारदने बाल्याका रूपान्तर कर दिया। यह रूपातर झूठ था या सच?

सचमुच ससारमें कोई दुष्ट है भी या नही, इसका निर्णय आखिर कौन करे? कोई असली दुष्ट सामने आ जाय तो भी ऐसी भावना करो कि यह परमात्मा है। वह दुष्ट होगा भी तो सत हो जायगा। तो क्या झूठ-मूठ यह भावना करें? मैं कहता हूं, किसको पता है कि वह दुष्ट ही है। बाज लोग कहते हैं कि सज्जन लोग खुद अच्छे होते हैं, इसलिए उन्हें

सब कुछ अच्छा दिखाई पड़ता है, परतु वास्तवमे ऐसा नही होता । तो फिर तुमको जैसा दिखाई देता है वह भी सच कैसे माने ? सृष्टिके सम्यक् ज्ञान होनेका साधन मानो अकेले दुष्टोके ही पास है । यह क्यो न कहा जाय कि सृष्टि तो अच्छी है, तुम दुष्ट हो इसलिए वह तुम्हे दुष्ट दिखाई देती है । देखो, सृष्टि क्या है, एक आइना है । तुम जैसे होओगे वैसे ही सामनेकी सृष्टिमे तुम्हारा प्रतिबिब दिखाई देगा । जैसी हमारी दृष्टि वैसा ही सृष्टिका रूप । इसलिए ऐसी कल्पना करो कि यह सृष्टि अच्छी है, पवित्र है । अपनी मामूली क्रियामे भी ऐसी भावना का सचार करो । फिर देखो कि क्या चमत्कार होता है । भगवान् यही बात समझा देना चाहते है—

जो-जो खाओ करो होमो तथा जो तप आचरो ।
देओ जो दान इत्यादि करो सो मम अर्पण ।

तुम जो-जो कुछ करो सब ज्योका त्यो भगवान्के अर्पण कर दो ।

मेरी मा बचपनमे एक कहानी सुनाया करती थी । बात मजेदार है, परतु उसका रहस्य बहुत मूल्यवान है । एक स्त्री थी । उसका यह निश्चय था कि जो कुछ करे सब कृष्णार्पण कर दे । वह करती क्या कि चौका लीपनेके बाद बची हुई गोबर-मट्टीका गोला बनाकर बाहर फेकती और कह देती–'कृष्णार्पणमस्तु' । होता क्या कि वह गोबरका गोला वहासे उठता और मदिरमे भगवान्की मूर्तिके मुहपर जाकर चिपक जाता । पुजारी बेचारा मूर्तिको धो-धोकर थक गया, पर कुछ उपाय नही चलता था । अतको मालूम हुआ कि यह करामात उस स्त्रीकी थी । जबतक वह स्त्री जीवित है तबतक मूर्ति कभी साफ रह ही नही सकती । एक दिन वह स्त्री बीमार हो गई । मरणकी अतिम घडी नजदीक आ गई । उसने मरणको भी कृष्णार्पण कर दिया । उसी समय मदिरकी मूर्तिके टुकड़े-टुकडे हो गये । मूर्ति टूटकर गिर पडी । ऊपरसे विमान आया स्त्रीको लेनेके लिए । उसने विमानको भी कृष्णार्पण कर दिया । विमान जाकर मदिरसे टकराया और वह भी टुकडे-टुकडे हो गया । स्वर्ग श्रीकृष्ण के ध्यानके सामने बेकार है ।

मतलब यह कि जो कुछ भला-बुरा कर्म हमसे हो सबको ईश्वरार्पण कर देनेसे उनमें कुछ और ही सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है। ज्वारका दाना यो कुछ पीलापन और लाली लिये हुए होता है। पर उसीको भूननेसे कितनी बढिया फूली बन जाती है। साफ सफेद, अठपहलू, व्यवस्थित व शानदार उस फूलीको उस दानेके पास रखकर देखो कितना फरक है ? मगर वह फूली है उस दानेकी ही, इसमे सदेह नही। यह फरक महज एक आगके कारण हो गया। इसी तरह उस सख्त दानेको चक्कीमें डाल कर पीसो तो उसका मुलायम आटा बन जायगा। आगके सपर्कसे फूली बन गई, चक्कीमे डालनेसे मुलायम आटा बन गया। इसी तरह हमारी किसी छोटी-सी क्रिया पर भी हरिस्मरण-रूपी सस्कार करनेसे वह अपूर्व हो जायगी। भावनासे मोल बढ जाता है। वह गुडेलका मामूली-सा फूल, बेलकी पत्तिया, तुलसीकी मजरी और दूबके तिनके, इन्हे तुच्छ मत मानो—

'तुका कहे स्वाद पाया–राम-मिश्रित जो हो गया'

प्रत्येक बातमे भगवान्‌को मिला दो और फिर अनुभव करो। इस राम-रूपी मसालेके बराबर दूसरा कोई मसाला है क्या ? इस दिव्य मसालेसे बढकर तुम दूसरा कौन-सा मसाला लाओगे ? यही ईश्वर-रूपी मसाला अपनी प्रत्येक क्रियामे मिला दो, फिर सब-कुछ सुदर और रुचिकर हो जायगा।

रातको आठ बजे जब मदिरमे आरती हो रही हो, धूपकी सुगध फैल रही हो, दीप जलाये जा रहे हो, आरती उतारी जा रही हो, ऐसे समय सचमुच यह भावना होती है कि हम परमात्माको देख रहे है। भगवान् दिन भर जागे, अब उनके सोनेका समय हुआ। भक्त गाते है—

'सुख निंदिया अब सोओ गोपाल।'

पर शकाशील पूछता है—"चलो, भगवान् भी कही सोता है ?"

अरे, भगवान् क्या नही करता ? भले आदमी अगर भगवान् सोता नही, जागता नही, तो क्या यह पत्थर सोयेगा, जागेगा ? भाई, भगवान् ही सोता है, भगवान् ही जागता है, और भगवान् ही खाता-पीता है।

तुलसीदासजी प्रात कालके समय भगवान्‌को जगाते है, विनय करते हैं--

'जागिये रघुनाथ कुंवर पंछी बन बोले ।'

अपने भाई-बहिनोको, स्त्री-पुरुषोको रामचद्रकी मूर्ति मान कर वे कहते है--"मेरे रामचद्रो अब उठो ।"कितना सुदर विचार है ! नही तो किसी बोर्डिग को लो । वहां लडकोको उठाते समय डाट कर कहते है--"अरे, उठते हो कि नही ?" प्रात कालकी मगल-वेला ! ऐसे समय कठोर वाणी अच्छी लगती है ? विश्वामित्रके आश्रममे राम-चद्र सो रहे है । विश्वामित्र उन्हे उठा रहे है । वाल्मीकि-रामायणमें उसका इस प्रकार वर्णन है --

"रामेति मधुरां वाणीं विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ।
उत्तिष्ठ नरशार्दूल पूर्वा सन्ध्या प्रवर्तते ॥"

"बेटा राम, उठो अब !" इस प्रकार मधुर स्वरसे विश्वामित्र उन्हे उठा रहे है । कितना मधुर है यह कर्म । और बोर्डिगका वह जगाना कितना कर्कश है ! बेचारे सोये हुए लडकेको ऐसा मालूम होता है मानो कोई सात जन्मका बैरी ही जगाने आया है । पहले धीरे-धीरे पुकारो, फिर कुछ जोरसे पुकारो । परतु कर्कशता, कठोरता बिलकुल न होनी चाहिए । यदि न जगे तो फिर दस मिनटके बाद जाओ । आशा रखो कि आज नही तो कल उठेगा । उसके उठानेके लिए मीठे-मीठे गाने, प्रभाती, स्तोत्र आदि सुनाओ । जगानेकी मामूली क्रिया है परतु हम उसे कितना काव्यमय, सहृदय और सुदर बना सकते है । मानो भगवान्‌को ही उठाना है । परमेश्वरकी मूर्तिको ही धीरेसे जगाना है । नीद-सैं कैसे जगाना यह भी एक शास्त्र है ।

अपने सब व्यवहारोमे इस कल्पनाका प्रवेश करो । शिक्षणशास्त्रमें तो इस कल्पनाकी बहुत ही जरूरत है । लडके क्या है, प्रभुकी मूर्तिया है । गुरुकी यह भावना होनी चाहिए कि मै इन देवताओकी ही सेवा कर रहा हू । तब वह लडकोको ऐसे नही झिडकेगा--"चले जाओ अपने घर ! खडे रहो घटे भर । हाथ लबा करो । कैसे मैले कपडे है ? नाक-हाथ कितने गदे है !" बल्कि हल्के हाथसे नाक साफ कर देगा, मैले

कपड़े धो दगा और फटे कपडोको सी देगा। यदि शिक्षक ऐसा करे तो इसका कितना अच्छा परिणाम होगा! मार-पीट कर कही नतीजा निकाला जा सकता है? लड़कोको भी चाहिए कि वे इसी दिव्य भावनासे गुरुको देखें। गुरु यह समझे कि शिष्य हरि-मूर्ति है और लडके भी गुरुको हरि-मूर्ति ही मानें, ऐसी भावना परस्पर रखकर यदि दोनो व्यवहार करें तो विद्या कितनी तेजस्वी हो जायगी। लड़के भी भगवान् और गुरु भी भगवान्! यदि लडकोका यह खयाल हो गया कि यह गुरु नही भगवान् शकरकी मूर्ति है; हम उनसे बोधामृत पान कर रहे है; उनकी सेवा करके ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं; तो फिर बतलाओ, लडके उनके साथ कैसा व्यवहार करेंगे?

(४७)

सब जगह प्रभु विराजमान है ऐसी भावना चित्तमे पैठ जाय तो फिर एक दूसरेके साथ हम कैसा व्यवहार करे यह नीति-शास्त्र हमारे अन्तः-करणमें अपने आप स्फुरने लगेगा। शास्त्र पढनेकी जरूरत ही न रहेगी। तब सब दोष दूर हो जायगे, पाप पलायन कर जायगे, दुरितोका तिमिर हट जायगा।

अच्छा चलो, तुमको पाप करनेकी छुट्टी। मैं देखता हू तुम पाप करनेसे थकते हो या हरिनाम पाप जलानेसे थकता है। ऐसा कौन-सा जबरदस्त और मगरूर पाप है जो हरिनामके सामने टिक सकता है? "करो जितने चाहे पाप"। करो, तुमसे जितने पाप हो सके करो। तुमको आम इजाजत है। होने दो हरिनामकी और तुम्हारे पापोकी कुश्ती! अरे इस हरिनाममे इस जन्मके ही नही अनत जन्मोके पाप पलभरमें भस्म कर डालनेका सामर्थ्य है। गुफामे अनत युगका अधकार भरा हो तो भी एक दियासलाई जलाई कि वह भागा। उस अन्धकारका प्रकाश हो जाता है। पाप जितने पुराने उतने जल्दी ही वे नष्ट होते है। क्योंकि वे मरनेको ही होते है। पुरानी लकड़िया उसी क्षण खाक हो जाती है।

राम-नामके नजदीक पाप ठहर ही नही सकता। बच्चे कहते हैं न, कि राम कहते ही भूत भागता है? हम बचपनमे रातको स्मशान हो

आते थे। स्मशानमें जाकर मेख ठोककर आनेकी शर्त लगाया करते। रातको साप भी रहते; काटे भी होते, बाहर चारों ओर अंधकार । तो भी कुछ नही मालूम होता। भूत कभी दिखाई ही नही दिया। कल्पना के ही तो भूत, फिर दिखने क्यो लगे? एक दस वर्षके बच्चेमें रातको स्मशान-में जाकर आनेका सामर्थ्य कहासे आ गया ? राम-नामसे। वह सामर्थ्य सत्य-रूप परमात्माका था। यदि यह भावना हो कि परमात्मा मेरे पास है तो सारी दुनियाके उलट पडनेपर भी हरिका दास भयभीत न होगा। उमे कौन-सा राक्षस खा सकता है ? राक्षस उसके तन-बदनको खा भी डालें और पचा भी डालें, परतु उसे सत्य नही पचा सकेगा। सत्यको पचा डालनेकी शक्ति ससारमे कही नही। ईश्वर नामके सामने पाप जरा भी नही ठहर मकता। इसलिए ईश्वरसे जी लगाओ। उसकी कृपा प्राप्त करलो। मब कर्म उसे अर्पण कर दो। उसीके हो जाओ। अपने सब कर्मोंका नैवेद्य प्रभुको अर्पण करना है, इस भावनाको उत्तरोत्तर अधिक उत्कट बनाते चले जाओगे तो क्षुद्र जीवन दिव्य हो जायगा, मलिन जीवन सुदर हो जायगा।

(४८)

'पत्र पुष्प फल तोयम्' कुछ भी हो, उसके साथ भक्ति-भाव हो तो काफी है। कितना दिया, कितना चढ़ाया, यह भी मुद्दा नही, किस भावना-से दिया यही मुद्दा है। एक बार एक प्रोफेसरके साथ मेरी चर्चा चल रही थी। वह शिक्षण-शास्त्र-सबधी थी। हम दोनोके विचार मिलते नही थे। अतको प्रोफेसरने कहा—"भाई, मै अठारह सालसे काम कर रहा हू।" प्रोफेसरको चाहिए था कि वे मुझे कायल करते; परन्तु ऐसा न करते हुए जब उन्होने मुझसे कहा कि मैं इतने सालसे शिक्षाका कार्य कर रहा हू तो मैने उनसे मजाकमें कहा—"अठारह साल तक बैल यदि यत्रके साथ घूमता रहे तो क्या वह यंत्र-शास्त्रज्ञ हो जायगा ?" यंत्र-शास्त्रज्ञ और चीज है और आख मूद कर चक्कर काटनेवाला बैल और चीज है। शिक्षा-शास्त्रज्ञ और चीज है और शिक्षणका बोझा ढोने वाला और चीज। जो शास्त्रज्ञ होगा वह छ' महीनेमें ही ऐसा अनुभव प्राप्त कर लेगा कि जो १८ साल

तक बोझा ढोनेवाले मजदूरकी अक्लमे नही आ सकेगा। मतलब यह कि उस प्रोफेसरने मुझे अपनी डाढी दिखाई कि मैने इतने साल काम किया हैं, किन्तु डाढ़ीसे सत्य सिद्ध नही हो सकता। इसी तरह परमेश्वरके सामने कितना ढेर लगा दिया इसका महत्त्व नही है। मुद्दा नामका, आकारका, कीमतका नही है; मुद्दा भावनाका है। कितना क्या अर्पण किया, इससे मतलब नही, बल्कि कैसे किया यह मुद्दा है। गीतामे कुल ७०० ही श्लोक है। पर ऐसे भी ग्रथ है जिनमें १०-१० हजार श्लोक है। वस्तुका आकार बडा होनेसे उसका उपयोग भी बडा या ज्यादा होगा ही ऐसा नही कह सकते। देखनेकी बात यह है कि वस्तुमें तेज कितना है, सामर्थ्य कितना है? जीवनमें क्रिया कितनी थी, इसका महत्त्व नही। ईश्वरार्पण बुद्धिसे यदि एक भी क्रियाको हो तो वही हमे काफी पूरा लाभ या अनुभव करा देगी। कभी-कभी किसी एक ही पवित्र क्षणमें हमे इतना अनुभव होता है जितना १२-१२ सालोमें भी नही हो सकता।

आशय यह कि जीवनके मामूली कर्म और मामूली क्रियाओको परमेश्वरके अर्पण कर दो तो इससे जीवनमे सामर्थ्य आ जायगा। मोक्ष हाथ लग जायगा। कर्म करके भी उसका फल न छोडकर उसे ईश्वरके अर्पण करना, यह राज-योग हुआ। यह कर्म-योगसे भी एक कदम आगे जाता है। कर्म-योग कहता है कि "कर्म करो, फल छोडो। फलकी आशा मत रखो।" यहा कर्म-योग खतम हो गया। राज-योग कहता है "कर्मके फलोको छोडो मत, बल्कि सब कर्म ईश्वरके अर्पण कर दो। वे फूल है, तुम्हें आगे ले जानेवाले साधन हे, उन्हे उस मूर्तिपर चढा दो।" एक ओरसे कर्म और दूसरी ओरसे भक्तिका मेल मिलाकर जीवनको सुदर बनाते जाओ। त्यागो मत फलोको। फलोको फेंकना नही, बल्कि भगवान्से जोड़ देना है। कर्म-योगमें तोडा फल राज-योगमें जोड दिया जाता है। बोने और फेंक देनेमें फर्क है। बोया हुआ थोडा भी अनंत गुना होकर मिलता है। फेंका हुआ यो ही नष्ट हो जाता है। जो कर्म ईश्वरके अर्पण किया गया है वह बोया गया है। उससे जीवनमें अनत आनद भर जायगा, अपार पवित्रता छा जायगी।

दसवां अध्याय

रविवार, २४-४-३२

(४९)

मित्रो, गीताका पूर्वार्द्ध खतम हो गया। उत्तरार्द्धमे प्रवेश करनेके पहले जो भाग हम खतम कर चुके उसका थोडेमे सार देख लें तो अच्छा रहेगा। पहले अध्यायमें यह बताया गया कि गीता मोह-नाशके लिए व स्वधर्ममे प्रवृत्त करानेके लिए है। दूसरे अध्यायमें जीवनके सिद्धात, कर्म-योग और स्थितप्रज्ञका दर्शन हमे हुआ। तीसरे, चौथे और पाचवें अध्यायमे कर्म, विकर्म और अकर्मकी समस्या हल की गई। कर्मका अर्थ है—स्वधर्माचरण करना। विकर्मका अर्थ है वह मानसिक कर्म जो स्वधर्माचरणकी मददके लिए किया जाता है। कर्म और विकर्म दोनो एक-रूप होकर जब चित्तकी शुद्धि हो जाती है, सब प्रकारके मल धुल जाते है, वासना क्षीण हो जाती है, विकार शान्त हो जाते है, भेद-भाव मिट जाता है, तब अकर्म दशा प्राप्त होती है। यह अकर्म दशा फिर दो प्रकारकी बताई गई है। इसका एक प्रकार तो यह कि दिन-रात कर्म करते हुए भी मानो लेश-मात्र कर्म न कर रहे हो ऐसा अनुभव होना। इसके विपरीत दूसरा प्रकार यह कि कुछ भी न करते हुए सतत कर्म करते रहना। इस प्रकार अकर्म दशा दो प्रकारोमें परिणत हो जाती है। ये दो प्रकार यो दिखाई अलग-अलग देते है तथापि है पूर्ण-रूपसे एक ही। उनके नाम यद्यपि कर्म-योग और सन्यास इस तरह अलग-अलग बताये गए है, फिर भी भीतरकी सार-वस्तु दोनोमे एक ही है। अकर्म-दशा अतिम साध्य, आखिरी मजिल है। इस स्थितिको मोक्ष सज्ञा दी गई है। अत. गीताके पहले पाच अध्यायोमे जीवनका सारा शास्त्रार्थ समाप्त हो गया।

उसके बाद छठे अध्यायसे अकर्म-रूपी साध्य प्राप्त करनेके लिए विकर्मके जो अनेक मार्ग है, मनको भीतरसे शुद्ध करनेके जो अनेक साधन

है, उनमेसे कुछ मुख्य साधन बतानेकी शुरूआत की गई है। छठे अध्यायमें चित्तकी एकाग्रता के लिए ध्यान-योग बताकर अभ्यास व वैराग्यका सहारा उसे दिया गया है। सातवें अध्याय मे विशाल भक्तिरूपी उच्च साधन बताया गया। तुम ईश्वरकी ओर चाहे प्रेम-भावसे जाओ, जिज्ञासु बुद्धिसे जाओ, विश्व-कल्याणकी व्याकुलतासे जाओ, या व्यक्तिगत कामना से जाओ; किसी तरीकेसे जाओ, परतु एक बार उसके दरबारमे पहुच जरूर जाओ। इस अध्यायके इस विषयका नाम मैंने 'प्रपत्ति-योग', अर्थात् ईश्वरकी शरणमे जानेकी प्रेरणा करनेवाला योग दिया है। सातवेंमे प्रपत्ति-योग बताकर आठवे मे 'सातत्य-योग' बताया है। मैं जो ये नाम बता रहा हू वे तुम्हे पुस्तकमें नही मिलेगे। अपने लिए जो उपयोगी नाम मालूम हुए वही मैंने रख दिये। सातत्य-योगका अर्थ है— अपनी साधनाको अत-काल तक सतत चालू रखना। जिस रास्तेपर एक बार चल पडे उसीपर सतत कदम बढाते जाना चाहिए। कुछ दिन किया, कुछ दिन छोड दिया, इस तरह करनेसे मजिलपर पहुचनेकी कभी आशा नही हो सकती। ऊबकर निराशासे कभी यह खयाल न करना चाहिए कि अब कहातक साधना करते रहे। जबतक फल न प्रकट हो तब तक साधना जारी रखना चाहिए।

इस सातत्य-योगका परिचय देकर नवे अध्यायमे बहुत मामूली, परतु जीवनका सारा रग ही बदल देनेवाली, एक बात भगवान्ने बताई है, और वह है राज-योग। नवा अध्याय कहता है कि जो कुछ भी कर्म हर घडी होते हैं वे सब कृष्णार्पण कर दो। इस एक ही बातसे सारे शास्त्र-साधन, सब कर्म-विकर्म डूब गये। सब कर्म-साधना इस समर्पण-योगमें विलीन हो गई। समर्पण-योगको ही राज्य-योग कहते है। यहां सब साधन समाप्त हो गये। यह व्यापक और समर्थ ईश्वरार्पण-रूपी साधन यो बहुत सादा और मामूली दिखता है, परतु हो बैठा है कठिन। यह साधना सरल इसलिए है कि बिलकुल अपने घरमे बैठकर एक गंवारसे लेकर विद्वान् तक सब बिना विशेष श्रमके इसे साध सकते हैं। हालांकि यह इतना सरल है, फिर भी इसे साधनेके लिए बडे भारी पुण्यकी जरूरत है।

'अनेक सुकृतोंका योग—इसीसे विट्ठलमें प्रेम।'

अनत जन्मोका पुण्य सचित हो जाता है तभी ईश्वरमे रुचि उत्पन्न होती है। जरा कुछ हो तो आखोमें आसू बहने लगते है। परतु भगवान्‌का नाम लेते ही आखोमे दो बूद आसू कभी नही आते। इसका उपाय क्या? सतोके कथनानुसार एक तरहसे यह साधना बहुत ही सरल है, परतु दूसरे पहलूमे वह कठिन भी है। और वर्तमान समयमें तो और भी कठिन हो गई है।

आज तो जड-वादका पटल हमारी आखोपर पडा हुआ है। आज तो शुरूआत यहासे होती है कि ईश्वर कही है भी? वह कही भी किसीको प्रतीत ही नही होता। सारा जीवन विकार-मय विषय-लोलुप और विषमतासे परिपूर्ण हो रहा है। इस समय तो जो ऊचे-से ऊचे तत्व-ज्ञानी है उनके भी विचार इस बातसे आगे जा ही नही सकते कि सबको पेट भर रोटी कैसे मिलेगी। इसमे उनका दोष नही है, क्योकि आज हालत ऐसी है कि कइयोको खानेको भी नही मिलता। आजकी बडी समस्या है रोटीकी। इसी समस्याको हल करनेमें आज सारी बुद्धि उलझ रही है। सायणाचार्यने रुद्रकी व्याख्या की है—

"बुभुक्षमाणः रुद्ररूपेण अवतिष्ठते"

भूखे लोग ही रुद्रके अवतार है। उनकी क्षुधा-शातिके लिए अनेक तत्त्व-ज्ञान और विभिन्न राज-कारण बन गये है। भिन्न-भिन्न 'वाद' इसी रोटीके लिए खडे हुए है। इन समस्याओमेसे सिर ऊपर उठानेके लिए आज फुरसत ही नही मिलती। आज हमारे सारे भगीरथ प्रयत्न इसी दिशामें हो रहे है कि परस्पर न लडते हुए सुख-शातिसे व प्रसन्न मनसे रोटी कैसे खा लें। ऐसी विचित्र समाज-रचना जिस युगमे हो रही है वहा ईश्वरार्पणता जैसी सीधी-सादी और सरल बात भी बहुत कठिन हो बैठे तो क्या आश्चर्य! परतु इसका उपाय क्या है? दसवे अध्यायमें आज हम यही देखनेवाले है कि ईश्वरार्पण-योग कैसे साधा जाय, कैसे सरल बनाया जाय।

(५०)

छोटे बच्चोको पढानेके लिए जो तदबीर हम करते है वैसी ही तरकीब परमात्माका दर्शन सर्वत्र हो इसलिए इस अध्यायमें की गई है। बच्चोंको

वर्णमाला दो तरहसे सिखाई जाती है। एक तरकीब पहले बडे-बडे अक्षर लिख कर बतानेकी। फिर इन्ही अक्षरोको छोटा लिख-लिखकर बताया जाता है। वही 'क' और वही 'ग', परतु पहले ये बडे थे अब छोटे हो गये। यह एक विधि हुई। दूसरी विधि यह कि पहले सीधे-सादे सरल अक्षर सिखाये जाय और बादमे जटिल सयुक्ताक्षर। ठीक इसी तरह परमेश्वरको देखना सीखना चाहिए। पहले स्थूल, स्पष्ट परमेश्वरको देखे। समुद्र, पर्वत आदि महान् विभूतियोमे प्रकटित पर-मेश्वर तुरन्त आखोमे समा जाता है, यह स्थूल परमात्मा समझ मे आ गया तो एक जल-बिदुमे, मिट्टीके एक कणमे वही परमात्मा भरा हुआ है, यह भी आगे समझमे आजायगा। बडे 'क' व छोटे 'क' मे कोई फर्क नही। जो स्थूलमे वही सूक्ष्ममे। यह एक पद्धति हुई। अब दूसरी पद्धति है सीधे-सादे सरल परमात्माको देख ले, फिर उसके जटिल रूपको। जिस व्यक्तिमे शुद्ध परमेश्वरी आविर्भाव सहज रूपसे प्रकट हुआ है वह बहुत जल्दी ग्रहण कर लिया जा सकता है। जैसे राममे प्रकटित परमेश्वरी आविर्भाव तुरत मन पर अकित हो जाता है। राम सरल अक्षर है। यह बिना झझटका परमेश्वर है। परतु रावण ? वह सयुक्ताक्षर है। इसमे कुछ-न-कुछ मिश्रण है। रावणकी तपस्या, कर्म-शक्ति महान् है। परतु उसमे क्रूरता मिली हुई है। पहले राम-रूपी सरल अक्षरको सीख लो। जिसमे दया है, वत्सलता है, प्रेम-भाव है ऐसा राम सरल परमेश्वर है, वह तुरत पकडमे आ जायगा। रावणमे रहनेवाले परमेश्वरको समझनेमे जरा देर लगेगी। पहले सरल फिर सयुक्ताक्षर। सज्जनोमे पहले परमात्माको देखकर अतको दुर्जनोमे भी उसे देखनेका अभ्यास करना चाहिए। समुद्र-स्थित विशाल परमेश्वर ही पानीकी बूदमे है। राम-चन्द्रके अदरका परमेश्वर ही रावणमे है। जो स्थूलमे है, वही सूक्ष्ममे भी। जो सरलमे है, वही कठिनमे भी। इन दो विधियोसे हमे यह ससाररूपी ग्रथ पढना सीखना है।

यह अपार सृष्टि मानो ईश्वरकी पुस्तक है। आखोपर गहरा पर्दा पड़नेसे यह पुस्तक हमे बद हुई-सी जान पडती है। इस सृष्टि-रूपी पुस्तकमें सुदर वर्णोंमें परमेश्वर सर्वत्र लिखा हुआ है। परतु वह हमे दिखाई नही

देता। ईश्वरका दर्शन होनेमे एक बडा विघ्न है। वह यह कि मामूली सरल नजदीकका ईश्वर-स्वरूप मनुष्यकी समझमे नही आता और दूर-का प्रखर रूप उसे हजम नही होता। यदि उससे कहे कि अपनी मातामे ईश्वरको देखो तो वह कहेगा क्या ईश्वर इतना सीधा और सरल है? पर यदि प्रखर परमात्मा प्रकट हुआ तो उसका तेज तुम सह सकोगे? कुतीके मनमे हुआ--वह दूर वाला सूर्य मुझे प्रत्यक्ष आकर मिले; परंतु उसके नजदीक आते ही वह जलने लगी। उसका तेज उससे सहन न हुआ। ईश्वर यदि अपने सारे सामर्थ्यके साथ सामने आकर खडा हो जाय तो हमे पच नही सकता। यदि माताके सौम्य-रूपमे आकर खडा हो जाय तो वह जचता नही। पेड़ा-बर्फी पचता नही, और मामूली दूध रुचता नही। ये लक्षण है--पामरताके, दुर्भाग्यके, मरणके। ऐसी यह रुग्ण मन-स्थिति परमेश्वरके दर्शनमे बडा भारी विघ्न है। इस मन-स्थितिको हटानेकी बडी भारी जरूरत है। पहले हम अपने पासके स्थूल और सरल परमात्मा को पढ ले और फिर सूक्ष्म और जटिल परमात्माको पढे।

(५१)

बिलकुल पहली परमेश्वरकी मूर्ति जो हमारे पास है वह है खुद हमारी मा। श्रुति कहती है--"मातृ देवो भव"। पैदा होते ही बच्चेको माके सिवाय और कौन दिखाई देता है? वत्सलताके रूपमे वह परमेश्वर की मूर्ति ही वहा उपस्थित दिखाई देती है। उस माताकी ही व्याप्तिको हम बढा ले और 'वन्दे मातरम्' कहकर राष्ट्र-माताकी और फिर अखिल भू-माता पृथ्वीकी पूजा करे। परतु प्रारभमे सबसे ऊची परमेश्वरकी पहली प्रतिमा जो बच्चेके सामने आती है वह माताके रूपमे। माताकी पूजासे मोक्ष मिलना असभव नही है। माताकी पूजा क्या है, मानो वत्सलता-से खड़े परमेश्वरकी ही पूजा है। मा तो एक निमित्त-मात्र है। परमेश्वर उसमें अपनी वत्सलता उडेल कर उसे नचाता है। उस बिचारी-को मालूम भी नही होता कि यह इतनी माया ममता भीतरसे क्यो मालूम होती है? क्या वह यह हिसाब लगाकर बच्चेका लालन-पालन करती है कि बुढापेमे काम आयेगा? नही, नही, उसने उस बालकको जन्म दिया

है। उसे प्रसव-वेदना हुई है। उन वेदनाओंने उसे उस बच्चेके लिए पागल बना दिया है। वे वेदनाए उसे वत्सल बना देती हैं। वह प्यार किये बिना रही नही सकती। वह मजबूर है। वह मा मानो निस्सीम सेवाकी मूर्त्ति है। परमेश्वरकी यदि कोई सबसे उत्कृष्ट पूजा है तो वह है मातृ-पूजा। ईश्वरको माके ही नामसे पुकारो। मांसे बढकर और ऊचा शब्द है कहा? मां यह पहला स्थूल अक्षर है। उसमे ईश्वर देखना सीखो। फिर पिता, गुरु इनमे भी देखो। गुरु शिक्षा देते है। वह हमें पशुसे मनुष्य बनाते हैं। कितने है उनके उपकार। पहले माता, फिर पिता, फिर गुरु, फिर दयालु सत। अत्यन्त स्थूल रूपमे खडे इस परमेश्वर-रूपको पहले देखो। अगर परमेश्वर यहा नही दिखाई दिया तो फिर दीखेगा कहा?

माता, पिता, गुरु, सत—इनमे परमात्माको देखो। उसी तरह यदि छोटे बालकोमे भी हम परमात्माको देख सके तो कितना मजा आये? ध्रुव, प्रह्लाद, नचिकेता, सनक, सनदन, सनत्कुमार—ये सब छोटे बालक ही तो थे। परतु पुराणकारोको, व्यासादिकको उनसे इतना प्रेम हो गया कि अब उन्हे कहा रखे? शुकदेव, शकराचार्य बचपनसे ही विरक्त थे। ज्ञानदेवका भी यही हाल था। सबके सब बालक। परंतु उनमें परमेश्वर जितने शुद्ध रूपमे प्रकट हुआ है उतना कही अन्यत्र नही। ईसा-मसीह बच्चोको बहुत प्यार करते थे। एक बार उनके शिष्योने उनसे पूछा—'आप हमेशा ईश्वरीय राज्यका जिक्र करते है। तो इस ईश्वरके राज्यमे आखिर जा कौन सकेगा?' पास ही एक बच्चा बैठा था। ईसाने उसे मेजपर खडा करके कहा—'जो इस बच्चेकी तरह होंगे वे ही वहां पहुच सकेगे।' ईसाका कहना बिलकुल सच था। रामदास स्वामी एक बार बच्चेके साथ खेल रहे थे। बच्चेके साथ समर्थ खेल रहे है यह देखकर कुछ बड़े-बूढोको आश्चर्य हुआ। एकने उनसे पूछा—'आज आप यह क्या कर रहे हैं?' समर्थने जवाब दिया—

हुए श्रेष्ठ वे जो रहे हां, कनिष्ठ।
रहे ज्येष्ठ जो हो रहे चोर श्रेष्ठ॥

ज्यो-ज्यो उम्र बढती है त्यों-त्यो मनुष्यके मनमे वासनाएं बढ़ती जाती

है। फिर परमेश्वरका स्मरण कहा ? छोटे बच्चोके मनपर कोई लेप नही रहता। उनकी बुद्धि निर्मल रहती है। बच्चेको हम सिखाते है–'झूठ मत बोलो।' वह पूछता है–'झूठ किसे कहते है ?' तब उसे सिद्धात बताते है–'बात जैसी हो वैसी ही कहना चाहिए'। लडका उलझनमे पडता है कि क्या जैसा हो वैसा कहनेके अलावा भी कहनेका कोई दूसरा-तरीका है ? जैसा नही हो वैसा कहे कैसे ? चौकोरको चौकोर कहो, गोल मत कहो–ऐसा ही कहने जैसा है। बच्चेको आश्चर्य होता है। बच्चे क्या है, विशुद्ध परमात्माकी मूर्ति है। बडे लोग उन्हे गलत शिक्षा देते है। जो हो। मा, बाप, गुरु, सत, बच्चे–इनमे यदि हम परमात्माको न देख सकें तो फिर किस रूपमे देखेंगे ? इससे उत्कृष्ट रूप परमेश्वरका दूसरा नही है। परमेश्वरके इन सादे-सौम्य रूपोको पहले जानो। इनमे परमेश्वर स्पष्ट व मोटे अक्षरोमे लिखा हुआ है।

(५२)

पहले हम मानवकी सौम्यतम व पावन मूर्त्तियोमे परमात्माका दर्शन करना सीखे। उसी तरह इस सृष्टिमे भी जो-जो विशाल व मनोहर रूप हैं, उनमे उसके दर्शन पहले करें। उषाको ही लो। सूर्योदयके पहले-की वह दिव्यप्रभा। इस उषा-देवताके गान मस्त होकर ऋषि गाने लगते हैं, "उषे, तू परमेश्वरका सदेश लानेवाली दिव्य दूतिका है, तू हिमकणोंसे नहाकर आई है। तू अमृतत्वकी पताका है।" ऐसे भव्य हृदयगम वर्णन ऋषियोने उषाके किये है। वैदिक ऋषि कहते है—"तेरा दर्शन करके, जो कि परमेश्वर की सदेश वाहिका है, यदि परमेश्वका रूप न दिखाई दे, न समझमे आये तो फिर मुझे परमेश्वरका परिचय कौन करायेगा।" इतनी सुदरतासे सज-धजकर यह उषा सामने खडी है, परतु हमारी निगाह वहा तक जाय तब न ?

उसी तरह सूर्यको देखो। उसके दर्शन मानो परमात्माके ही दर्शन है। वह नाना प्रकारके रग-बिरगे चित्र आकाशमे खीचता है। चित्रकार महीनो कूची इधर-उधर घुमाकर सूर्योदयके चित्र बनाते और उनमे रग भरते है। परतु तुम सुबह उठकर परमेश्वरकी कलाको देखो तो !

उस दिव्य कलाके लिए—उस अनन्त सौन्दर्यके लिए भला क्या उपमा दी जा सकेगी ? परतु देखता कौन है ? उधर वह सुदर भगवान् खड़ा है और इधर यह मुहपर और भी रजाई डालकर नीदमें खुर्राटे भरता है। सूर्यदेव कहते है—"अरे आलसी, तू तो पडा ही रहना चाहता है, किन्तु मै तुझे उठाऊगा।" और वह अपने जीवन-किरण खिड़कियोंमें से भेजकर उस आलसीको जगा देता है।

"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"

सूर्य समस्त स्थावर-जगमका आत्मा है। चराचरका आधार है। ऋषिने उसे 'मित्र' नाम दिया है —

"मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणो ,
मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।"

"यह मित्र लोगोको पुकारता है, उनको काम-धाममे लगाता है। वह स्वर्ग और पृथ्वीको धारण किये है।" सचमच ही वह सूर्य जीवनका आधार है। उसमे परमात्माके दर्शन करो।

और वह पावन गगा ! जब मै काशीमें था तो गंगाके किनारे जाकर बैठ जाया करता। रातमें, एकात समयमे जाता था। कितना सुदर और प्रसन्न उसका प्रवाह था। उसका वह भव्य गभीर प्रवाह और उसके उदरमें सचित वे आकाशके अनत तारे। मै मूक बन जाता। शकरके जटाजूटसे अर्थात् उस हिमालयसे बहकर आनेवाली वह गगा जिसके तीरपर राज-पाटको तृणवत् फेककर राजा लोग तप करने जाते थे, उस गगाका दर्शन करके मुझे असीम शाति अनुभव होती। उस शातिका वर्णन मैं कैसे करू ? वाणीकी वहां सीमा आ जाती है। यह समझमे आने लगा कि हिन्दू यह क्यो चाहता है कि मरनेपर निदान मेरी अस्थि तो गंगामे पड़ जाय ? आप हसिये। आपके हसनेसे कुछ बिगडता नही। परतु मुझे ये भावनाएं बहुत पवित्र और सग्रहणीय मालूम होती है। मरते समय गंगाजलके दो बूद मुहमे डालते है। वे दो बूद क्या है, मानो परमेश्वर ही मुहमें उतर आता है। उस गगाको परमात्मा ही समझो। वह परमेश्वरकी करुणा बह रही है। तुम्हारा सारा भीतरी बाहरी कूड़ा-कर्कट वह माता धो रही

है, बहा ले जा रही है। गगामातामे यदि परमेश्वर प्रकटित न दिखाई दे तो कहा दिखाई देगा ? सूर्य, नदिया, धू-धू करके हिलोरे मारने वाला वह विशाल सागर, ये सब परमेश्वरकी ही मूर्तिया है।

और वह हवा ! कहासे आती है, कहा जाती है, कुछ पता नही। यह भगवान्का दूत ही है। हिन्दुस्तानमे कुछ हवा स्थिर हिमालयपर-से आती है, कुछ गभीर सागरपरसे। यह पवित्र हवा हमारे हृदयको छूती है, हमे जाग्रत करती है, हमारे कानोमे गुनगुनाती है। परन्तु इस हवाका सदेश सुनता कौन है ? जेलरने यदि हमारा चार सतरका खत न दिया तो हमारा दिल खट्टा हो जाता है। अरे मदभागी, क्या रखा है उस चिट्ठी मे ? परमेश्वरका यह प्रेम-सदेश, हवाके साथ हर घडी आ रहा है, उसे तू सुन !

और हमारे घरके नित्य काम-काजमे आनेवाले इन पशुओको देखो ! वह गो-माता कितनी वत्सल, कितनी ममता व प्रेमसे परिपूर्ण है ! दो-दो तीन-तीन मीलमे, जगल-झाडियोसे अपने बछडोके लिए कैसी दौडकर आती है ! वैदिक ऋषियोको पर्वतोसे स्वच्छ जलको लेकर कल-कल करती हुई आनेवाली नदिया देखकर अपने बछडोके लिए दूध-भरे स्तनोको लेकर राभती हुई आनेवाली वत्सल गायोकी याद हो आती है। वह ऋषि नदीसे कहता है—"हे देवि, दूधकी तरह पवित्र, पावन, मधुर जल लानेवाली तू धेनु जैसी है। जैसे गाय जगलमे नही रह सकती वैसे ही तुम नदियोसे भी पर्वतोमे नही रहा जा सकता। तुम सरपट दौडती हुई प्यासे बालकोसे मिलनेके लिए आती हो।"

"वाश्रा इव धेनवः स्यवमानाः"

वत्सल गायके रूपमे भगवान् ही दरवाजेपर खडा है।

और उस घोडेको देखो ! कितना ईमानदार, कितना वफादार। अरब लोग अपने घोडोसे कितना प्यार करते है। उस अरबकी कहानी तुम्हे मालूम है न ? एक विपत्ति-ग्रस्त अरब एक सौदागरको घोडा बेचनेके लिए तैयार हो जाता है। हाथमे रुपयेकी थैली लेकर वह तबेलेमें जाता है, परतु घोडेकी उन गभीर और प्रेम-पूर्ण आंखोंपर उसकी निगाह पडती

है तो वह थैली फेक देता है और कहता है कि "मेरी जान चली जाय पर मै घोडा नही बेचूगा। मेरा जो कुछ होना होगा हो जायगा। खाना न मिले तो पर्वाह नही, परतु घोडा नही बेचूगा। खुदा मेरी मदद करेगा।" पीठ थपथपाते ही कैसे वह प्रेमसे फुरफुराता है, कैसी बढिया उसकी अयाल ! सचमुच घोडेमे अनमोल गुण है। उस साइकिलमे क्या रखा है ? घोड़ेको खुर्रा करो, वह तुम्हारे लिए जान दे देगा। तुम्हारा साथी होकर रहेगा। मेरा एक मित्र घोडेपर बैठना सीख रहा था। घोडा उसे गिरा देता। वह मुझसे कहने लगा—घोडा तो बैठने ही नही देता। मैंने उससे कहा—"तुम सिर्फ घोडेपर बैठनेके ही लिए जाते हो, मगर उसकी खिदमत भी करते हो या नही ? खिदमत तो करे दूसरा और तुम उसकी पीठपर सवारी करो, यह कैसा ? तुम खुद उसे दाना-पानी दो, खुर्रा करो और फिर सवारी करो !" उसने वैसा ही किया। कुछ दिनो बाद मुझसे आकर कहा—अब घोडा गिराता नही है। घोडा तो परमेश्वर है, वह भक्तको क्यो गिरायेगा ! उसकी भक्ति देखकर घोडा नरम हो गया। घोडा जानना चाहता है कि यह भक्त है या और कोई। भगवान् श्रीकृष्ण खुद खुर्रा करते थे और अपने पीताम्बरमे लाकर उसे चन्दी खिलाते थे। टेकडी आगई हो, नाला आगया हो, कीचड आ गया हो, साइकिल रुक जाती है, मगर घोडा फादता चला ही जाता है। यह सुदर प्रेममय घोडा मानो परमेश्वरकी मूर्ति ही है।

और उस सिहको लो ! बडोदेमे मै रहता था। सुबह-ही-सुबह उसकी गर्जना की गभीर ध्वनि कानोमे पडती। उसकी आवाज इतनी गभीर और उम्दा होती थी कि हृदय डोलने लगता। मदिरोके गर्भगृहोमे जैसी आवाज गूजती है वैसी ही गभीर उसके हृदय-गर्भकी वह ध्वनि थी। और सिंहकी वह धीरोदात्त भव्य निर्भय मुद्रा, उसका वह शाही ढंग व शाही वैभव ! यह भव्य सुदर अयाल, मानो चवर ही उस वनराज पर ढल रहे हो। बड़ौदेके एक बागमे यह सिह था। वहा वह आजाद नही था पिजडोमे चक्कर काटता था। उसकी आखोमे जरा भी क्रूरता नही मालूम होती थी। उसकी मुद्रा व दृष्टिमे करुणा भरी हुई थी। मानो ससारकी उसे कुछ परवाह नही थी। अपने ही ध्यानमे वह मग्न दिखाई देता था।

सचमुच ही ऐसा मालूम होता है मानो सिंह परमेश्वरकी एक पावन विभूति है। बचपनमें मैंने एण्ड्रोक्लीज और सिंहकी कहानी पढी थी। कितनी बढिया कहानी है वह! वह भूखा प्यासा सिंह एण्ड्रोक्लीजके पहलेके अहसानको स्मरण करके उसका दोस्त हो जाता है और उसके पैर चाटने लगता है। इसका क्या मर्म है? एण्ड्रोक्लीजने सिंहमें रहनेवाले परमेश्वरका दर्शन कर लिया था। भगवान् शंकरके पास सदैव सिंह रहता है। सिंह भगवान्की दिव्य विभूति है।

और शेरकी भी क्या कम मौज है। उसमें बहुतेरा ईश्वरीय तेज व्यक्त हुआ है। उससे मित्रता रखना असंभव नहीं। भगवान् पाणिनि अरण्यमें बैठे शिष्योंको पाठ पढा रहे थे। इतनेमें शेर आगया। लडके डरसे चिल्लाने लगे—"व्याघ्र व्याघ्र"। पाणिनिने कहा—"अच्छा व्याघ्रका मतलब क्या है? 'व्याजि घ्रतीति व्याघ्र' अर्थात् जिसकी घ्राणेन्द्रिय तीव्र है, वह व्याघ्र है।" बालकोंको उससे कुछ डर लगा हो, पर भगवान् पाणिनिके लिए तो वह व्याघ्र एक निरुपद्रवी, आनंदमय शब्द मात्र हो गया था। बाघको देखकर वे उस शब्दकी व्युत्पत्ति बताने लगे। बाघ पाणिनिको खा गया, परंतु बाघके खा जानेसे क्या हुआ? पाणिनिके शरीरकी मीठी गंध उसे लगी, उसका मन चल गया व फाड खाया। परंतु पाणिनि वहांसे भाग नहीं छूटे। क्योंकि वे तो शब्दब्रह्मके उपासक थे। उनके लिए सब कुछ अद्वैतमय हो गया था। व्याघ्रमें भी वे शब्द-ब्रह्मका अनुभव कर रहे थे। पाणिनिकी इस महानताके कारण ही भाष्योंमें जहां कहीं उनका नाम आया, तहां-तहां 'भगवान् पाणिनि' इस तरह पूज्य-भावसे उनका उल्लेख किया गया है। वे पाणिनिका अत्यंत उपकार मानते हैं—

अज्ञानांधस्य लोकस्य ज्ञानांजन-शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै पाणिनये नमः॥

ऐसे भगवान् पाणिनि व्याघ्रमें परमात्माका दर्शन कर रहे हैं। ज्ञानदेवने कहा है—

घर आवे क्यों न स्वर्ग, या आ चढ़े व्याघ्र,
तो भी आत्म-बुद्धिमें भंग, न हो कभी।

ऐसी महर्षि पाणिनिकी स्थिति हो गई थी। वे इस बातको समझ गये थे कि बाघ एक दैवी विभूति है।

वैसे ही सापको भी समझो। सापसे लोग बहुत डरते हैं। परतु साप मानो कठोर शुद्धि-प्रिय ब्राह्मण ही है। कितना स्वच्छ ! कितना सुदर ! जरा भी गदगी उसे बर्दाश्त नही। गदे ब्राह्मण कितने ही दिखाई देते है, परतु गदा साप कभी किसीने देखा ? मानो एकात-वासी ऋषि ही हो। निर्मल सतेज, मनोहर हार जैसा वह साप। उससे डरनेकी क्या जरूरत ? हमारे पूर्वजोने तो उसकी पूजाका विधान किया है। भले ही आप कहिए कि हिंदू-धर्ममे न जाने क्या-क्या वहम फैले हुए हैं। परतु नाग-पूजाका विधान उसमे जरूर है। बचपनमे मै अपनी माके लिए गन्धसे नागका चित्र बना दिया करता था। मै मासे कहता—बाजारमें तो अच्छा चित्र मिल जाता है मा ! वह कहती—"वह रद्दी होता है, मुझे नही चाहिए। अपने बच्चेका बनाया चित्र अच्छा होता है।" फिर उस नागकी पूजा की जाती। यह क्या पागलपन है ? परंतु जरा विचार कीजिए। वह सर्प श्रावण मासमे अतिथि बनकर हमारे घर आता है। बरसात हो जानेसे उस बेचारेके सारे घरमे पानी भर जाता है। तब वह क्या करेगा ? दूर एकातमे रहनेवाला वह ऋषि आपको फिजूल तकलीफ न हो इस खयालसे किसी छप्परके नीचे कही लकड़ियोमें पड़ा रहता है। कमसे-कम जगह घेरता है। परतु हम डडा लेकर जा पहुँचते है। सकट-ग्रस्त अतिथि यदि हमारे घर आ जाय तो क्या हमें उसे मारना उचित है ? सत फ्रासिसके लिए कहा जाता है कि जब जगलमें साप दिखाई देता तो वह उससे बड़े प्रेम-भावसे कहता—"आ, भाई आ !" साप उसकी गोदीमें खेलते, उसके शरीरपर इधर-उधर चढ जाते। इसे झूठ मत समझिये। प्रेममे अवश्य ऐसी शक्ति रहती है। सांपको कहते हैं कि विषैला है। परतु मनुष्य क्या कम विषाक्त है ? सांप तो कभी-कभी काटता है। खुद होकर नही काटता। सौ में नब्बे तो निर्विष ही होते है। तुम्हारी खेतीकी वह रक्षा करता है। खेतीका नाश करने वाले असख्य कीड़ो और जतुओंको खाकर रहता है। ऐसे इस उपकारी शुद्ध, तेजस्वी, एकात-प्रिय सर्पको भगवान्का रूप क्यों न कहे ?

हमारे तमाम देवताओमे कही-न-कही साप जरूर आता है। गणेशजीकी कमरमे सापका कमर-पट्टा बधा हुआ है। शकरके गलेमे साप लिपटे रहते है। और भगवान् विष्णु तो नाग-शय्या पर ही सोये हुए है इसका मर्म, इसका माधुर्य जरा समझो। इन सबका भावार्थ यह कि नागके द्वारा यह ईश्वरीय-मूर्ति ही व्यक्त हुई है। सर्पस्थ इस परमेश्वरका परिचय प्राप्त कर लो।

(५३)

ऐसे कितने उदाहरण दू ? मै तो सिर्फ खयाल दे रहा हू। रामायण-का सारा सार इस प्रकारकी रमणीय कल्पनामे ही है। रामायणमे पिता-पुत्रका प्रेम, मा-बेटोका प्रेम, भाई-भाईका प्रेम, पति-पत्नीका प्रेम, यह सब कुछ है। परतु मुझे रामायण इसके लिए प्रिय नही है। मुझे वह पसद इसलिए है कि रामकी मित्रता वानरोसे हुई। आजकल कहते है वे वानर तो नाग-जातिके थे। इतिहासज्ञोका काम ही है पुरानी बातोकी छानबीन करना। उसके इस कार्यपर मै आपत्ति नही उठाता। लेकिन रामने यदि असली वानरोसे मित्रता की हो तो इसमे असभव क्या है ? रामका रामत्व, रमणीयत्व सचमुच इसी बातमे है कि राम और वानर मित्र हो गये। इसी तरह कृष्णका और गायोका सबध। सारी कृष्ण पूजाका आधार यही कल्पना है। श्रीकृष्णके किसी चित्रको लीजिये तो आपको इर्द-गिर्द गाये खडी मिलेगी। गोपाल कृष्ण, गोपाल कृष्ण ! यदि कृष्णसे गायोको अलग कर दो तो फिर कृष्णमे बाकी क्या रहा ? रामसे यदि वानर हटा दिये तो फिर उस राममे क्या राम बाकी रहा ? रामने वानरोमें भी परमात्माके दर्शन किये व उनके साथ प्रेम और घनिष्ठता का सबध स्थापित किया। यह है रामायणकी कुजी ! इस कुजीको आप भूल जायगे तो रामायणकी मधुरता खो देगे। पिता-पुत्रका, मा-बेटेका प्रेम तो और जगह भी मिल जायगा, परतु नर-वानरकी यह अनन्य मधुर मैत्री सिर्फ रामायणमें ही मिलेगी और कही नही। वानरमे स्थित भगवान् रामायणने आत्मसात् किया। वानरोको देखकर ऋषियोको बडा कौतुक होता। ठेठ रामटेकसे लेकर कृष्णा-तटतक जमीन पर पैर न रखते

हुए वे वानर एक पेड़से दूसरे पेड़ पर कूदते-फादते और क्रीड़ा करते थे। ऐसे उस सघन वनको और उसमें क्रीडा करनेवाले वानरोको देखकर उन सहृदय ऋषियोके मनमे कवित्व जाग उठता, कौतुक होता। ब्रह्मकी आंखे कैसी होती है यह बताते हुए उपनिषदोने बदरोकी आखोकी उपमा दी है। बदरकी आखे बड़ी चचल, चारो ओर उनकी निगाह। ब्रह्मकी आंखे ऐसी ही होनी चाहिए। ईश्वरका काम आखे स्थिर रखनेसे न चलेगा। हम आप ध्यानस्थ होकर बैठ सकते है। परतु यदि ईश्वर ध्यानस्थ हो जाय तो फिर दुनियाका क्या हाल हो। अत बदरोमें ऋषियोको सबकी चिंता रखनेवाली ब्रह्मकी आखे दिखाई देती है। वानरोमे परमात्माके दर्शन करना सीख लो।

और वह मोर —महाराष्ट्रमे मोर बहुत नही है। परतु गुजरातमे उनकी विपुलता है। मै गुजरातमे था। रोज दस-बारह मील घूमनेकी मेरी आदत थी। घूमते हुए मुझे मोर दिखाई देते थे। जब आकाशमे बादल छा रहे हो, मेह बरसनेकी तैयारी हो, आकाशका रग गहरा श्याम होगया हो, और तब मोर अपनी ध्वनि सुनाता है। हृदयसे खिचकर निकलनेवाली उसकी पुकार एक बार सुनो तो मालूम हो जाय। हमारा सारा सगीत-शास्त्र मयूरकी इस ध्वनिपर ही रचा गया है। मयूरकी ध्वनि ही षड्ज—"षड्ज रौति"। यह पहला 'षड्ज' हमें मोरसे मिला। फिर घटा-बढाकर दूसरे स्वर हमने बिठाये। मेघकी ओर गड़ी हुई उसकी वह दृष्टि, उसकी वह गभीर ध्वनि और मेघकी गड़गड़ गर्जना सुनते ही फैलनेवाली उसकी वह पूछकी छत्री! अहा हा! छत्रीके उस सौन्दर्य-के सामने मनुष्यकी सारी शान चूर हो जाती है। राजा-महाराजा भी सजते है, परतु मोर-पुच्छकी छत्रीके सामने वे क्या सजेगे? कैसा उसका भव्य दृश्य! वे हजारो आंखे, वे रग-बिरंगी अनत छटायें, वह अद्भुत सुन्दर, मृदु, रमणीय रचना, वह उम्दा बेलबूटा! जरा देखिए उस छत्रीको और उसमे परमात्मा भी देखिए। यह सारी सृष्टि इसी तरह सजी हुई है। सर्वत्र परमात्मा दर्शन देता हुआ खडा है। परतु उसे न देखनेवाले हम अभागे! तुकारामने कहा है—

'प्रभो सर्वत्र सुकाल, अभागीको अकाल'

संतोके लिए सर्वत्र सुकाल है। परंतु हम अभागोंके लिए सब जगह अकाल है।

वेदोमे अग्निकी उपासना बताई गई है। अग्नि नारायण है। कैसी उसकी देदीप्यमान मूर्ति! दो लकडियोको रगडिए, वह प्रकट हो जाता है। क्या जाने पहले कहा छिप रहा था। कितना आबदार, कितना तेजस्वी! वेदोकी जो पहली ध्वनि निकली वह अग्निकी उपासनाको लेकर ही—

"अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्।"

जिस अग्निकी उपासनासे वेदोका आरभ हुआ, उसकी ओर तुम देखो तो। उसकी वे ज्वालाए देखनेसे मुझे जीवात्माके उखाड-पछाडकी याद आ जाती है। वे ज्वालाए, वे लपटे चाहे घरके चूल्हेकी हो, चाहे जगलकी दावाग्निकी हो, वैरागीका घरबार जैसा नही होता, वे ज्वालाए जहा होगी वहा उनकी वह दौड-धूप शुरू ही है। वे लगातार छटपटाती रहती है। वे ज्वालाए और ऊपर जानेके लिए आतुर रहती है। आप—विज्ञान-वेत्ता लोग कहेगे कि ईथरके कारण ये ज्वालाए हिलती है, हवाके दबावके कारण हिलती है, परतु कम-से-कम मेरा अर्थ यह है। वह ऊपर जो परमात्मा है, वह तेज-समुद्र सूर्य-नारायण जो ऊपर है, उससे मिलनेके लिए वे निरतर उछल रही है। जन्मसे लेकर मरनेतक उनकी यह दौड-धूप जारी रहती है। सूर्य अशी है और ये ज्वालाएं अश है। अश अशीकी ओर जानेके लिए छटपटाता रहता है। वे लपटे बुझ जायगी तभी वह दौड-धूप बद होगी, वर्ना नही। सूर्यसे हम बहुत दूरी पर है, यह विचार भी उनके मनमे नही आता। वे इतना ही जानती हैं कि अपनी शक्ति भर पृथ्वीसे ऊपर उछलती चली जाय। ऐसा यह अग्नि क्या, मानो उसके रूपमें जाज्वल्य वैराग्य ही प्रकट हो गया है। इसीलिए वेदकी पहली ध्वनि हुई—'अग्नि मीळे।'

और मैं उस कोयलको कैसे बुलाऊं? किसे पुकारती है वह? गर्मियोमें नदी-नाले सूख गये, परंतु वृक्षोमें नव-पल्लव छिटक रहे है।

वह यह तो नहं पूछ रही है कि किसने उन्हें यह वैभव प्रदान किया ? कहां है वह वैभवदाता ? कैसी उत्कट मधुर कूक ! हिंदूधर्ममें कोयलके व्रतका तो विधान ही मिलता है। स्त्रिया व्रत लेती है कि कोयलकी आवाज सुने बिना वे भोजन नही करेगी। कोयलके रूपमे प्रकट परमात्माका दर्शन करना सिखानेवाला यह व्रत है। वह कोयल कितनी सुदर कूक लगाती है, मानो उपनिषद् ही गाती है। उसकी कुहू-कुहू तो कानोको सुनाई देती है परतु वह दिखाई नही देती। वह अग्रेज़ी कवि वर्डस्वर्थ उसके पीछ पागल होकर जंगल-जगल उसकी खोजमें भटकता है। इग्लैण्डका महान् कवि कोयलको खोजता है, परतु भारतमे तो घरोकी सामान्य स्त्रिया कोयल न दिखाई दे तो खाना भी नही खाती। इस कोकिला-व्रतकी बदौलत भारतीय स्त्रियोने महान् कविकी पदवी प्राप्त कर ली है। जो कोयल परम आनदकी मधुर ध्वनि सुनाती है उसके रूपमे सुन्दर परमात्मा ही अभिव्यक्त हुआ है।

कोयल तो सुदर और कौवा क्या भद्दा है ? कौवेका भी गौरव करो। मुझे तो वह बहुत प्रिय है। उसका वह घना काला रग, वह तीव्र आवाज़। वह आवाज़ क्या बुरी है ? नही, वह भी मीठी है। वह पंख फड़फड़ाता-हुआ आता है तो कितना सुदर लगता है। छोटे बच्चोका चित्त खीच लेता है। नन्हा बच्चा बद घरमें खाना नही खाता। बाहर आगनमे बैठकर उसे जिमाना पडता है और कौवे दिखाकर उसे कौर खिलाना पड़ता है। कौवेके प्रति स्नेह रखनेवाला वह बच्चा, क्या पागल है ? वह पागल नही, उसमे ज्ञान भरा हुआ है। कौवेके रूपमें व्यक्त परमेश्वरसे वह बच्चा फौरन एकरूप हो जाता है। माता चावलपर चाहे दही डाले, दूध डाले या शकर डाले; उस बच्चेको उसमें कोई रस नही। उसे आनद है कौवेके पख फडफडानेमें; उसके मुह नचानेमें। सृष्टिके प्रति छोटे बच्चोको जो इतना कौतुक मालूम होता है उसी पर तो सारी ईसप-नीति रची गई है। ईसपको सर्वत्र ईश्वर दिखाई देता था। अपनी प्रिय पुस्तकोकी सूचीमें मै ईसप-नीतिका नाम सबसे पहले रखूगा, भूलूगा नहीं। ईसपके राज्यमें दो हाथोवाला दो पांवो वाला यह मनुष्य प्राणी ही अकेला नही है। उसमें कुत्ते, कौवे हिरन, खरगोश, कछुए, सांप, केंचुए सभी बातचीत

करते है, हसते है। एक प्रचड सम्मेलन ही समभिए न ? ईसपसे सारी चराचर सृष्टि बातचीत करती है। उसे दिव्यदर्शन प्राप्त हो गया है। रामायण भी इसी तत्त्व पर, इसी दृष्टिपर रची है। तुलसीदासने रामकी बाल-लीलाका वर्णन किया है। राम आगनमे खेल रहे है। एक कौवा पास आता है, राम उसे आहिस्तासे पकडना चाहते है। कौवा पीछे फुदक जाता है, अतको राम थक जाते है। परतु उन्हे एक तरकीब सूझती है। मिठाईका एक टुकडा लेकर राम कौवेके पास जाते है। राम टुकडा जरा आगे बढाते है, कौवा कुछ नजदीक आता है। इस तरहके वर्णनमे तुलसी दास कई पृष्ठ खर्च कर जाते है। क्योकि वह कौवा परमेश्वर है। रामकी मूर्तिका अश ही उस कौवेमे भी है। राम और कौवेकी वह पहचान मानो परमात्मासे परमात्माकी पहचान है।

(५४)

साराश यह कि इस प्रकार इस सारी सृष्टिमे विविध रूपोमे—पवित्र नदियोके रूपमे, विशाल पर्वतोके रूपमे, गभीर सागरके रूपमे, वत्सल गो-माताके रूपमे, उम्दा घोडेके रूपमे, दिलेर सिहके रूपमे, मधुर कोयलके रूपमे, सुदर मोरके रूपमे, स्वच्छ व एकातप्रिय सर्पके रूपमें, पख फड-फडानेवाले कौवेके रूपमे, दौड-धूप करनेवाली ज्वालाओके रूपमे, प्रशान्त तारोके रूपमे सर्वत्र परमात्मा समाया हुआ है। आखोको उसे देखनेका अभ्यास कराना है। पहले मोटे और सरल अक्षर, फिर बारीक और सयुक्ताक्षर सीखने चाहिए। सयुक्ताक्षर न सीख लेगे तबतक प्रगति नही हो सकती। सयुक्ताक्षर कदम-कदम पर आयगे। दुर्जनोमे स्थित परमात्मा-को देखना भी सीखना चाहिए। राम समझमे आता है, परतु रावण भी समझमे आना चाहिए। प्रह्लाद जचता है, परतु हिरण्यकशिपु भी जचना चाहिए। वेदमे कहा है—

"नमोनमः स्तेनानां पतये नमोनमः
नमः पुंजिष्टेभ्यो नमो निषादेभ्यः"
"ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा
ब्रह्मैवेमे कितवाः।"

"उन डाकुओंके सरदारोको नमस्कार ! उन क्रूरोंको, उन हिंसकोको नमस्कार। ये ठग, ये चोर, ये डाकू सब ब्रह्म ही है। इन सबको नमस्कार।"

इसका अर्थ क्या ? इसका अर्थ यह कि सरल अक्षर तो सीख गये अब कठिन अक्षरोको भी सीखो। कार्लाइलने 'विभूति-पूजा' नामक एक पुस्तक लिखी है। उसने उसमे नेपोलियनको भी एक विभूति कहा है। यहा शुद्ध परमात्मा नही है, मिश्रण है। परतु इस परमेश्वरको भी पचा लेना चाहिए। इसीलिए तुलसीदासने रावणको रामका विरोधी भक्त कहा है। हा, इस भक्तके रग-ढग जरा भिन्न है। आगसे जल जानेपर पाव सूज जाता है, परतु सूजन पर सेक करनेसे वह ठीक हो जाता है। दोनो जगह तेज एक ही। पर आविर्भाव भिन्न-भिन्न है। राम और रावणमें आविर्भाव भिन्न-भिन्न दिखाई दिया तो भी वह है एक ही परमेश्वर का।

स्थूल व सूक्ष्म, सरल और मिश्र, सरल अक्षर व सयुक्ताक्षर सब सीखो और अतमे यह अनुभव करो कि परमेश्वरके सिवाय एक भी स्थान नही है। अणु-रेणुमे भी वही है, चीटीसे लेकर सारे ब्रह्माड तक सर्वत्र परमात्मा ही से व्याप्त है। सबकी एक-सी चिंता रखनेवाला कृपालु, ज्ञान-मूर्ति, वत्सल, समर्थ, पावन, सुदर, परमात्मा हमारे चारो ओर सर्वत्र खडा है।

ग्यारहवां अध्याय

रविवार, १–५–३२

(५५)

भाइयो, पिछली बार हमने इस बातका अभ्यास किया कि इस विश्वकी अनत वस्तुओमे व्याप्त परमात्माको हम कैसे पहचाने और हमारी आखोको जो यह विराट् प्रदर्शिनी दिखाई देती है उसे आत्मसात् कैसे करे ? पहले स्थूल, फिर सूक्ष्म, पहले सरल, फिर मिश्र—इस प्रकार सब चीजोमे भगवानको दखे, उसका साक्षात्कार करे, अहर्निश अभ्यास करके सारे विश्वको आत्मरूप देखना सीखे—यह हमने पिछले अध्यायमे देख लिया।

अब आज ग्यारहवे अध्यायपर नजर डालना है। इस अध्यायमे भगवान्ने अपना प्रत्यक्ष रूप दिखाकर अर्जुनपर अपनी परम कृपा दिखलाई है। अर्जुनने भगवान्से कहा—"प्रभो, मै आपका यह सपूर्ण रूप देखना चाहता हू। जिसमे आपका सारा महान् प्रभाव प्रकट हुआ हो, वह रूप मुझे आखोसे देखनेको मिले।" अर्जुनकी यह माग विश्व-रूप दर्शनकी थी।

हम 'विश्व', 'जग'— इन शब्दोका प्रयोग करते है। यह 'जग' विश्वका एक छोटा-सा भाग है। इस छोटेसे टुकडेको भी हम समझ नही पाते। सारे विश्वकी दृष्टिसे देखे तो यह जग जो हमें इतना विशाल दिखाई देता है, अतिशय तुच्छ वस्तु है ऐसा मालूम होगा। रातके समय आकाशकी ओर जरा दृष्टि डाले तो वे अनत गोल दिखाई देते है। आकाशके आँगनकी वह रगावलि, वे छोटे-छोटे सुन्दर फूल, वे लुक-लुक करनेवाली लाखो तारिकाए इन सबका स्वरूप आप जानते है ? ये छोटी-छोटी-सी तारिकाए महान् प्रचड है। उनके अदर अनत सूर्योका समावेश हो जायगा। वे रसमय तेजोमय ज्वलत धातुओके गोल पिंड है। ऐसे इन अनत पिंडोका हिसाब कौन लगावेगा ? न इनका अत है न पार।

खाली आंखोंसे ही ये हजारों दीखते है, दूरबीनसे देखें तो करोड़ो दिखाई देते हैं, उससे बड़ी दूरबीन हो तो परार्धों दीखने लगेंगे। और यह समझमें आना कठिन हो जायगा कि आखिर इसका अंत कहा है, कैसा है? यह जो अनंत सृष्टि ऊपर-नीचे सब जगह फैली हुई है, उसका एक छोटा-सा टुकड़ा 'जग' कहलाता है। परंतु यह जग भी कितना विशालकाय दीख पड़ता है!

यह विशाल सृष्टि परमेश्वरके स्वरूपका एक पहलू हुआ। अब उसका दूसरा पहलू लो। वह है काल। यदि हम पिछले कालपर निगाह दौड़ावें तो इतिहासकी मर्यादामें बहुत हुआ तो दस हजार साल तक पीछे जा सकेंगे, आगेका काल तो ध्यानमें ही नहीं आता। इतिहास-काल १० हजार वर्षोंका और खुद हमारा जीवन-काल तो मुश्किलसे १०० सालका है! वास्तवमें कालका विस्तार अनादि व अनंत है। कितना काल बीता है इसका कोई हद-हिसाब नहीं। आगे कितना काल है, इसकी कोई कल्पना नहीं होती। हमारा 'जग' जैसे विश्वकी तुलनामें बिलकुल तुच्छ है, वैसे ही इतिहासके ये दस हजार साल अनंत कालकी तुलनामें कुछ भी नहीं हैं। भूतकाल अनादि है, व भविष्यकाल अनंत है। यह छोटा-सा वर्तमान-काल बात करते-करते भूत-कालमें चला जाता है। वर्तमान-काल सचमुच कहां है यहा बताने जाते हैं तबतक वह भूतकालमें विलीन हो जाता है। ऐसा यह अत्यंत चपल वर्तमान-काल मात्र हमारा है। मैं अभी बोल रहा हूं, परंतु मुंहसे शब्द निकला नहीं कि वह भूतकालमें गड़प हुआ नहीं। इस तरह यह महान् काल-नदी एक-सी बह रही है। न उसके उद्गमका पता है न अंतका! बीचका थोड़ा-सा प्रवाह-मात्र हमें दिखाई देता है।

इस प्रकार एक ओर स्थलका प्रचंड विस्तार और दूसरी ओर कालका जबरदस्त प्रवाह, इन दोनों दृष्टियोंसे सृष्टिकी ओर देखें तो समझ जायंगे कि कल्पना-शक्तिको चाहे जितना खींचनेपर भी इसका कोई अंत नहीं आ सकता। तीनों काल व तीनों स्थलमें, भूत-भविष्य-वर्तमानमें एवं ऊपर, नीचे तथा यहां सब जगह व्याप्त विराट् परमेश्वर एक-साथ एक बारगी दिखाई दे, परमेश्वरका इस रूपमें दर्शन हो, ऐसी इच्छा अर्जुन के मनमें उत्पन्न हुई है। इस इच्छामेंसे ग्यारहवां अध्याय प्रकट हुआ है।

अर्जुन भगवान्‌को बहुत ही प्यारा था। कितना प्यारा था? इतना कि दसवे अध्यायमे किन-किन स्वरूपोमे मेरा चितन करो, यह बताते हुए भगवान् कहते है—पाडवोमे जो अर्जुन है उसके रूपमे मेरा चिंतन करो। श्रीकृष्ण कहते है—"पाडवोमे धनजय।" इससे अधिक प्रेमका पागलपन, प्रेमोन्मत्तता, कहा होगी? यह इस बातका उदाहरण है कि प्रेम कितना पागल हो सकता है। अर्जुनपर भगवान्‌की अपार प्रीति थी। यह ग्यारहवा अध्याय मानो उस प्रीतिका प्रसाद-रूप है। दिव्य रूप देखनेकी अर्जुनकी इच्छाको भगवान्‌ने उसे दिव्य दृष्टि देकर पूरा किया। अर्जुनको उन्होने प्रेमका प्रसाद दिया।

(५६)

उस दिव्य-रूपका सुदर वर्णन, भव्य वर्णन इस अध्यायमें है। यद्यपि यह सब सच है तो भी इस विश्वके विषयमे मै खास लोभ नही दिखा सकता। मैं छोटेसे रूपपर ही सतुष्ट हू। जो छोटा-सा सादा सुदर रूप मुझे दीखता है उसकी माधुरीका अनुभव करना मै सीख गया हू। परमेश्वर टुकड़ोमे विभाजित नही है। मुझे ऐसा नही प्रतीत होता कि परमेश्वरका जो रूप हम देख पाते है वह उसका एक टुकडा है और बाकी परमेश्वर बाहर बचा हुआ है। बल्कि मै देखता हू कि जो परमेश्वर इस विराट् विश्वमे व्याप्त है वही सपूर्ण रूपमे जैसा-का-तैसा एक छोटी-सी मूर्तिमे, मिट्टीके एक कणमे भी व्याप्त है, कम किसी कदर नही। अमृतके सिधुमे जो मिठास है वही एक बिदुमे भी होती है। मुझे लगता है, अमृतकी जो एक छोटी-सी बूद मुझे मिल गई है उसीकी मिठास मैं चखता रहू। अमृतका दृष्टात मैंने जान-बूझकर लिया है। पानी या दूधका नही लिया है। एक प्याले दूधमे जो स्वाद होगा वही एक लोटे भर दूधमे होगा। परतु स्वाद चाहे वही हो, पुष्टि उतनी ही नही हो सकती। एक बूद दूधकी अपेक्षा एक प्याले दूधमे पुष्टि अधिक है। परतु अमृतके उदाहरणमे यह बात नही है। अमृतके समुद्रकी मिठास तो अमृतके एक बूदमे हुई है, उसके अलावा पुष्टि भी उतनी ही है। बूद भर अमृत भी गलेके नीचे उतर गया तो उससे अमृतत्व ही मिलेगा।

उसी तरह जो दिव्यता, जो पवित्रता परमेश्वरके विराट् स्वरूपमे है वही एक छोटी-सी मूर्तिमे भी है। यदि एक मुट्ठीभर गेहू मुझे नमूनेको लाकर दिये, उस पर से यदि मुझे गेहूकी पहचान न हुई तो फिर बोरी भर गेहू भी यदि मेरे सामने रख दिये तो वह कैसे होगी ? छोटे ईश्वरका जो नमूना मेरी आखोके सामने है उससे यदि ईश्वरको मैंने नही पहचाना तो फिर विराट् परमेश्वरको देखकर भी मै कैसे पहचानूगा ? छोटे-बडे इनमें क्या है ? छोटे रूपको पहचान लिया तो बडेकी पहचान हो ही गई। अत मुझे यह हौस नही है कि ईश्वर अपना बडा रूप मुझे दिखावे। अर्जुनकी तरह विश्वरूप-दर्शनकी माग करनेकी योग्यता भी मुझमें नही है। फिर जो कुछ मुझे दीखता है वह विश्व-रूपका कोई टुकडा है, ऐसी बात नही। किसी तस्वीरका कोई टूटा टुकडा ले आवे तो उससे सारे चित्रका खयाल हमे नही हो सकता। परतु परमात्मा इस तरह टुकडोसे बना हुआ नही है। परमात्मा न तो कटा हुआ है, न खड-खड किया हुआ है। एक छोटेसे स्वरूप-शक्लमे भी वह अनत परमेश्वर सारा-का-सारा ही समाया हुआ है। छोटे फोटो व बडे फोटोमें क्या फर्क है ? जो बाते बडे फोटोमे होती है वही सब जैसीकी तैसी छोटे फोटोमे भी होती है। छोटा फोटो बड़े फोटो-का टुकडा नही है। छोटे टाइपके अक्षर हो तो भी वही अर्थ होगा व बडे टाइपके अक्षर हो तो भी वही होगा। बडे टाईपमे बडा अर्थ व छोटेमे छोटा अर्थ होता हो सो बात नही।

मूर्ति-पूजाका आधार यही विचार-पद्धति है। मूर्ति-पूजा पर अब तक अनेक लोगोने हमले किये है। बाहरके और यहाके भी कुछ विचारकोने मूर्ति-पूजाको अनुचित बताया है। परतु मै ज्यो-ज्यो विचार करता हू, त्यो-त्यो मूर्ति-पूजाकी दिव्यता मेरे सामने स्पष्ट खड़ी हो जाती है। मूर्ति पूजाका अर्थ क्या है ? एक छोटी-सी चीजमे सारे विश्वको अनुभव करनेकी विद्या मूर्ति-पूजा है। एक छोटे-से गावमे सारे ब्रह्माडको देखनेकी विद्या सीखना। यह बात क्या गलत है ? यह कल्पना नही, प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। विराट्-स्वरूपमे जो-कुछ है वही सब एक छोटी-सी मूर्तिमे है, वही एक मृत्कणमे है। उस मिट्टीके ढेलेके भीतर आम, केले, गेहूं, सोना, तावा, चादी सभी कुछ है। सारी सृष्टि उस कणके अंदर है। जिस तरह

किसी छोटी नाटक-मडलीमे वही पात्र बार-बार भिन्न-भिन्न रूप बनाकर रगभूमिपर आते है, उसी तरह परमेश्वरको समझो। जैसे कोई एक नाटककार खुद ही नाटक लिखता है और खुद ही नाटकमें काम भी करता है उसी तरह परमात्मा भी अनत नाटक लिखता है व खुद अनंत पात्रोंके रूपमे सजकर रग-भूमिपर अभिनय करता है। इस अनत नाटकका एक पात्र पहचान लिया तो फिर सारे पात्रोको पहचान लिया जैसा होगा।

काव्यकी उपमा, दृष्टात आदिके लिए जो आधार है वही मूर्ति-पूजा-के लिए भी है। किसी गोल वस्तुको हम देखते है तो हमे आनद होता है। क्योकि उसमे एक व्यवस्थितता होती है। व्यवस्थितता ईश्वरका स्वरूप है। ईश्वरकी सृष्टि सर्वांग सुन्दर है। उसमे व्यवस्थितता है। वह गोल वस्तु है, व्यवस्थित ईश्वरकी मूर्ति ही है। परतु जगलमे उपजा टेढा-तिरछा पेड भी ईश्वरकी ही मूर्ति है। उसमे ईश्वरकी स्वच्छदता है। उस पेडको कोई बधन नही है। ईश्वरको कौन बधनमें डालेगा ? वह बन्धनातीत परमेश्वर उस टेढ-मेढे पेडमे है। कोई सीधा-सरल खभा देखते है तो उसमे ईश्वरकी समता दिखाई देती है। नक्काशीदार खभा देखे तो उसमे आकाशमे नक्षत्रोके बेल-बूटे काढनेवाला परमेश्वर दिखाई देता है। किसी कटे-छटे व्यवस्थित बागमें ईश्वरका संयम रूप दिखाई देता है, तो किसी विशाल बनमे ईश्वरकी भव्यता व स्वतत्रताके दर्शन होते है। जगलमे भी आनद मिलता है व व्यवस्थित बागमे भी। तो फिर क्या हम पागल है ? नही आनद दोनोमे ही होता है, क्योकि ईश्वरीय गुण प्रत्येकमे प्रकट हुआ है। चिकने शालग्रामकी बट्टीमे जो तेज है वही एक ऊबड-खाबड नर्मदाके 'शकर' मे है। अत मुझे वह विराट् स्वरूप अलहदा न भी दिखाई दे तो हर्ज नही।

परमेश्वर सर्वत्र भिन्न-भिन्न वस्तुओमे भिन्न-भिन्न गुणोके द्वारा प्रकट हुआ है और इसीसे हमको आनद होता है—उस वस्तुके विषयमे आत्मीयता प्रतीत होती है। जो आनंद होता है वह अकारण नही। आनद होता क्यो है ? उससे कुछ-न-कुछ नाता होता है इसीसे आनद होता है। बच्चेको देखते ही माका हिया उछलने लगता है। क्योकि वह नाता जानती है। इस तरह प्रत्येक वस्तुसे परमात्माका नाता जोडो। मुझमें

जो परमेश्वर है वही उस वस्तुमे है। इस प्रकार सबध बढाना ही आनद बढाना है। आनंदकी और कोई उपपत्ति नही है। आप प्रेमका संबंध सब जगह जोडने लगिये, फिर देखिये, क्या चमत्कार होता है। फिर अनन्त सृष्टिमे व्याप्त परमात्मा अणु-रेणुमें भी दिखाई देगा। एक बार वह दृष्टि प्राप्त हुई है तो फिर क्या चाहिए ? परतु इसके लिए इन्द्रियोंको सस्कारकी, अभ्यास डालनेकी जरूरत है। हमारी भोगवासना छूटकर जब हमें प्रेमकी पवित्र दृष्टि प्राप्त होगी तो फिर प्रत्येक वस्तुमें ईश्वर ही दिखाई देगा। उपनिषदोमें इस बातका बडा सुदर वर्णन है। आत्माका रग कैसा होता है। आत्माका रंग कौनसा बताया जाय ? ऋषि प्रेमपूर्वक कहते हैं—

"यथा अयं इंद्रगोपः"

यह जो लाल-लाल रेशमका मुलायम मृगका कीडा—बीरबहूटी है, उसकी तरह आत्माका रूप है। उस मृगके कीडेको देखते है तो कितना आनद होता है। यह आनद क्यो होता है ? मेरा अपने प्रति जो भाव है वही उस इद्रगोपमे है। मुझसे उसका कुछ सबध न होता तो आनद होता ? मेरे अदर जो सुदर आत्मा है वही इद्रगोपमें भी है। इसीलिए उसकी उपमा दी। उपमा क्यो देते है ? उससे आनद क्यो होता है ? हम उपमा इसलिए देते है कि उन दो वस्तुओमे साम्य होता है और इसीसे आनद होता है। यदि उपमेय और उपमान बिलकुल भिन्न-भिन्न हो तो आनद नही होगा। यदि कोई यह कहे कि नमक मिर्चकी तरह है तो हम उसे पागल कहेगे। पर यदि कोई कहे कि तारे फूलोकी तरह है तो उनमें साम्य दिखाई देनेसे आनंद होगा। नमक मिर्चकी तरह है ऐसा करनेसे सादृश्यका अनुभव नही होता। परतु किसीकी दृष्टि यदि इतनी विशाल हो गई हो, जो परमात्मा नमकमें है वही मिर्चमें है, ऐसा दर्शन जिसको हुआ हो, वह 'नमक कैसा तो मिर्चकी तरह' है इस कथनमे भी आनंदका अनुभव करेगा। साराश यह कि ईश्वरीय रूप प्रत्येक वस्तुमें लबालब भरा हुआ है। उसके लिए विराट् दर्शनकी आवश्यकता नही।

(५७)

फिर वह बिराट् दर्शन मुझे सहन भी कैसे होगा ? छोटे सगुण सुंदर रूपके प्रति मुझे जो प्रेम मालूम होता है, जो अपनापन लगता है, जो मधुरता मालूम होती है उसका अनुभव विश्व-रूप देखनेमे कदाचित् न हो। यही स्थिति अर्जुनकी हो गई। वह थर-थर कापते हुए अतमे कहता है, "भगवन्, अपना वही पहलेवाला मनोहर रूप दिखाओ। अर्जुन स्वानुभवसे कहता है कि विराट् स्वरूप देखनेकी इच्छा न करो। ईश्वर, जो तीनो कालो और तीनो स्थलोमे व्याप्त है, यही अच्छा है। वह तारा सिमटकर यदि धधकता हुआ गोला बनकर मेरे सामने आकर खडा हो जाय तो मेरी क्या दशा होगी ? ये तारे कितने शात दिखाई देते है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो इतनी दूरसे मुझसे बाते कर रहे हो। परतु दृष्टिको शात करनेवाला वही तारा यदि नजदीक आजाय ता ? वह धधकती हुई आग ही है। मै खाक ही होकर रहूगा। ईश्वरके ये अनत ब्रह्माण्ड जहा है, वहा वैसे ही रहने दीजिए। उन सबको एक ही कमरेमे इकट्ठा कर देनेमे क्या आनद है ? बबईके उस कबूतर खानेमे हजारो कबूतर रहते है, वहा उन्हे क्या आजादी है ? वह दृश्य बडा अटपटा मालूम होता है। मजा इसीमे है जो यह सृष्टि ऊपर, नीचे, यहा इन तीनो स्थलोम विभाजित है। जो बात स्थलात्मक सृष्टिको लागू है, वही कालात्मक सृष्टिके लिए भी है। हमे भूतकालकी स्मृति नही रहती और भविष्यका ज्ञान नही होता, इसमे हमारा कल्याण ही है। कुरान शरीफम पाच ऐसी वस्तुए बताई गई है जिनम सिर्फ परमेश्वरकी ही सत्ता है, मनुष्यप्राणीकी सत्ता बिलकुल नही है। उनम एक है—भविष्यकालका ज्ञान। हम अदाज जरूर लगाते है, परतु अदाजका अर्थ ज्ञान नही है। भविष्यका जो ज्ञान हमे नही होता इसमे हमारा कल्याण है, वैसे भूतकालकी जो स्मृति हमे नही रहती, यह भी सचमुच बडी शुभ बात है। कोई दुर्जन यदि सज्जन बनकर भी मेरे सामने आवे तो भी उसके भूतकालकी स्मृति मुझे होकर उसके प्रति मनमे आदर नही होता। वह कितना भी कहे, उसके पिछले पापोको मैं सहसा नही भूल सकता। संसार उसके पापोको उसी व्यवस्थामे भूल सकेगा जबकि वह मनुष्य मर कर दूसरे रूपमे हमारे सामने आयेगा।

पूर्व स्मरणसे विकार बढ़ते हैं। यदि पहलेका यह सारा ज्ञान ही नष्ट हो गया तो फिर सब खतम। पाप-पुण्यको भूल जानेकी कोई युक्ति होनी चाहिए। वह तरकीब है मरण। जब हमें इसी जन्मकी वेदनाए असह्य लगती है तब फिर पिछले जन्मोके कूड़े-करकटकी खोज क्यो करे? अपने इसी जन्मके कमरेमे क्या कम कूडा-करकट है? अपना बचपन भी हम बहुत-कुछ भूल जाते हैं। यह विस्मृति लाभदायी ही है। हिंदू-मुस्लिम ऐक्यके लिए भूतकालका विस्मरण ही एकमात्र उपाय है। औरगजेबने बडा जुल्म ढाया इसको कितने दिनो तक रटते रहोगे? गुजरातीमे रतनबाईका एक गरबा-गीत है। उसे हम बहुत-बहुत बार यहा सुनते हैं। उसके अतमे कहा है—'ससारमे सबकी कीर्ति ही अतमे रह जायगी। पापको लोग भूल जायेगे।' यह काल छननी कर रहा है। इतिहासमे जितना कुछ अच्छा हो उतना ले लेना चाहिए, जो कुछ पाप हो उसे फेक देना चाहिए। मनुष्य यदि बुराईको छोडकर सिर्फ अच्छाईको ही याद करे तो क्या बहार हो? परतु ऐसा नही होता। इसलिए विस्मृतिकी बहुत आवश्यकता है। इसके लिए भगवान्ने मृत्यु-का निर्माण किया है।

मतलब यह कि यह जग जैसा है वैसा ही मगल-रूप है। इस काल-स्थलात्मक जगको एक जगह एकत्र करनेकी जरूरत नही है। अति-परिचय-मे मजा नही है। कुछ चीजोसे घनिष्ठता बढानी होती है, तो कुछ चीजोसे दूर रहना होता है। गुरु होगा तो नम्रता-पूर्वक दूर बैठेंगे। परतु माकी गोदीमे जाकर बैठेगे। जिस मूर्तिके साथ जैसा व्यवहार करने-की जरूरत हो वैसा ही करना चाहिए। फूलको हम नजदीक ले परतु आगसे बचकर रहे। तारे दूरसे ही सुदर लगते हैं। यही हाल सृष्टिका है। अति दूरवाली वह सृष्टि अति निकट लानेसे हमे अधिक आनंद होगा, सो बात नही। जो चीज जहां है उसे वही रहने देनेमे मजा है। जो चीज दूरसे रम्य मालूम होती है उसको नजदीक लानेसे वह सुखदायी ही होगी ऐसा नही कह सकते। उसे वही दूर रखकर उसके रसको चखना चाहिए। ढीठ बनकर बहुत घनिष्ठता बढाकर अति-परिचय कर लेनेमे कुछ सार नही है।

साराश यह कि तीनो काल हमारे सामने खडे नही है सो अच्छा ही है। तीनो कालका ज्ञान होनेसे आनद अथवा कल्याण होगा ही ऐसा नही कह सकते। अर्जुनने प्रेमवश हो हठ पकड ली, प्रार्थना की, तो भगवान्ने उसको मजूर कर लिया। उन्होने उसे अपना वह विराट् स्वरूप दिखलाया। परतु मुझे तो भगवान्का छोटा-सा रूप ही काफी है। यह छोटा रूप परमेश्वरका टुकडा तो है नही। और यदि टुकडा भी हो तो उस अपार व विशाल मूर्तिका एक पैर या एक पैरकी अगुली ही मुझे दीख गई तो भी मै कहूगा—"धन्य है मेरा भाग्य!" अनुभवसे मैने यह ज्ञान पाया है। जमनालालजीने जब वर्धामे लक्ष्मीनारायणका मदिर हरिजनोके लिए खोल दिया तो उस समय मै दर्शनके लिए गया था। १५-२० मिनट तक उस रूपको देखता रहा। समाधि लगने जैसी स्थिति मेरी हो गई। भगवान्का वह मुख, वह छाती वे हाथ-पाव देखते-देखते पावो तक पहुचा व अतमे चरणोपर जाकर दृष्टि स्थिर हो गई। 'मधुर तेरी चरण-सेवा' यही भावना अतमे रह गई। यदि एक छोटे-से रूपमे वह महान् प्रभु न समा जाता हो तो फिर उस महापुरुषके चरण ही दिख जाना काफी है। अर्जुनने ईश्वरसे प्रार्थना की। उसका अधिकार बडा था। उसकी कितनी घनिष्ठता, कितना प्रेम कैसा सख्य भाव था! मेरी क्या योग्यता है? मुझे तो चरण ही बस है मेरा अधिकार इतना ही है।

(५८)

उस परमेश्वरके दिव्य रूपका जो वर्णन है उसमे बुद्धि चलानेकी मेरी इच्छा नही। उसमे बुद्धि चलाना पाप है। उस विश्व-रूप वर्णनके उन पवित्र श्लोकोको हम पढते रहे व पवित्र हो। बुद्धि चलाकर परमेश्वरके उस रूपक टुकडे किये जाय? वह अघोर उपासना हो जायगी। अघोरपथी लोग स्मशानमे जाकर मुर्दे चीरते है व तत्रोपासना करते है। ऐसी ही वह क्रिया हो जायगी। परमेश्वरका वह दिव्य रूप—

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो
विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्यात् ॥"

ऐसा वह विशाल व अनत रूप उसके वर्णात्मक श्लोकोको गावे, गाकर अपना मन निष्पाप व पवित्र बनावे।

परमेश्वरके इस सारे वर्णनमे सिर्फ एक ही जगह बुद्धि विचार करने लगती है। परमेश्वर अर्जुनसे कहते है—"अर्जुन, ये सब मरने ही वाले हे—तू तो निमित्त-मात्र हो जा, करने-धरनेवाला तो सब-कुछ मैं हू।" यही ध्वनि मनमें गूजती रहती है। जब यह विचार मनमें आता है कि हमे ईश्वरके हाथका एक हथियार बनना है, तो बुद्धि-विचार करने लगती है। ईश्वरके हाथका औजार बने कैसे? क्या उसके हाथकी मुरली बनू? वह अपने ओठसे मुझे लगा ले व मधुर सुर निकाले, मुझे बजाने लगे, यह कैसे होगा? मुरली बनना यानी पोला बनना। पर मुझमे तो विकार व वासनाए ठसा-ठस भरी हुई है। ऐसी दशामे मुझमेसे मधुर स्वर कैसे निकलेगा? मेरा सुर तो है दबा हुआ। मै घन वस्तु हू। मुझमे अहकार भरा हुआ है। मुझे निरहकार होना चाहिए। जब मैं पूर्ण रूपसे मुक्त, पोला हो जाऊगा तभी परमेश्वर मुझे बजावेगा। परतु परमेश्वरके ओठोकी मुरली बनना है बडे साहसका काम। यदि उसके पैरोकी जूतिया बनना चाहू तो भी वह आसान नही है। वह ऐसी मुलायम जूती होनी चाहिए कि परमेश्वरके पाव मे जरा भी छाले न होने पावे। परमेश्वरके पाव व काटे-ककर इनके बीचमे मुझे पड जाना है। मुझे अपनेको कमाना होगा। अपनी खाल उतारकर उसे सतत कमाते रहना होगा—मुलायम बनाना होगा। अत परमेश्वरके पावोकी जूती बनना भी आसान नही है। परमेश्वरके हाथका औजार बनना हो तो मुझे दस सेर वजनका लोहेका गोला नही बनना चाहिए। तपश्चर्याकी सान पर अपनेको चढाकर तेज धार बनानी होगी। ईश्वरके हाथमे मेरी जीवन-रूपी तलवार चमकनी चाहिए। यह गुजार मेरी बुद्धिमें होने लगता है। भगवान्के हाथका एक औजार बनना है—इसी विचारमे निमग्न हो जाता हू। अब यह कैसे हो, इसकी विधि खुद भगवान्ने अतिम श्लोकमे बता दी है। श्रीशकराचार्यने अपने भाष्यमें इस श्लोकको 'सर्वार्थसार'—सारी गीता का सार कहा है। वह श्लोक यह है—

"मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु य स मामेति पाण्डव ।।

मेरे अर्थ करे कर्म, मत्परायण भक्त जो ।
जो अनासक्त निर्वैर सो आके मिलते मुझे ।।

जिसका ससारमे किसीसे बैर नही, जो तटस्थ रहकर ससारकी निर-पक्ष सेवा करता है, जो कुछ करता है सो सब मुझे अर्पित कर देता है, मेरी भक्तिसे सराबोर है, क्षमावान, नि सग, विरक्त, प्रेममय जो भक्त है वह परमेश्वरके हाथका हथियार बनता है, ऐसा यह सार है ।

बारहवां अध्याय

रविवार, ८-५-३२

(५९)

गगाका प्रवाह यो तो सभी जगह पावन व पवित्र है, परतु हरद्वार, काशी, प्रयाग जैसे स्थान अधिक पवित्र है। उन्होने सारे ससारको पवित्र कर दिया है। भगवद्गीताका यही हाल है। भगवद्गीता शुरूसे अखीर तक सभी जगह पवित्र है। परतु बीचमे कुछ अध्याय ऐसे है जो तीर्थ-क्षत्र बन गये है। आज जिस अध्यायके सबधमे हमे कहना है वह बडा पवित्र, तीर्थ-जैसा बन गया है। खुद भगवान भी इसे 'अमृतधारा' कहते है—"ये तु धर्म्यामृतमिद यथोक्त पर्युपासते।" यह छोटा-सा बीस श्लोकोका अध्याय, परतु अमृतकी धारा है। अमृतकी तरह मधुर है, सजीवन है। इस अध्यायमे भगवान्ने स्वमुखसे भक्ति-रसकी महिमा-का तत्व बताया है।

यो तो वास्तवमे छठ अध्यायस भक्ति-तत्त्व प्रारभ हो गया है। पाचवे अध्यायके अत तक जीवन-शास्त्रका प्रतिपादन हुआ। स्वधर्माचरण-रूप कर्म, उसके लिए सहायक मानसिक साधना-रूप विकर्म इन दोनोकी साधनासे सपूर्ण कर्मोको भस्म करनेवाली अतिम अकर्मकी भूमिका—इतनी बातोका विचार पहले पाच अध्यायो तक हुआ। यहा तक जीवन-शास्त्र समाप्त हो गया। अब छठे अध्यायसे एक तरहसे भक्ति-तत्वका ही विचार ग्यारहवे अध्यायके अततक चला। एकाग्रतासे शुरूआत हुई। छठे अध्यायमे यह बताया गया कि चित्तकी एकाग्रता कैसे हो सकती है, उसके क्या-क्या साधन है व उसकी क्यो आवश्यकता है? ग्यारहवे अध्यायमे समग्रता बताई गई है। अब देखना यह है कि एकाग्रतासे लेकर समग्रता तककी लबी मजिल हमने कैसे तय की ?

चित्तकी एकाग्रतासे शुरूआत हुई। एकाग्रता सिद्ध होनेपर किसी भी

विषयका विचार मनुष्य कर सकता है। चित्तकी एकाग्रताका उपयोग—मेरा प्रिय विषय यदि लें तो—गणितके अध्ययनमें हो सकेगा। उससे अवश्य फल-लाभ होगा। परतु यह चित्तकी एकाग्रताका सर्वोत्तम साध्य नही है। गणितके अध्ययनसे एकाग्रताकी पूरी परीक्षा नही होती। गणितमें अथवा ऐसे-ही किसी ज्ञान-प्रान्तमें चित्तकी एकाग्रतासे सफलता तो मिलेगी; परतु यह सच्ची परीक्षा नही है। इसलिए सातवे अध्यायमें यह बताया कि हमारी दृष्टि भगवानके चरणोकी ओर होनी चाहिए। आठवें अध्यायमे कहा गया कि भगवानके चरणोमे एकाग्रता मतत रहे—हमारी वाणी, कान, आखे सतत उसीमे लगे रहे, इसलिए आमरण प्रयत्न करना चाहिए। हमारी तमाम इद्रियोको ऐसा अभ्यास हो जाना चाहिए। "सब इद्रियोको आदत पड गई—अब दूसरी भावना नही रही।" ऐसा हो जाना चाहिए। सब इद्रियोको भगवान्‌की धुन लग जानी चाहिए। हमारे पास चाहे कोई विलाप कर रहा हो, या भजन गा रहा हो, कोई वासनाका जाल बुन रहा हो या विरक्त सतोका समागम हो रहा हो, सूर्य हो या अधकार हो, मरण-कालमें परमेश्वर चित्तके सामने खड़ा रहेगा—इस तरहका अभ्यास जिंदगीभर इद्रियोसे कराना, यह सातत्यकी शिक्षा आठवे अध्यायमें दी गई है। छठे अध्यायमे एकाग्रता, सातवेमे ईश्वराभिमुख एकाग्रता, यानी 'प्रतिपत्ति', आठवेमे सातत्ययोग, व नवेमे समर्पणता सिखलाई है। दसवे में क्रमिकता बताई है। एक-एक कदम आगे चलकर ईश्वरका रूप कैसे हृदयगम किया जाय, चीटीसे लेकर ब्रह्मदेव तकमे व्याप्त परमात्माको धीरे-धीरे कैसे आत्मसात् किया जाय, यह बताया गया। ग्यारहवें अध्यायमें समग्रता बताई गई। विश्व-रूप-दर्शनको ही मै समग्रता-योग कहता हू। विश्व-रूप दर्शनका अर्थ है—यह अनुभव करना कि मामूली रज-कणमें भी सारा विश्व समाया हुआ है। यही विराट् दर्शन है। छठे अध्यायसे लेकर ग्यारहवे तक भक्तिरसकी ऐसी यह भिन्न-भिन्न प्रकारसे छननी की गई है।

(६०)

अब बारहवे अध्यायमे भक्तितत्त्वकी समाप्ति करनी है। अर्जुनने

समाप्ति-सबधी प्रश्न पूछा। पाचवें अध्यायमे जीवन-संबधी सर्व शास्त्रोंका विचार समाप्त होते समय जैसा प्रश्न अर्जुनने पूछा था वैसा ही यहा भी पूछा है। अर्जुन पूछता है कि भगवन्, कुछ लोग सगुणका भजन करते हैं, और कुछ निर्गुणकी उपासना करते है, तो अब बताओ कि इन दो में आपको कौन प्रिय है।

अब भगवान् इसका क्या उत्तर दे ? किसी माके दो बच्चे हों व उससे उनके बारेमें प्रश्न पूछा जाय, वैसा ही यह है। दोमें एक बच्चा छोटा हो, वह मांको बहुत प्यार करता हो, माको देखते ही आनदित होता हो, और माके जरा दूर जाते ही व्याकुल होता हो। वह मासे दूर जा ही नही सकता, उसे छोड नही सकता, उसका वियोग वह सहन नही कर सकता। मा न हो तो उसे सारा ससार सूना। ऐसा यह छोटा बच्चा है। दूसरा बडा बेटा हैं, वह भी है तो उसी तरह प्रेम-भावसे सराबोर, पर समझदार हो गया है। मासे दूर रह सकता है। पाच-छः मास भी मासे मुलाकात न हो तो भी वह रह सकता है। वह माकी सेवा करता है। सारा बोझ अपने सिरपर लेकर काम करता है। काम-काजमे लग जानेसे माका बिछोह सह सकता है। लोगोमे उसकी प्रतिष्ठा है, और चारो ओर उसका नाम सुनकर माको बडा सुख मिलता है। ऐसा यह दूसरा बेटा है। इस तरहके दो लडकोके बारेमें मासे प्रश्न पूछिए—'हे माता, इन दो लडकोमे से सिर्फ एक ही लडका आपको दिया जायगा, आप जो चाहें पसद कर ले ? तो वह क्या उत्तर देगी ? किस लड़केको वह पसद करेगी ? क्या वह दोनो लडकोंको तराजूमे रखकर उनको तौलेगी ? माताकी भूमिकापर गौर कीजिए। उसका स्वाभाविक उत्तर क्या होगा ? वह निरुपाय होकर कहेगी—'यदि बिछोह ही होना है तो बडे लड़केको ले जाओ। उसकी जुदाई मैं बर्दाश्त कर लूगी।' छोटे लड़केको उसने छातीसे लगाया है। उसे वह अपनेसे दूर नही हटने देगी। छोटे लडकेके विशेष आकर्षणको देखकर शायद वह इस तरहका जवाब देगी कि 'बडा दूर गया तो हर्ज नही।' परतु उसे अधिक प्रिय कौन है इस प्रश्नका यह जवाब नही कहा जा सकता। कुछ-न-कुछ जवाब देना ही था। इसलिए कुछ शब्द उसके मुहसे निकल गये। परतु उन

शब्दोके पेटमे घुसकर यदि उनका अर्थ निकालने लगेगे तो वह उचित न होगा।

इस प्रश्नका उत्तर देते हुए जैसे उस माको दुविधा होगी ठीक वैसी ही स्थिति भगवान्के मनकी हो गई है। अर्जुन कहता है—"भगवन्, दो तरहके भक्त आपके है। एक आपके प्रति अत्यत प्रेम रखता है, आपका सतत स्मरण करता है। उसकी आखें आपकी प्यासी, कान आपका गान सुननेको उत्सुक, हाथ-पाव आपकी सेवा-पूजाके लिए उत्कठित। दूसरा है स्वावलबी, इद्रियोको सतत वशमे रखनेवाला, सर्वभूत-हितमे मग्न, रात-दिन समाजकी निष्काम सेवामे ऐसा रत कि मानो उसे परमेश्वरका स्मरण ही न होता हो। यह है आपका अद्वैतमय दूसरा भक्त। अब मुझे यह बताइए कि इन दोनोमे आपका प्रिय भक्त कौनसा है?' अर्जुनका भगवानसे यह प्रश्न है। अब जिस तरह उसकी माने जबाब दिया था, हूबहू उसी तरह भगवान्ने इसका उत्तर दिया है—'वह सगुण भक्त मुझे प्रिय है। वह दूसरा—अद्वैती—भक्त भी मेरा ही है।' इस तरह भगवान् दुविधामे पड गये है—कुछ-न-कुछ उत्तर देना था, इसलिए दे डाला है।

और सचमुच बात भी ऐसी ही है। अक्षरश: दोनो भक्त एक-रूप है। दोनोकी योग्यता एक-सी है। उनकी तुलना करना मर्यादाका अतिक्रमण करना है। पाचवे अध्यायमे कर्मके विषयमे जैसा प्रश्न अर्जुनने पूछा था, वैसा ही यहा भक्तिके सबधमे पूछा है। पाचवे अध्यायमें कर्म व विकर्म की सहायतासे मनुष्य अकर्म-दशाको प्राप्त होता है। यह अकर्मावस्था दो रूपोमे प्रकट होती है—एक तो यह कि रात-दिन कर्म करते रहते हुए भी लेश-मात्र भी कर्म नही करता, व दूसरा चौबीस घटेमे एक भी कर्म न करते हुए मानो दुनिया-भरकी उखाड-पछाड करता है। इन दो रूपोमे अकर्म-दशा प्रकट होती है। अब इनकी तुलना कैसे की जाय? किसी वर्तुलके एक पहलूसे दूसरे पहलूकी तुलना कीजिए—एक ही वर्तुलके दो पहलू—इनकी तुलना करे कैसे? दोनो पहलू एक-सी योग्यता—गुण रखते हैं—एक रूप है। अकर्म भूमिकाका विवेचन करते हुए भगवान्ने एकको सन्यास व दूसरेको योग कहा है। शब्द भले ही दो हो, पर अर्थ एक ही है। सन्यास व योग दोनोका हल आखिर सरलता, सुगमताके आधारपर ही

किया है। सगुण-निर्गुणका प्रश्न भी ऐसा ही है। एक सगुण भक्त, इद्रियोके द्वारा परमेश्वरकी सेवा करता है। दूसरा, निर्गुण भक्त, मनसे विश्वके हितकी चिन्ता करता है। पहला बाह्यसेवामे मग्न दिखाई देता है, परतु भीतरसे उसका चितन सतत जारी ही है। दूसरा कुछ भी प्रत्यक्ष सेवा करता हुआ नही दिखाई देता, परंतु भीतरसे उसकी महासेवा चल ही रही है। इस प्रकारके इन दो भक्तोमे अब श्रेष्ठ-कौनसा ? रात-दिन कर्म करके भी लेश-मात्र कर्म न करनेवाला सगुण भक्त है। निर्गुण-उपासक भीतरसे सबके हितका चिंतन, सबकी चिता करता है। ये दोनो भक्त भीतरसे एक रूप ही है, अलबत्ते बाहरसे भिन्न दिखाई देते है। परतु दोनो है एकसेही, दोनो भगवान्के प्यारे है। फिर भी इनमे सगुण भक्ति ज्यादा सुलभ है। इस तरह भगवान्ने जो उत्तर पाचवे अध्यायमे दिया, वही यहा भी दिया है।

(६१)

सगुण-भक्ति-योगमे इद्रियोसे प्रत्यक्ष काम लिया जा सकता है। इन्द्रिया या तो साधन है, या विघ्न-रूप है, या दोनो है। वे मारक है या तारक—यह देखनेवालेकी दृष्टि पर अवलबित है। मान लो कि किसी-की मा मृत्यु-शैय्या पर पड़ी हुई है, व वह अपनी मांसे मिलना चाहता है। रास्ता दूर—पद्रह मीलका है। उस पर मोटर नही जा सकती। टूटी-फूटी पगडडी है। ऐसे समय यह रास्ता साधन है या विघ्न। कोई कहेगा— "कहाका यह अभद्र मार्ग बीचमे आगया, नही तो मै कब-का माके जाकर मिल लेता।" ऐसे व्यक्तिके लिए वह रास्ता शत्रु है। किसी तरह रास्ता काटता हुआ जाता है। वह रास्तेको कोस रहा है। परतु मांको देखनेके लिए उसे हर हालतमे जल्दी-जल्दी कदम उठाकर जाना जरूरी है। रास्तेको शत्रु समभकर वह वही नीचे बैठ जायगा तो फिर उस दुश्मनसे लगनेवाले रास्तेकी विजय हो जायगी। वह सरपट चलकर ही उस शत्रुको जीत सकता है। दूसरा व्यक्ति कहता है—"इस भारी जगलमे भी इतना रास्ता तो किसी तरह बना हुआ है ही। यही गनीमत है। किसी तरह मा तक जा पहुँचूगा। यह न होता तो इस दुर्गम पहाड परसे कैसे आने

जा पाता ?" यह कहकर वह उस पगडडीको एक साधन समझते हुए तेजी-से कदम आगे बढाता जाता है। रास्तेके प्रति उसके मनमे स्नेह-भाव होगा, उसे वह मित्र मानेगा। अब आप उस रास्तेको चाहे मित्र मानिये या शत्रु, अतर डालनेवाला कहिये या कम करने वाला कहिये, जल्दी-जल्दी कदम तो आपको उठाना ही होगा। रास्ता विघ्नरूप है या साधनरूप, यह तो मनुष्यकी अपनी-अपनी मनोभूमिका या दृष्टि जैसी कुछ हो, उस पर अवलबित है। यही बात इद्रियोकी है। वे विघ्न-रूप हैं या साधन हैं, बाधक है या साधक है, यह आपकी अपनी दृष्टिपर अवलबित है।

सगुण उपासकके लिए इद्रिया एक साधन हैं। इद्रिया मानो फूल हैं जिन्हे उसे परमात्माको चढाना है। आखोसे हरिका रूप देखे, कानोसे हरि-कथा सुने, जीभसे हरि-नाम का उच्चारण करे, पाव मे तीर्थ-यात्रा करे, हाथोसे सेवा-कार्य करे, इस तरह समस्त इद्रियोको वह परमेश्वरके अर्पण कर देता है। वे इद्रिया भोगके लिए नही रह जाती। फूल तो भगवान्पर चढानेके लिए होते है। फूलकी माला खुद अपने गलेमे डालनेके लिए नही होती। इसी तरह इद्रियोका उपयोग ईश्वरकी सेवामे किया जाय। यह हुई सगुणोपासककी दृष्टि। परतु निर्गुणोपासकको इद्रिया विघ्न-रूप मालूम होती है। वह उन्हे सयममे रखता है। बद करके रखता है, उनका खाना बद कर देता है, उन पर पहरा बिठा देता है। परतु सगुणोपासकको यह सब कुछ नही करना पडता। वह सब इद्रियोको हरिचरणोमे चढा देता है। ये दोनो विधिया इद्रिय-निग्रहकी ही है— इद्रिय-दमनके ही ये दोनो प्रकार हैं। आप किसी भी विधिको लेकर चलिए, परतु इद्रियोको अपने काबूमे रखिये। ध्येय दोनोका एक ही है— उन्हे विषयोमे न भटकने देना। एक विधि सुलभ है, दूसरी मुश्किल है।

निर्गुण उपासक सर्वभूतहित-रत होता है। यह कोई मामूली बात नही है। 'सारे विश्वका कल्याण करना' कहनेमे आसान है, पर करना बहुत कठिन है। जिमे समग्र विश्वके कल्याणकी चिंता है वह उस चिंतनके सिवा दूसरा कुछ नही कर सकता। इसीलिए निर्गुण-उपासना कठिन कही गई है। सगुण उपासना अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार

अनेक प्रकारसे की जा सकती है। उस छोटेसे देहातकी, जहा हमारा जन्म हुआ सेवा करना, अथवा मा-बापकी सेवा करना सगुण पूजा है। बस इसमे इतना ही ध्यान रखना है कि हमारी यह पूजा जगत्‌के हितकी विरोधक न हो। आपकी सेवा कितनी ही छोटी क्यो न हो, वह यदि दूसरोके हितमे बाधा न डालती हो तो अवश्य भक्तिकी श्रेणीमें पहुच जायगी। नही तो वह सेवा आसक्तिका रूप ग्रहण कर लेगी। हमारे मा-बाप हो, दुखी बन्धु-बान्धव हो, साधु-सत हो, परमेश्वर समझकर इनकी सेवा करनी चाहिए। इन प्रत्येकमें परमेश्वरकी मूर्तिकी कल्पना करके सतोष मानो। यह सगुण पूजा सुलभ है; परतु निर्गुण पूजा कही कठिन है। यो दोनोका अर्थ—सार एक ही है। सुलभताकी दृष्टिसे सगुण श्रेयस्कर है, बस।

सुलभताके अलावा एक और मुद्दा भी है। निर्गुण उपासनामे भय है। निर्गुण ज्ञानमय है। सगुण प्रेममय, भावनामय है। सगुणमें आर्द्रता है। उसमे भक्त अधिक सुरक्षित है। निर्गुणमे जरा खतरा है। एक समय ऐसा था जब ज्ञानपर मै अधिक निर्भर था। परतु अब मुझे ऐसा अनुभव हो गया है कि केवल ज्ञानसे मेरा काम नही चल सकता। ज्ञानसे मनका स्थूल मैल जलकर भस्म हो जाता है, परतु सूक्ष्म मैलको मिटाने-का सामर्थ्य उसमे नही है। स्वावलबन, विचार, विवेक, अभ्यास, वैराग्य —इन सभी साधनोको ले लीजिए, फिर भी इनके द्वारा मनके सूक्ष्म मल नही मिट सकते। भक्ति-रूपी पानीकी सहायताके बिना ये मैल नही धुल सकते। भक्ति-रूपी पानीमे ही यह शक्ति है। इसे आप चाहे तो परावलबन कह दीजिए। परतु 'पर' का अर्थ 'दूसरा' न करके वह 'श्रेष्ठ परमात्मा' कीजिए व उसका अवलबन—ऐसा अर्थ ग्रहण कीजिए। परमात्माका सहारा लिये बिना चित्तके मल नष्ट नही होते।

कोई यह कहेगे कि यहा 'ज्ञान' शब्दका अर्थ सकुचित कर दिया है। यदि 'ज्ञान' से चित्तके मैल नही धुल सकते तो मै इस आक्षेपको स्वीकार करता हू कि फिर ज्ञानका दर्जा कम हो जाता है। परतु मेरा कहना यह है कि शुद्ध ज्ञान इस मिट्टीके पुतलेमे रहते हुए होना कठिन है। इस देहमें रहते हुए जो ज्ञान होगा, वह कितना ही शुद्ध क्यो न हो, कुछ कम असल,

विकृत ही रहेगा। इस देहमें जो ज्ञान उत्पन्न होगा उसकी शक्ति मर्यादित ही रहेगी। यदि शुद्ध ज्ञानका उदय हो गया तो उससे सारे मैल भस्म हो जायंगे, इसमें मुझे तिल-मात्र सदेह नही है। चित्त सहित सारे मलोंको भस्म कर डालनेका सामर्थ्य ज्ञानमे है। परतु इस विकारवान देहमे ज्ञान-का बल कम पडता है। इससे उसके द्वारा सूक्ष्म मलोंका मिटना शक्य नही है। अत भक्तिका आश्रय लिये बिना सूक्ष्म मलोको निर्मूल नही किया जा सकता। इसीलिए भक्तिमे मनुष्य अधिक सुरक्षित है। यह 'अधिक' शब्द मेरी तरफका समझ लीजिए। सगुण भक्ति सुलभ है। इसमे परमेश्वरावलबन है; निर्गुणमे स्वावलबन है। इसमे 'स्व' का भी क्या अर्थ है? 'अपने अतस्थ परमात्माका आधार'—यही उस स्वावलबनका अर्थ है। ऐसा कोई व्यक्ति नही मिल सकता जो केवल बुद्धिके सहारे शुद्ध हो गया हो। स्वावलबनसे, अर्थात् आतरिक आत्म-ज्ञानसे शुद्ध ज्ञान प्राप्त होगा। साराश, निर्गुण भक्तिके स्वावलबनमे भी आत्माका ही आधार है।

(६२)

जैसे सगुण उपासनाके पक्षमे मैंने सुलभता व सुरक्षितता-रूपी वजन डाल दिया, वैसे ही निर्गुणके पक्षमे भी मैं डाल सकता हू। निर्गुणमे एक मर्यादा रहती है। जैसे हम भिन्न-भिन्न कामोके लिए, सेवाके लिए सस्था स्थापित करते हैं। सस्थाए जो स्थापित होती है सो पहले व्यक्तियोके कारण, वह व्यक्ति मुख्य आधार रहता है। सस्था पहले व्यक्ति-निष्ठ रहती है। परतु जैसे-जैसे उसका विकास होता जायगा वैसे-वैसे वह व्यक्ति-निष्ठ न रह कर तत्त्वनिष्ठ होती जानी चाहिए। यदि उसमे ऐसी तत्त्वनिष्ठा उत्पन्न न हुई तो उसे स्फूर्ति देनेवाले व्यक्तिके लोप होते ही उस सस्थामे अधेरा छा जाता है। मै अपना प्रिय उदाहरण दू, चरखेकी माल टूटते ही सूतका कातना तो दूर, कता हुआ सूत भी लपेटना कठिन होता है। वैसी ही दशा उस व्यक्तिका आधार टूटते ही सस्थाकी हो जाती है। फिर वह अनाथ हो जाती है। पर यदि व्यक्ति-निष्ठासे तत्व-निष्ठा पैदा हो गई तो फिर ऐसा नही हो सकता। सगुणको निर्गुणकी मदद चाहिए। कभी-

न-कभी तो व्यक्तिसे, आकारसे, निकलकर बाहर जानेका अभ्यास करना चाहिए। गंगा हिमालयमे शकरके जटाजूटसे निकली, परन्तु वहीं नही थम गई। उस जटाजूट से निकलकर वह हिमालयकी गिरि-कदराओ, घाटियो, जंगलोंको पार करती हुई सपाट मैदानमें कल-कल छल-छल बहती हुई जब आई तभी वह विश्व-जनोंके काम आ सकी। इस प्रकार सस्थाको व्यक्तिका आधार टूट जानेपर भी तत्वके मजबूत खभो पर खडा रहनके लिए तैयार रहना चाहिए। जब मकानमे कमान बनाते है तो पहले उसे सहारा लगाते हैं; परंतु बादमे उसे निकालना होता है। उस सहारेके निकाल डालनेपर जब कमान टिक रहती है तभी समझा जाता है कि वह आधार सही था। इसी तरह पहले स्फूर्तिका प्रवाह सगुण-से चला तो ठीक, परतु अतमे उसकी परिपूर्णता तत्त्वनिष्ठामे, निर्गुणमे होनी चाहिए। भक्तिके उदरसे ज्ञानका उदय होना चाहिए। भक्ति रूपी लतामें ज्ञानके फूल लगने चाहिए।

बुद्धदेवके ध्यानमे यह बात आ गई थी। इसलिए उन्होने तीन प्रकार-की निष्ठाए बताई हैं। पहले व्यक्ति-निष्ठा हो तो भी उसमेंसे तत्त्व-निष्ठा, और यदि एकाएक तत्त्व-निष्ठा न हो तो कम-से-कम सघ-निष्ठा उत्पन्न होनी चाहिए। एक व्यक्तिके प्रति जो आदर था वह दस-पद्रहके लिए होना चाहिए। संघके प्रति यदि सामुदायिक प्रेम न होगा तो आपसमे अनबन होने लगेगी, झगडे-टंटे शुरू हो जायगे। व्यक्ति-शरणता जाकर संघ-शरणता उत्पन्न होनी चाहिए। और फिर सिद्धांत-शरणता आनी चाहिए। इसीलिए बुद्ध-धर्ममें तीन शरणता बताई गई हैं—

"बुद्धं शरणं गच्छामि। संघं शरणं गच्छामि। धम्मं शरणं गच्छामि।"

प्रथम व्यक्तिके प्रति, फिर संघके प्रति प्रीति। परतु ये दोनो निष्ठाए कमजोर ही हैं। अत. जब अतमे सिद्धांत-निष्ठा उत्पन्न होगी तभी संस्था टिकेगी और तभी लाभदायी हो सकेगी। स्फूर्तिका स्रोत यद्यपि सगुणसे शुरू हुआ तो भी वह निर्गुण-सागरमें जाकर मिलना चाहिए। निर्गुणके अभावमें सगुण सदोष हो जाता है। निर्गुणकी मर्यादा सगुणको संमतौल रखती है, इसके लिए सगुण निर्गुणका आभारी है।

क्या हिंदू, क्या ईसाई व क्या इस्लाम इत्यादि सभी धर्मोंमें किसी-न-किसी रूपमें मूर्ति-पूजा प्रचलित है। भले ही वह निचले दर्जेकी मानी गई हो, पर मान्य जरूर है और महान् है। परतु जबतक मूर्ति-पूजा निर्गुणकी सीमामें रहती है तभी तक वह निर्दोष रहती है। इस मर्यादाके छूटते ही सगुण सदोष हो जाता है। सारे धर्मोंके सगुण निर्गुण-रूपी मर्यादाके अभावमे अवनतिको प्राप्त हो गये है। पहले यज्ञ-यागमे पशु-हत्या होती थी। आज भी शाक्त देवीको बलि चढाते है। यह मूर्ति-पूजाका अत्याचार हो गया। मर्यादाको छोडकर मूर्ति-पूजा गलत दिशामे चली गई। पर यदि निर्गुण-निष्ठाकी मर्यादा रहे तो फिर यह अदेशा नही रहता।

(६३)

सगुण सुलभ व सुरक्षित है। परतु सगुणको निर्गुणकी आवश्यकता है। सगुणकी बढती होकर उसमे निर्गुण-रूपी, तत्त्वनिष्ठा-रूपी फूलकी बहार आनी चाहिए। निर्गुण, सगुण परस्पर पूरक है, परस्पर-विरुद्ध नही। सगुणसे निर्गुण तककी मजिल तय करनी चाहिए और निर्गुणको भी चित्तके सूक्ष्म मल धोनेके लिए सगुणकी आर्द्रता चाहिए। दोनोकी एक-दूसरेसे शोभा है। यह दोनों प्रकारकी भक्ति रामायणमे बडे उत्तम ढगसे दिखाई गई है। अयोध्याकाडमे दोनो भक्तियोके प्रकार आ गये है। इन्ही दो भक्तियोका विस्तार रामायणमें है। भरतकी भक्ति पहले प्रकारकी व लक्ष्मणकी दूसरे प्रकारकी। इनके उदाहरणसे निर्गुण भक्ति व सगुण भक्तिका स्वरूप समझमें आ जायगा।

राम जब बनवासके लिए जाने लगे तो वे लक्ष्मणको अपने साथ ले जानेके लिए तैयार नही थे। रामको उन्हे साथ ले जानेकी कोई जरूरत नही मालूम होती थी। उन्होने लक्ष्मणसे कहा—"लक्ष्मण, मै वनको जा रहा हू। मुझे पिताजीकी ऐसी ही आज्ञा है। तुम घरपर रहो। मेरे साथ चलकर अपने दुःखी माता-पिताको अधिक दुःखी न बनाओ। माता-पिताकी व प्रजाकी सेवा करो। तुम उनके पास रहोगे तो मै निश्चिन्त रहूगा। मेरे प्रतिनिधिके बतौर तुम रहो। मैं वनमें जा रहा हू, इसका

अर्थ यह नही कि किसी सकटमें पड रहा हू। बल्कि ऋषियोंके आश्रमोमें जा रहा हू।" इस तरह राम लक्ष्मणको समझा रहे थे। परतु लक्ष्मणने रामकी सारी बाते चटसे एक ही शब्दमें उडा दी। एक घाव दो टूक कर डाला। तुलसीदासने इसका बढ़िया चित्र खीचा है। लक्ष्मण कहते हैं— "आपने मुझे उत्कृष्ट निगम-नीति बताई है। वास्तवमें मुझे इसका पालन भी करना चाहिए। परतु यह राजनीतिका बोझ मुझसे नही उठ सकेगा। आपके प्रतिनिधि होनेकी शक्ति मुझमें नही। मै तो बालक हू।

"दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं।
लागि अगम अपनी कदराई॥
नरबर धीर धरम-धुर-धारी।
निगम-नीति कहुँ ते अधिकारी॥
मैं सिसु प्रभु-सनेह-प्रतिपाला।
मंदरु मेरु कि लेहिं मराला॥"

हस क्या मेरु मदरका भार उठा सकता है? राम भैया, मै तो आजतक आपके प्रेमसे पोषित हुआ हू। आप यह राजनीति किसी दूसरेको सिखाइये। मै तो अभी बालक हूं। यह कह लक्ष्मणने सारी बात ही खतम कर दी।

मछली जिस तरह पानीसे जुदा नही रह सकती वैसा ही लक्ष्मणका था। रामसे दूर रहनेका बल उसमें नही था। उसके रोम-रोममें सहानुभूति भरी थी। राम सो जाय तब भी खुद जागता रहे, उनकी सेवा करे, इसीमे उसे आनद मालूम होता था। हमारी आखपर कोई ककर मारे तो जैसे फौरन हाथ उठकर आख पर आ जाता है व ककरकी मार झेल लेता है, उसी तरह लक्ष्मण रामका हाथ बन गया था। रामपर यदि प्रहार हो तो पहले लक्ष्मण उसे झेलता। तुलसीदासने लक्ष्मणके लिए एक बढ़िया दृष्टात दिया है। झडा ऊचा फहराता रहता है। गान-वंदना सब झंडेकी करते है। उसके रग-आकार आदिके गीत गाये जाते हैं। परतु उस सीधे खडे डडेको कौन पूछता है? रामके यशकी जो पताका उड रही है उसका दडकी तरह आधार लक्ष्मण ही था। वह सीधा तना

खड़ा रहता । झडेका डडा कभी झुक नही सकता, उसी तरह रामके यशको फहरानेवाला लक्ष्मण-रूपी डडा कभी झुका नही । यश किसका ? तो रामका ! ससारको पताका दीखती है । डडेको कोई नही गिनता । शिखर दीखता है, नीव—पाया किसीको नही । रामका यश ससारमे फैल रहा है, परतु लक्ष्मणका कही पता नही । चौदह साल तक यह दड सीधा ही तना रहा, जरा भी नही झुका । खुद पीछे रहकर वह रामका यश फहराता रहा । राम बडे-बडे दुर्धर काम लक्ष्मणसे करवाते । सीताको वनमे छोडनेका काम अतको लक्ष्मणको ही सौपा गया । बेचारा लक्ष्मण सीताको पहुचा आया । लक्ष्मणका कोई स्वतत्र अस्तित्व ही नही रह गया था । रामकी आखे, रामके हाथ-पाव, रामका मन वह बन गया था । जिस तरह नदी समुद्रमे मिल जाती है उसी तरह लक्ष्मणकी सेवा राममे मिल गई थी । वह रामकी छाया बन गया था । लक्ष्मणकी यह भक्ति सगुण थी ।

भरत निर्गुण भक्ति करनेवाला था । उसका भी चित्र तुलसीदासने खूब खीचा है । जब राम वनको गये तब भरत अयोध्यामे नही था । जब भरत आया तब दशरथ मर चुके थे । गुरु वशिष्ठ उसे समझा रहे थे, कि तुम राज करो । पर भरतने कहा—'मुझे रामसे मिलना है' रामसे मिलनेके लिए वह भीतरसे छटपटा रहा था । परतु साथ ही राज-का प्रबध भी वह कर रहा था । उसकी भावना यह थी कि यह राज्य रामका है, उसका प्रबध करना रामका ही काम करना है । सारी सपत्ति मालिककी है, सिर्फ उसका इतजाम करना उसे अपना कर्त्तव्य मालूम होता था । लक्ष्मणकी तरह भरत मुक्त नही हो सकता था । यह भरत-की भूमिका है । रामकी भक्तिका अर्थ है—रामका काम करना चाहिए, नही तो वह भक्ति किस कामकी ? राज-काजकी सारी व्यवस्था करके भरत रामसे भेट करने वनमे आया है । "भैया यह आपका राज्य है । आप —" इतना ज्योही वह कहता है त्योही राम उससे कहते है—"भरत, तुम्ही राज करो ।" भरत सकोचसे खडा हो जाता है । वह कहता है— "आपकी आज्ञा सिर आखोपर ।" राम जो कहे वह मंजूर । उसने अपना सब कुछ रामपर निछावर कर रक्खा था । वह जाकर राज-काज करने

लगा। परतु उसमे भी तारीफ यह कि अयोध्यासे दो मील दूर तप करते हुए रहा। तपस्वी रहकर राज-काज चलाया। अतको राम जब भरतसे मिले है तब यह पहचानना मुश्किल हो जाता है कि इनमे वनमे रहकर तप करनेवाला वास्तविक तपस्वी कौन है ? दोनोके एकसे चेहरे, थोडा उम्रमे फर्क, मुखमुद्रापर वही तपस्या, दोनोको देखकर पहचान नही पाते कि इनमे राम कौन व भरत कौन। यदि कोई चितेरा ऐसा चित्र निकाले तो वह कितना पावन चित्र होगा ? इस तरह भरत यद्यपि शरीरसे रामसे दूर था, तो भी मनसे वह क्षण भरके लिए भी दूर नही था। यद्यपि एक ओर वह राजकाज कर रहा था तो भी मनसे वह रामके पास ही था। निर्गुणमे सगुण भक्ति खचाखच भरी रहती है। अत वहा वियोगकी भाषा मुहसे निकले ही कैसे ? इसलिए भरतको रामका वियोग नही मालूम था। वह अपने प्रभुका कार्य कर रहा था।

आजकलके युवक कहते है—'रामका नाम, रामकी भक्ति रामकी उपासना—ये सब हमारी समझमे नही आते। हम तो भगवान्का काम करेगे।' तो भगवान्का काम कैसे करना चाहिए। इसका नमूना भरतने दिखला दिया है। भगवान्का काम करके भरतने वियोगको आत्मसात् किया है। भगवान्का काम करते हुए भगवान्के वियोगका अनुभव करने जितना भी समय न रहना एक बात है, व जिसका भगवान्से कुछ देना-लेना नही, उसका कहना दूसरी बात है। भगवान्का कार्य करते हुए सयमपूर्ण जीवन व्यतीत करना दुर्लभ वस्तु है। यद्यपि भरतकी यह वृत्ति निर्गुण रूपसे काम करनेकी थी, तो भी वहा सगुणका आधार टूट नही गया था। "प्रभो राम, आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है। आप जो कुछ कहेगे उसमे मुझे सदेह न होगा।" ऐसा कहकर भरत ज्यो ही लौटने लगा तो पीछे फिरकर रामकी ओर देखा, कहा—"भगवन्, मनको समाधान नही होता, कुछ-न-कुछ भूला हुआ-सा मालूम होता है।" रामने तुरत उसका भाव पहचान लिया और कहा—"यह पादुका ले जाओ।" अतको सगुणके प्रति आदर रहा ही। निर्गुणको सगुणने अतमें आर्द्र कर ही दिया। लक्ष्मणको पादुका लेनेसे समाधान न हुआ होता। उसकी दृष्टिसे यह दूधकी भूख छाछ पीकर मिटाने जैसा हो गया होता।

भरतकी भूमिका इससे भिन्न थी। वह बाहरसे दूर रहकर कर्म कर रहा था, परतु मनसे राममय था। भरत यद्यपि अपने कर्तव्यका पालन करनेमे ही राम-भक्ति मानता था तो भी उसे पादुकाकी आवश्यकता महसूस हुई ही। उनके अभावमे वह राजकाज नही कर सकता था। उन पादुकाकी आज्ञाके रूपमे वह अपना कर्त्तव्य कर रहा था। लक्ष्मण जैसा रामका भक्त था वैसा ही भरत भी था। दोनोकी भूमिका बाहरसे भिन्न-भिन्न थी। भरत यद्यपि कर्त्तव्यनिष्ठ था, तत्त्वनिष्ठ था, तो भी उसकी तत्त्वनिष्ठाको पादुकाकी आर्द्रताकी जरूरत महसूस हुई।

(६४)

हरिभक्ति-रूपी आर्द्रता अवश्य होनी चाहिए। इसलिए भगवान्ने अर्जुनसे बार-बार कहा है—"मय्यासक्तमना. पार्थ" अर्जुन, मुझमे आसक्ति रख, मेरे रसका सहारा ले व फिर कर्म करता रह। जिस भगवद्-गीताको 'आसक्ति' शब्द न तो सूझता है, न रुचता है, जिसने बार-बार इस बातपर जोर दिया है कि अनासक्त रहकर कर्म करो, रागद्वेष छोडकर कर्म करो, निरपेक्ष कर्म करो. 'अनासक्ति', 'नि सगता' जिसका ध्रुपद या पालु-पद है, वही कहती है—"अर्जुन, मुझमे आसक्ति रखो।" पर यहा याद रखना चाहिए कि भगवान्मे आसक्ति रखना बडी ऊची बात है। वह किसी पार्थिव वस्तुके प्रति आसक्ति नही है। सगुण व निर्गुण दोनो एक दूसरेमे उलझे हुए है। सगुण निर्गुणका आधार नि शेष नही कर सकता व निर्गुणको सगुणके रसकी जरूरत होती है। जो मनुष्य सदैव कर्त्तव्य कर्म करता है वह उस कर्म-रूपमे पूजा ही कर रहा है। परतु पूजाके साथ रस, आर्द्रता चाहिए। **'मामनुस्मर युद्धच च।'** मेरा स्मरण रखके कर्म करो। कर्म खुद भी एक पूजा ही है, परतु मनमे भावना सजीव रहनी चाहिए। महज फूल चढा देना ही पूजा नही है। उसमे भावना आवश्यक है। फूल चढाना, पूजाका एक प्रकार है, सत्कर्मों द्वारा पूजा करना दूसरा प्रकार है। परतु दोनोमे भावना रूपी रस आवश्यक है। फूल चढा दिये, पर भावना मनमे नही है तो वे फूल मानो पत्थरपर ही चढ़े। अतः असली वस्तु भावना है। सगुण व निर्गुण, कर्म व प्रीति,

ज्ञान व भक्ति, ये सब चीजें एक-रूप ही हैं। दोनोंका अंतिम अनुभव एक ही है।

उद्धव व अर्जुनकी बात लो। रामायणसे मै एकदम महाभारतमे आ कूदा। इसका मुझे अधिकार भी है। क्योकि राम व कृष्ण दोनो एक-रूप ही है। जैसे भरत व लक्ष्मण, वैसे उद्धव व अर्जुन हैं। जहा कृष्ण वहा उद्धव मौजूद ही है। उद्धवको कृष्णका क्षण भरका वियोग सहन नही हो सकता। वह सतत कृष्णकी सेवामे निमग्न रहता है। कृष्णके बिना सारा ससार उसे फीका मालूम होता है। अर्जुन भी कृष्णका सखा था। परतु वह दूर दिल्ली रहता था। अर्जुन कृष्णका काम करनेवाला था। परतु कृष्ण द्वारकामे, तो अर्जुन हस्तिनापुरमे। ऐसा दोनोका सबध था। जब कृष्णको देह छोडनेकी आवश्यकता मालूम हुई तो उन्होने उद्धवसे कहा—"ऊधो, अब मै जा रहा हू।" उद्धवने कहा—"मुझे क्या अपने साथ नही ले चलेगे? हम दोनो साथ ही चलेगे।" परतु कृष्णने कहा—"यह मुझे पसद नही। सूर्य अपना तेज अग्निमे रख जाता है। उसी तरह मै अपनी ज्योति तुझमें छोड जाता हू।" इस तरह भगवान्‌ने अत-कालीन व्यवस्था की व उसे ज्ञान देकर रवाना किया। फिर यात्रामे उद्धवको मैत्रेय ऋषिसे मालूम हुआ कि भगवान् निजधामको चले गये। किन्तु उसके मनपर उसका कुछ भी असर न हुआ। मानो जैसा कुछ हुआ ही नही। 'गुरु मरा तो चेला रोया—दोनोने बोध व्यर्थ खोया।' ऐसा हाल उनका नही था। मानो वियोग हुआ ही न हो। उसने सारे जीवन भर सगुण उपासना की थी। परमेश्वरके पास ही रहता था। पर अब उसे निर्गुणमे ही आनद होने लगा था। इस तरह उमे निर्गुणकी मजिल तय करनी पडी। सगुण पहले, परतु उसके बाद निर्गुणकी सीढी आनी ही चाहिए, नही तो परिपूर्णता न होगी।

इससे उलटा हाल हुआ अर्जुनका। श्रीकृष्णने उसे क्या करनेके लिए कहा था? अपने बाद सब स्त्रियोकी रक्षाका भार उन्होने अर्जुन पर सौपा था। अर्जुन दिल्लीसे आया व द्वारकासे श्रीकृष्णकी स्त्रियोंको लेकर चला। रास्तेमे हिसारके पास पंजाबके चोरोने उसे लूट लिया। जो अर्जुन उस समय अकेला ही नर कहलाता था, उत्कृष्ट वीरके नामसे

प्रसिद्ध था, जो पराजय जानता ही न था, व इसलिए 'जय' नामसे ही मशहूर हो गया था, जिसने प्रत्यक्ष शकरसे मुकाबला किया और उन्हे झुका दिया, वही अजमेरके पास भागते-भागते बचा। कृष्णके चले जानेका बडा असर उसके मनपर हुआ। मानो उसका प्राण ही चला गया व केवल निस्त्राण व निष्प्राण शरीर ही बाकी रह गया। मतलब यह कि सर्वथा कर्म करनेवाले, कृष्णसे दूर रहनेवाले निर्गुण उपासक अर्जुनको अतमे यह वियोग दु सह व भारी हो गया। उसके निर्गुणको अतमे वियोगकी वाचा फूट निकली। उसका सारा कर्म ही मानो खतम हो गया। उसके निर्गुणको आखिर सगुणका अनुभव हुआ। साराश, सगुणको निर्गुणमे जाना पडता है व निर्गुणको सगुणमे आना पडता है। इस तरह दोनोमें एक दूसरेमे परिपूर्णता आती है।

(८५)

इसलिए जब यह कहनेकी नौबत आती है कि सगुण-उपासक व निर्गुण-उपासकमे क्या भेद है तो वाणीकी गति कुठित हो जाती है। सगुण व निर्गुण अतमे एक हो जाते है। भक्तिका स्रोत यद्यपि पहले सगुणसे निकला हो तो भी अतमे वह निर्गुण तक जा पहुचता है। पुरानी बात है। मै वायकमका सत्याग्रह देखने गया था। मलाबारके किनारे शकराचार्यका जन्म-ग्राम है, यह भूगोलकी बात मैने ध्यानमे रखी थी। जिधर होकर मै जा रहा था वही कही पासमे भगवान् शकराचार्यका 'कालडी' ग्राम होगा, ऐसा मुझे लगा व मैने साथके मलयाली व्यक्तिसे पूछा। उसने कहा—यहासे १०–१२ मील पर ही वह है। आप जाना चाहते है क्या? मैने इन्कार कर दिया। मै जा रहा था सत्याग्रह देखनेके लिए, अत मुझे और कही जाना उचित न जान पडा। व उस समय उस गावको देखनेके लिए न गया। मुझे अब भी ऐसा लगता है कि ऐसा करके मैने अच्छा ही किया है। परतु रातको जब मै सोने लगा तो वह कालडी गाव, शकराचार्यकी वह मूर्ति, मेरी आखोके सामने बार-बार आने लगती। मेरी नीद उड जाती। वह अनुभव मुझे आज भी ज्योका त्यो हो रहा है। शकराचार्यका वह ज्ञानका प्रभाव, उनकी वह दिव्य

अद्वैत-निष्ठा, सामने फैले हुए संसारको मिथ्या ठहरानेवाला उनका अलौकिक व ज्वलन्त वैराग्य, उनकी गंभीर भाषा व मुझपर हुए उनके अनत उपकार—इन सबकी रह-रहकर मुझे याद आने लगी। रातको ये सब भाव सामने खडे हो जाते। तब मुझे अनुभव हुआ कि यह निर्गुणमें सगुण कैसे लबालब भरा हुआ है। प्रत्यक्ष भेट होनेमे भी उतना प्रेम नही होता। निर्गुणमें भी सगुणका परमोत्कर्ष गहरा भरा हुआ है। मैं प्राय. अधिक 'कुशलपत्र वगैरा नही लिखता। पर किसी मित्रको पत्र न लिखने पर भी भीतरसे उसका सतत स्मरण होता रहता है। पत्र न लिखते हुए भी मनमे उसकी स्मृति ठसाठस भरी रहती है। निर्गुणमे इस तरह सगुण गुप्त रहता है। सगुण व निर्गुण दोनो एक-रूप ही है। प्रत्यक्ष मूर्तिको लेकर पूजा करना, प्रकट रूपसे सेवा करना, व भीतरसे, सतत ससारके कल्याणका चितन करते हुए बाहरसे पूजाकी क्रिया न दिखाई देना—इन दोनोका समान मूल्य व महत्त्व है।

(६६)

अतमे मुझे कहना यह है कि सगुण क्या, व निर्गुण क्या, इसका निश्चय करना भी आसान नही है। एक दृष्टिसे जो सगुण है वह दूसरी दृष्टिसे निर्गुण ठहर सकता है। सगुणकी सेवा एक पत्थरको लेकर की जाती है। उस पत्थरमे भगवानकी कल्पना कर लेते है। हमारी मातामे, सतोमें प्रत्यक्ष चैतन्य प्रकटित हुआ है। उनमे ज्ञान, प्रेम, हार्दिकता स्पष्ट प्रकट है। पर उनमे परमात्मा मानकर पूजा नही करते। ये चैतन्यमय लोक सबको दिखाई देते है। अतः उनकी सेवा करनी चाहिए, उनमे सगुण परमात्माके दर्शन करने चाहिए। परतु ऐसा न करके लोग पत्थरमे परमेश्वर देखते है। अब एक तरहसे पत्थरमे परमेश्वरको देखना निर्गुणकी पराकाष्ठा है। सत, मा-बाप, पडौसी, इनमे प्रेम, ज्ञान, उपकारबुद्धि व्यक्त हुई है। उनमे ईश्वर मानना तो सरल है। परतु पत्थरमें ईश्वर मानना कठिन है। उस नर्मदाके ककरको हम शकर मानते है। यह क्या निर्गुण-पूजा नही है ? बल्कि इसके विपरीत ऐसा मालूम होता है कि यदि पत्थरमे परमेश्वरकी कल्पना न की जाय तो फिर कहा की जाय ?

भगवान्‌की मूर्ति होनेके लायक वह पत्थर ही है। वह निर्विकार है, शात है। अधकार हो, प्रकाश हो, गर्मी हो, सर्दी हो, वह पत्थर जैसाका तैसा ही रहता है। ऐसा यह निर्विकारी पत्थर ही परमेश्वरका प्रतीक होनेके योग्य है। मा-बाप, जनता, अडौसी-पडौसी ये सब विकारसे युक्त हैं। अर्थात् इनमें कुछ-न-कुछ विकार मिल ही जाता है। अतएव पत्थरकी पूजा करनेकी बनिस्बत उनकी सेवा करना एक दृष्टिसे कठिन ही है।

मतलब यह कि सगुण निर्गुण परस्पर पूरक हैं। सगुण सुलभ है, निर्गुण कठिन है। परतु दूसरी तरहसे सगुण भी कठिन है, व निर्गुण भी सरल है। दोनोके द्वारा एक ही ध्येयकी प्राप्ति होती है। पाचवें अध्यायमें जैसा बताया है, चौबीसो घटे कर्म करके भी लेश-मात्र कर्म न करनेवाला व चौबीसो घटे कुछ भी कर्म न करके सर्व कर्म-कर्त्ता ऐसे योगी व सन्यासी दोनों एक रूप ही है, वैसे ही यहा भी है। सगुण कर्म-दशा व निर्गुण सन्यास-योग दोनो एक-रूप ही हैं। सन्यास श्रेष्ठ है या योग—इसका उत्तर देनेमे जैसे भगवान्‌को कठिनाई पडी वैसे ही दिक्कत यहा भी हुई है। अतमे सुलभता व कठिनताके तारतम्यसे उत्तर देना पडा है। नही तो क्या योग व क्या सन्यास, क्या सगुण व क्या निर्गुण, दोनो एक रूप ही है। अतमे भगवान् कहते है—"अर्जुन, तुम चाहे सगुण रहो या निर्गुण, पर भक्त जरूर रहो। गोल-मटोल पत्थर मत रहो।" यह कहकर अतमे भक्तके लक्षण बताये है। अमृत मधुर होगा, परतु हमें उसकी माधुरी-को चखनेका अवसर नही मिला। किंतु ये लक्षण प्रत्यक्ष मधुर है। इसमे कल्पनाकी जरूरत नही है। इन लक्षणोका हम अनुभव करे। बारहवे अध्यायके ये भक्त-लक्षण, स्थित-प्रज्ञके लक्षणोकी तरह, हमें नित्य सेवन करने चाहिए, मनन करने चाहिए व उन्हे थोडा-थोडा अपने जीवनमे लाकर पुष्टि प्राप्त कर लेनी चाहिए। इस तरह हमे अपना जीवन धीरे-धीरे परमेश्वरकी ओर ले जाना चाहिए।

तेरहवां अध्याय

रविवार, १५–५–३२

(६७)

व्यासदेवने अपने जीवनका सार भगवद्गीतामे डाल दिया है। उन्होंने विस्तार-पूर्वक दूसरा बहुत-कुछ लिखा है। अकेली महाभारत सहिता ही लाख-सवालाखकी है। सस्कृतमें व्यास-शब्दका अर्थ ही 'विस्तार' हो गया है। परतु भगवद्गीतामें उनका झुकाव विस्तार करनेकी ओर नही है। भूमितिमे जिस प्रकार युक्लिडने सिद्धात बता दिये हैं, तत्त्व दिखला दिये हैं, उसी प्रकार जीवनके लिए उपयोगीतत्त्व गीतामे व्यासदेव एकके बाद एक लिख रहे हैं। भगवद्गीतामे न तो विशेष चर्चा ही है, न विस्तार ही। इसका मुख्य कारण यह है कि जो बातें गीतामें कही गई हैं उनको प्रत्येक मनुष्य अपने जीवनमे जाच-पडताल सकता है। बल्कि वे इसलिए कही गई हैं कि लोग उन्हे जांच-पडताल सके। जितनी बातें जीवनके लिए उपयोगी है उतनी ही गीतामे कही गई हैं। उनके कहनेका उद्देश्य भी इतना ही था, इसीलिए उन्होंने थोडेमे तत्त्व बता कर संतोष मान लिया है। उनकी इस सतोष-वृत्तिमे उनका सत्य तथा आत्मानुभव-सबधी महान् विश्वास हमे दिखाई दे जाता है। जो बात सत्य है उसके समर्थनके लिए अधिक युक्ति काममे लानेकी जरूरत नही रहती।

हम जो गीताकी तरफ दृष्टि लगाये रहते हैं उसका मुख्य उद्देश्य यह है कि जीवनमे हमे जब-जब कुछ सहायताकी, सहारेकी आवश्यकता मालूम हो तब-तब वह गीतासे हमे मिलती रहे। और वह हमें सदैव मिलने जैसी भी है। गीता एक जीवनोपयोगी शास्त्र है और इसीलिए उसमे स्वधर्म पर इतना जोर दिया गया है। मनुष्यके जीवनका बडा पाया अगर कोई है तो वह स्वधर्माचरण ही है। उसकी सारी इमारत इस स्वधर्माचरणपर खड़ी करनी है। यह पाया जितना मजबूत होगा उतनी ही ज्यादा इमारत टिक सकेगी। इस स्वधर्माचरणको गीतामे 'कर्म' कहा है। इस स्वधर्मा-

चरण रूप कर्मके आस-पास गीतामे बहुतेरी चीजे खड़ी की गई है। उसकी रक्षाके लिए अनेक विकर्म रचे गये है। स्वधर्माचरणको सजानेके लिए, उसे सुदर बनानेके लिए, उसे सफल करनेके लिए जिन-जिन आधारोकी और मददकी जरूरत है वे सब उसे देना जरूरी है। इसलिए अब तक ऐसी बहुतेरी चीजे हमने देखी। उनमे बहुत-सी भक्तिके रूपमे थी। आज तेरहवे अध्यायमे जो चीज हमे देखनी है वह भी स्वधर्माचरणमे बहुत उपयोगी है। उसका सबध है विचार-पक्षसे।

गीतामे यह बात प्रधान-रूपसे सर्वत्र कही गई है कि स्वधर्माचरणी-को फलका त्याग करना चाहिए। कर्म तो करे पर उसका फल छोड दे। पेडको पानी पिलाओ, उसकी परवरिश करो। परतु उसकी छायाकी, फूल-फलकी अपने लिए अपेक्षा मत रखो। यह स्वधर्माचरणरूप कर्मयोग है। कर्मयोगका अर्थ महज इतना ही नही कि कर्म करते रहो। कर्म तो इस सृष्टिमे सर्वत्र हो ही रहा है। उसे बतानेकी जरूरत नही है। परतु स्वधर्माचरण रूप कर्म—कोरा कर्म नही—भलीभाति करके उसका फल छोड देना, यह बात कहनेमे, समझनेमे बडी सरल मालूम होती है, परतु पालनमे कठिन है। क्योकि किसी कार्यकी प्रेरक शक्ति ही फल-वासना मानी गई है। फल-वासनाको छोडकर कर्म करना उल्टा पथ है। व्यवहार या ससारकी रीतिके विपरीत यह क्रिया है। जो बहुत कर्म करता है उसके जीवनमे गीताका कर्मयोग है ऐसा हम बहुत बार कहते है। बहुत कर्म करनेवालेका जीवन कर्मयोग-मय है ऐसा हम कहते है। परतु इस प्रयोग-मे भाषा-शैथिल्य है। गीताकी व्याख्याके अनुसार वह कर्मयोगी नही है। लाखो कर्म करनेवालोमे, केवल कर्म ही नही बल्कि स्वधर्माचरण-रूप कर्म करनेवाले लाखो लोगोमे भी गीताका कर्मयोग आचरनेवाला बिरला ही मिलेगा। कर्मयोगके सूक्ष्म व सच्चे अर्थमे देखा जाय तो ऐसा सपूर्ण कर्म-योगी शायद ही कही मिले। कर्म तो करना परतु उसके फलको छोड देना बिलकुल असाधारण बात है। अबतक गीतामे यही विश्लेषण, यही पृथक्करण किया गया है।

उस विश्लेषण या पृथक्करणके लिए ही उपयोगी एक दूसरा पृथक्क-रण इस तेरहवे अध्यायमे बताया गया है। 'कर्म करे और उसके फलकी

आसक्ति छोड दे,' इस पृथक्करणका सहायक महान् पृथक्करण है 'देह व आत्मा' का। यही तेरहवे अध्यायमे उपस्थित किया गया है। आखोसे हम जिस रूपको देखते है उसे हम मूर्ति, आकार, देह कहते है। यद्यपि बाह्य मूर्तिका परिचय हमारी आखोको हो गया तो भी वस्तुके अतरगमे हमे प्रवेश करना पडता है। फलका ऊपरी कवच—छिलका तोडकर उसका भीतरी गूदा चखना पडता है। नारियलको भी फोडकर भीतरसे देखना पडता है। कटहलपर काटे लगे रहते है तो भी भीतर बढिया व रसीला गूदा भरा रहता है। हम चाहे अपनी ओर देखे चाहे दूसरोकी ओर, यह भीतर व बाहरका पृथक्करण करना आवश्यक हो जाता है। तो अब छिलका अलग करनेका अर्थ क्या? इसका अर्थ यह कि प्रत्येक वस्तुका भीतरी गूदा व बाहरी रूप इसका पृथक्करण किया जाय। बाह्य देह व भीतरी आत्मा इस तरह प्रत्येक वस्तुका दुहेरा रूप है। कर्ममे भी यही बात है। बाहरी फल कर्मका देह है। और कर्मके बदौलत जो चित्त-शुद्धि होती है वह कर्मका आत्मा है। स्वधर्माचरणका बाहरी फल-रूपी देह छोडकर भीतरी चित्त-शुद्ध-रूपी सारभूत आत्माको हम ग्रहण करे, हृदयमे समा ले। इस प्रकार देखनेकी आदत, देहको हटाकर प्रत्येक वस्तुका सार ग्रहण करनेकी सारग्रही दृष्टि, हमे प्राप्त कर लेनी चाहिए। आखोको, मनको, विचारोको ऐसी तालीम, आदत, अभ्यास करा देना चाहिए। हर बातमे देहको अलग करके आत्माकी पूजा करनी चाहिए। हमारे विचारके लिए यह पृथक्करण तेरहवे अध्यायमे दिया गया है।

(६८)

यह सारग्राही दृष्टि रखनेका विचार बहुत महत्वपूर्ण है। यदि बचपनसे ही हम ऐसी आदत डाल ले तो कितना अच्छा हो! यह विषय हजम कर लेने जैसा, यह दृष्टि अगीकार करने जैसी है। बहुतोको ऐसा लगता है कि अध्यात्म-विद्याका जीवनसे कोई सबंध नही! कुछ लोगोका ऐसा भी मत है कि यदि ऐसा कोई सबध हो भी तो वह न होना चाहिए। देहसे आत्माको अलग समझनेकी शिक्षा बचपनसे ही देनेकी योजना की जा सके तो बडी खुशीकी बात होगी। यह शिक्षण-शास्त्रका विषय है। आज-

कल कुशिक्षणके फल-स्वरूप बडे-बुरे सस्कार बच्चोके मनपर पड रहे है। 'मै केवल देहरूप हू,' इससे बाहर यह शिक्षण हमे लाता ही नही। सब देहके ही चोचले चल रहे है। किंतु इसके बावजूद देहको जो स्वरूप प्राप्त होना चाहिए, जो स्वरूप देना चाहिए, वह तो कही भी दिखाई नही देता। इस तरह देहकी यह वृथा पूजा हो रही है। आत्माके माधुर्यकी ओर ध्यान ही नही है। वर्तमान शिक्षा-पद्धतिसे यह स्थिति बन गई है। इस तरह देहकी मूर्ति-पूजाका अभ्यास दिन-रात कराया जाता है।

बल्कि ठेठ बचपनसे ही हमे इस देह-देवताकी पूजा-अर्चा करना सिखाया जाता है। जरा कही पावमे ठोकर लग गई तो मिट्टी लगानेसे काम चल जाता है। बच्चेका इतने भरसे काम निपट जाता है; या मिट्टी लगानेकी भी उसे जरूरत नही मालूम होती। थोडी-बहुत चोट-खुरचकी तो वह परवा भी नही करेगा। परतु उस बच्चेका जो संरक्षक है, पालक है, उसका काम इतनेसे नही चलता। वह बच्चेको पास बुलाकर पुचकारकर कहेगा—"अच्छा चोट लग गई! कैसे लगी, कहा लगी? अरे, सख्त चोट लगी मालूम होती है! अरे रे, खून निकल आया।" ऐसा कहकर वह बच्चा न रोता हो तो उल्टा उसे रुला देते है। न रोनेवाले बच्चेको रुलानेके इन लक्षणोके लिए अब क्या कहा जाय? उन्हे, कूद-फाद मत करो खेलने मत जाओ, देखो गिर पडोगे, चोट लग जायगी, आदि देह पर ही ध्यान देनेवाला एकागी शिक्षण दिया जाता है।

अच्छा, बच्चेकी यदि तारीफ भी करना है तो वह भी उसके देह पक्षको लेकर ही। उसकी निदा भी देहपक्षको ही लेकर करते है। 'कैसा गदा है रे'—कहते है। इससे बच्चेको कितनी चोट लगती है! कैसा मिथ्या आरोप है, यहा गदगी है यह सही है और उसे साफ करना चाहिए यह भी सही है, लेकिन इस गदगीको अनायास साफ न करके उस बच्चेपर कितना आघात किया जाता है? बच्चा उसे सहन नही कर सकता। वह बड़ा दु खी हो जाता है। उसके अतरगमे, आत्मामे स्वच्छता, निर्मलता भरी है तो भी उसपर गंदे रहनेका यह कितना वृथा आरोप! वास्तवमें वह लड़का गदा नही है; बल्कि जो अत्यत सुदर, मधुर, पवित्र, प्रिय, परमात्मा है वही वह है। उसीका अश उसमे विद्यमान है। परतु उसे कहते है 'गंदा'

उस गंदगीसे उसका लेना-देना क्या है ? बच्चेको इसका पता भी नही चलता। और इसीलिए वह इस आघातको सहन नही कर पाता। उसके चित्तमे क्षोभ होता है और जब क्षोभ उत्पन्न हो जाता है तो फिर सुधार नही हो सकता। अत. उसे अच्छी तरह समझाकर साफ-सुथरा रखना चाहिए।

इसके विपरीत कृति करके हम उस लडकेके मनपर यह अंकित करते है कि वह देह है। शिक्षण-शास्त्रमे यह एक महत्वपूर्ण सिद्धात समझना चाहिए। गुरुको यह भावना रखनी चाहिए कि मैं जिसे पढ़ा रहा हू वह सर्वांग सुदर है। हिसाबमे, सवालमें भूल हो गई तो गालपर चाटा लगाते है। अब उस चाटेसे व सवालके भूलनेसे क्या सबध ? मदरसेमें देरसे आया तो लगाया चाटा। इससे उसके चेहरेपर रक्ताभिसरण तेज होने लगेगा—पर इससे क्या वह जल्दी आयेगा ? खूनकी यह तेजी क्या यह बतला सकेगी कि इस समय कितने बजे है ? बल्कि सच पूछिये तो इस तरह मार-पीट करके हम उस बच्चेकी पशुताको ही बढाते हैं। 'तुम यह देह ही हो' यह भावना पक्की करते हैं। उसका जीवन भयकी भीत पर खडा कर रहे है। सचमुच यदि हमें सुधार करना है तो वह इस तरह जबरदस्ती करके देहासक्ति बढानेसे कभी नही हो सकता। जब मै यह समझ लूगा कि मै देह से भिन्न हू, तभी मेरा सुधार हो सकेगा।

देहमे अथवा मनमे स्थित किसी दोषका ज्ञान होना बुरा नही। इससे उस दोषको दूर करनेमे सहायता मिलती है। परतु हमे यह बात साफतौरसे मालूम रहनी चाहिए कि मै देह नही हू। 'मैं' जो हू सो इस देहसे बिलकुल भिन्न, पृथक्, अत्यत सुदर, उज्ज्वल, त्रुटि-रहित हू। अपने दोषोको दूर करनेके लिए जो आत्म-परीक्षा करता है वह भी तो अपनेको देहसे पृथक् करके ही ऐसा करता है। अत जब कोई उसे उसका दोष दिखाता है तो वह बुरा नहीं मानता, गुस्सा नही होता। बल्कि इस शरीर-रूपी, इस मनोरूपी यत्रमे क्या दोष है, इसका विचार करके दोष दूर करता है। इसके विपरीत जो देहको अपनेसे जुदा नही मानता वह सुधार कर ही नही सकता। यह देह, यह पिंड, यह मिट्टीका पुतला, यही मैं—ऐसा जो मानेगा वह अपना सुधार कैसे करेगा ? सुधार तभी हो सकेगा

जब हम यह मानेंगे कि यह देह एक साधन-रूपमें मुझे मिला है। चरखे में यदि किसीने कोई कमी या दोष दिखाया तो क्या मुझे गुस्सा आता है ? बल्कि कोई कमी होती है तो मैं उसे दूर करता हूं। ऐसी ही बात देहकी समझिये। जैसे खेतीके औजार वैसे ही यह देह समझो। यह देह भगवान् के घरकी खेती करनेका एक औजार ही है। यह औजार यदि खराब हो जाय तो उसे अवश्य बनाना, सुधारना चाहिए। यह देह एक साधन के रूपमें प्रस्तुत है। अत इस देहसे अपनेको अलहदा रखकर दोषोंसे मुक्त होनेका प्रयत्न हमें करना चाहिए। इस देह रूपी साधन से मैं जुदा हूं, मैं स्वामी हूं, मालिक हूं, इस देहसे काम करानेवाला इससे उत्कृष्ट सेवा लेने वाला मैं हूं। बचपनसे ही इस प्रकार देहसे अलग रहनेकी भावना जाग्रत करनी चाहिए।

खेलसे अलग रहनेवाले त्रयस्थ या तटस्थ जैसे खेलके गुण-दोषोंको अच्छी तरह देख सकते हैं उसी तरह हम भी देह-मन-बुद्धिसे अपनेको अलग रखकर ही उनके गुण-दोष परख सकेंगे। कोई-कोई कहते हैं—"इधर जरा मेरी स्मरण-शक्ति कम हो गई है, इसका कोई उपाय बताइए न ?" जब मनुष्य ऐसा कहता है तब वह उस स्मरण-शक्तिसे भिन्न है, यह स्पष्ट हो जाता है। वह कहता है—"मेरी स्मरण-शक्ति खराब हो गई है।" इसका अर्थ यह हुआ कि उसका कोई साधन, कोई औजार बिगड गया है। किसीका लडका खो जाता है, किसीकी पुस्तक खो जाती है पर कोई खुद नही खो जाता। अतमें मरते समय भी उसका देह ही सब तरहसे नष्ट होता है, बेकार हो जाता है, वह खुद तो भीतरसे ज्योका-त्यो रहता है। वह निर्दोष निरोगी रहता है। यह बात समझ लेने जैसी है और यदि समझमें आ जाय तो इससे बहुतेरी झझटो व उलझनोंसे छुटकारा हो जायगा।

(६९)

देह ही 'मै' हू, यह जो भावना सर्वत्र प्रचलित हो गई है, इसके फल-स्वरूप मनुष्यने बिना बिचारे ही देहपुष्टिके लिए नाना प्रकारके साधन निर्माण कर लिये है। उन्हे देखकर बडा भय मालूम होता है।

मनुष्यकी यही धारणा रहती है कि यह देह पुराना हो गया, जीर्ण-क्षीर्ण हो गया तो भी येन-केन प्रकारेण इसे टिका ही रखना चाहिए। परतु आखिर इस देहको, इस ढाचेको आप कब तक टिका रक्खेगे ? मरने तक ही। जब मौतका वारट आ जायगा तो क्षण भर भी देह कायम नही रख सकते। मौतके आगे सारा गर्व ठण्डा हो जाता है। फिर भी इस तुच्छ देहके लिए मनुष्य नाना प्रकारके साधन जुटाता है। दिन-रात इस देहकी चिता करता है। अब कहते है कि देहकी रक्षा के लिए मास खानेमे कोई हर्ज नही है। मानो मनुष्यका देह बडा ही कीमती है जो उसे बचानेके लिए मास खावे। पशुकी देह कीमतमे कम है। सो क्यो ? मनुष्य-देह क्यो कीमती हुआ ? क्या कारण है ?—अरे, पशु चाहे जो खा जाते है, सिवा स्वार्थके उन्हे दूसरा कोई विचार ही नही आता। मनुष्यकी बात ऐसी नही। मनुष्य अपने आस-पास की सृष्टिकी रक्षा करता है। अत. मनुष्य-देहका मोल है, इसलिए वह कीमती है। परतु जिस कारणसे मनुष्यकी देह कीमती साबित हुई उसीको हम मास खाकर नष्ट कर देते है। भले आदमी, तुम्हारा बडप्पन तो इसी बातपर अवलबित है न, कि तुम संयमसे रहते हो, दूसरे जीवोकी रक्षा-भलाईके लिए उद्योग करते हो, अपनी सार सभाल रखनेकी भावना तुममे है ? पशुसे जो यह विशेषता तुममे है उसीसे न मनुष्य श्रेष्ठ कहलाता है, इसीसे मानव-देहको दुर्लभ कहा गया है। परतु जिस आधारपर मनुष्य बडा—श्रेष्ठ हुआ है उसीको यदि वह उखाडने लगा तो फिर उसके बडप्पनकी इमारत टिकेगी कैसे ? साधारण पशु जो अन्य प्राणियोके मास खाकर जीवित रहते है वही क्रिया यदि मनुष्य नि:सकोच करने लगे तो फिर बडप्पनका आधार ही खीच लेने जैसा होगा। यह तो वैसा ही है जैसा कि जिस डालपर मै बैठा हू उसीको काटनेका प्रयत्न करना।

आजकल वैद्यक-शास्त्र नाना प्रकारके चमत्कार दिखा रहा है। पशुको टोचकर उसके शरीरमे, उस जीवित पशुके शरीरमे रोग-जतु उत्पन्न करते हैं व देखते है कि उन रोगोका उसपर क्या-क्या असर हुआ ! सजीव पशुको इस प्रकार महान् कष्ट देकर जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसका उपयोग किया जाता है इस क्षुद्र मानव देहको बचानेके लिए ! और यह सब

चलता है भूत-दया के नामपर। पशुके शरीरमें जतु पैदा करके उसकी लस निकालके मनुष्यके शरीरमे टोचते है ! ऐसे नाना प्रकारके भीषण कृत्य हो रहे हैं। जिस देहके लिए हम यह सब करते है वह तो एक कच्चे काचकी तरह है, जो पलभरमे ही फूट सकता है। वह कब फूटेगा, इसका जरा भी भरोसा नहीं किया जा सकता। यद्यपि मनुष्यके देहकी रक्षाके लिए ये सारे उद्योग हो रहे है फिर भी अतमे अनुभव क्या आता है ? ज्यो-ज्यो इस नाजुक देहको सभालनेका प्रयत्न किया जाता है त्यो-त्यो उसका नाश अधिकाधिक होता जाता है। यह प्रतीति हमे होती रही है, फिर भी इस देहको मोटा-ताजा करनेका, इसकी महिमा बढानेका प्रयत्न जारी ही है।

हमारा ध्यान कभी इस बातकी तरफ नही जाता कि किस प्रकारका आहार करनेसे बुद्धि सात्विक होगी। मनुष्य इस बातको बिलकुल ही नही देख रहा है कि मनको अच्छा बनानेके लिए, बुद्धिको निर्मल रखनेके लिए क्या करना चाहिए, किस वस्तुकी सहायता लेनी चाहिए। वह तो इतना ही देखता है कि शरीरका वजन किस तरह बढेगा। वह इसीकी चिता करता दीखता है कि जमीनपरकी मिट्टी उठकर उसके शरीरपर कैसे चिपक जाय, मिट्टीके वे लौदे उसके शरीरपर कैसे थुप जाय। पर जैसे गोबरका कडा सूखनेपर फिर नीचे गिर पडता है उसी तरह शरीरपर चढाया यह मिट्टीका लेप, यह चरबी, अतको गल जाती है व शरीर फिर अपनी असली स्थितिमे आ जाता है। आखिर इसका मतलब क्या जो हम शरीरपर इतनी मिट्टी चढा लें, इतना वजन बढा लें, कि शरीर उसका बोझ ही न सह सके ? शरीरको इतना अनाप-शनाप मोटा बनाया ही क्यो जाय ? हा, यह शरीर हमारा एक साधन है, अत. उसे ठीक रखनेके लिए जो कुछ आवश्यक है, वह सब मुझे करना चाहिए। यत्रसे काम लेना चाहिए। कोई 'यत्रा-भिमान' जैसा भी कही हो सकता है ? फिर इस शरीर-रूपी यंत्रके सब-धमे भी हम इसी तरह विचार क्यो न करे ?

साराश, यह देह साध्य नही, बल्कि एक साधन है। यदि यह भाव हमारा दृढ हो जाय तो फिर शरीरका जो इतना तूमार बाधा जाता है वह न रहेगा। जीवन हमको और ही तरहसे दीखने लगेगा। फिर इस देहको सजानेमें हमें गौरव अनुभव न होगा । सच पूछिये तो इस देहके

लिए एक सादा कपड़ा हो तो काफी है। पर नही, हम चाहते हैं, वह नरम मुलायम हो। उसका बढ़िया रंग हो, सुंदर छपाई हो, अच्छे किनारी बेल-बूटे हों, कलाबत्तू हो, आदि। उसके लिए हम अनेक लोगोंसे तरह-तरहकी मेहनत कराते हैं। यह सब क्यों? उस भगवान्‌को क्या अक्ल नही थी? यदि इस देहके लिए सुदर बेल-बूटों व नक्काशीकी जरूरत होती तो जैसे शेरके शरीरपर उसने अपनी कारीगरीकी करामात दिखाई है, वैसे क्या तुम्हारे हमारे शरीरपर नही दिखा देता? उसके लिए क्या यह असंभव था? मोरकी तरह सुंदर पूछ हमे भी लगा दे सकता था। परतु ईश्वरने मनुष्यको एक ही रग दिया है। जरा उसमें दाग पड जाता है तो उलटा इसका सौदर्य नष्ट हो जाता है। मनुष्य जैसा है वैसा ही सुदर है। परमेश्वरका यह उद्देश्य ही नही है कि मनुष्य-देहको सजाया जाय। सृष्टिमें क्या सामान्य सौंदर्य है? मनुष्यका काम इतना ही है कि वह अपनी आंखोंसे इसको निहारता रहे। परंतु वह रास्ता भूल गया है। कहते हैं, जर्मनीने हमारे रंगको मार दिया। अरे भाई तुम्हारे मनका रग तो पहले ही मर चुका, बादमें तुम्हें इस बनावटी रगका शौक लगा! उसीकी बदौलत तुम परावलबी हो गये। बिला बजह ही तुम इस शरीर-शृगारके चक्करमे पड़ गये। मनको सिंगारना, बुद्धिका विकास करना, हृदयको सुदर बनाना तो एक तरफ ही रह गया।

(७०)

इसलिए, भगवान्‌ने इस तेरहवे अध्यायमे जो विचार हमे दिया है, वह बड़ा कीमती है। 'तू देह नही, आत्मा है।' "तत् त्वमसि—वह आत्म-रूप तू ही है।" यह बडा उच्च, पवित्र उद्‌गार है, पावन व उदात्त उच्चार है। संस्कृत-साहित्यमें यह बड़ा ही महान् विचार समाविष्ट किया गया है—"यह ऊपरका कवच, छिलका, ढांचा, तू नहीं है। वह असल अविनाशी फल—गूदा—तू है।" जिस क्षण मनुष्य के हृदयमें यह विचार स्फुरित होगा कि 'सो तू है' 'यह देह मैं नहीं, वह परमात्मा मैं हूं' यह भाव मनमे जम जायगा, उसी क्षण उसके मनमे एक अननुभूत आनंद लहराने लगेगा। मेरे उस रूपको मिटानेका—नष्ट कर डालनेका

सामर्थ्य संसारकी किसी वस्तुमें नहीं। किसीमें भी ऐसी शक्ति नहीं है। यह सूक्ष्म विचार इस उद्‌गारमें समाया हुआ है।

इस देहसे परे अविनाशी व निष्कलंक जो आत्म-तत्त्व है सो मैं हूं। उस आत्मतत्त्वके लिए मुझे यह शरीर मिला हुआ है। जब-जब उस परमेश्वरी तत्त्वके दूषित हो जानेकी सभावना होगी तब-तब मैं उसको बचानेके लिए इस देहको फेंक दूंगा। परमेश्वरी तत्त्वको उज्ज्वल रखनेके लिए यह देह होमनेको मैं सदा तैयार रहूंगा। मैं जो इस देहपर सवार होकर आया हूं सो क्या इसलिए कि अपनी फजीहत कराऊं? देहपर मेरी सत्ता चलनी चाहिए। मैं इस देहका इस्तेमाल करूंगा व उसके द्वारा हित-मगलकी वृद्धि करूंगा। 'भरूंगा आनंद त्रिलोकमें'। इस देहको मैं महान् तत्त्वोंके लिए फेंक दूंगा व ईश्वरका जय-जयकार करूंगा। रईस आदमी एक कपड़ेके मैले होते ही उसे फेंक देता है व दूसरा पहन लेता है, वैसे ही मैं भी करूंगा। कामके लिए इस देहकी जरूरत है। जिस समय यह देह कामके लायक न रह जायगा उस समय उसे फेंक देनेमें मुझे क्या पसोपेश हो सकता है?

सत्याग्रहके द्वारा हमें यही शिक्षण मिलता है। देह व आत्मा ये अलग-अलग चीजें हैं। जिस दिन मनुष्य इस मर्मको समझ जायगा, उसी दिन उसके सच्चे शिक्षणकी, वास्तविक विकासकी शुरूआत होगी। उसी समय हमें सत्याग्रह सधेगा। अतः यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक इस भावनाको अपने हृदयमे अकित कर ले। देह तो निमित्त-मात्र—साधन है, परमेश्वरका दिया एक औजार है। जिस दिन उसकी जरूरत खतम हो जायगी उसी दिन इसे फेंक देना है। सर्दीके गरम कपड़े हम गर्मियोमें फेंक देते हैं, रातको ओढे हुए वस्त्र सुबह उतार देते हैं, सुबहके कपडे दोपहरको छोड देते हैं, उसी तरह इस देहको समझो। जबतक देहका काम है तबतक उसे रक्खेगे, जिस दिन इससे काम न मिलेगा उसी दिन यह देहरूपी कपड़ा फेंक देंगे। आत्माके विकासके लिए भगवान् यह युक्ति हमे बता रहे हैं।

(७१)

जबतक हम यह न समझ लेंगे कि देहसे मैं अलग हूं तबतक जालिम

लोग हम पर जरूर जुल्म ढहाते रहेंगे; हमें बंदा—गुलाम बनाते रहेंगे, हमको न जाने क्या-क्या त्रास देते रहेंगे। जुल्म भयके कारण ही शक्य हो सकता है। एक राक्षसने एक आदमीको पकड़ लिया था। वह उससे बराबर काम लेता रहता था। जब कभी वह काम नही करता तो राक्षस कहता—"खाजाऊंगा, तुझे खतम कर दूंगा।" शुरूमें तो वह मनुष्य डरता रहता। परतु जब वह धमकी असह्य हो गई तो उसने कहा—'ले खा डाल, खाना हो तो खा जा।' राक्षस उसे खा जानेवाला थोडे ही था। उसे तो एक बन्दा—गुलाम चाहिए था। खा जानेपर उसका काम कौन करता? वह तो सिर्फ उसे खा जानेकी धमकी दिया करता था। परंतु ज्योंही यह जवाब मिला कि 'ले खा जा' तो उसका जुल्म बद हो गया। जालिम लोग यह जानते है कि ये लोग देहसे चिपके रहने वाले है। इनके देहको जहा कष्ट पहुचा नही कि ये गुलाम होकर दब कर बैठ जायंगे। परतु जहा आपने देहकी असक्ति छोड दी कि तुरन्त सम्राट हो जायंगे, स्वतत्र हो जायँगे। सारा सामर्थ्य आपके हाथमें आ जायगा। कोई भी आप पर हुक्म नही चला सकता। फिर जुल्म करनेका आधार ही टूट जाता है। उसकी बुनियाद ही इस भावनापर है कि 'देह मै हूं।' वे समझते है कि इनके देहको सताया नही कि ये बस में हुए नही, इसीलिए वे धमकीकी भाषा बोलते है।

'मै देह हूं'—इस भावनाके कारण ही दूसरोंको हमपर जुल्म करनेकी, सतानेकी इच्छा होती है। परंतु इग्लैंडके हुतात्मा—बलिवीर क्रेन्मर—ने क्या कहा था—'मुझे जलाते हो। अच्छा जला डालो, लो पहले यह दाहिना हाथ जलाओ।' इसी तरह रिड्ले व लैटिमरने क्या कहा था—'हमें जलाना चाहते हो? हमें कौन जला सकता है? हम तो धर्मकी ऐसी ज्योति जला रहे हैं कि उसे कोई बुझा नहीं सकता। शरीर-रूपी इस मोमबत्तीको, इस चरबीको, जलाकर सत्तत्वोंकी ज्योति जगमगाना तो हमारा काम ही है। देह मिट जायगा, वह तो मिटने ही वाला है।' सुकरातको जहर देकर मारनेकी सजा दी गई। तब उसने कहा—"मैं अब बूढ़ा हो गया हूं। चार दिनके बाद देह छूटनेही वाला था। जो मरने ही वाला था उसे मारकर आप लोग कौनसी बहादुरी कर रहे हो?

जरा सोचिए तो कि यह शरीर एक दिन अवश्य मरनेवाला है। जो मर्त्य है उसे मारनेमे कौनसी तारीफ है ?" जिस दिन सुकरातको जहर दिया जानेवाला था उसके पहली रात वह शिष्योको आत्माके अमरत्वकी शिक्षा दे रहा था। शरीरमे विषका प्रवेश होनेपर उसे क्या-क्या वेदनाए होगी, इसका वर्णन वह मौजसे कर रहा था। उसे कुछ भी फिक्र नही मालूम होती थी। आत्माकी अमरता-सबधी यह चर्चा खतम होनेपर उसके एक शिष्यने पूछा—'मरने पर आपकी अत्येष्टि क्रिया कैसे की जाय ?' उसने जवाब दिया—"खूब, मारेगे तो वे व गाडोगे तुम। तो क्या वे मारने वाले मेरे दुश्मन, और तुम गाड़नेवाले मुझे बहुत चाहनेवाले हो ? वे अक्लमदीसे मुझे मारेगे, व तुम समझदारीसे मुझे गाडोगे ? तुम कौन हो मुझे गाडनेवाले ? मै तुम सबको गाडकर रहनेवाला हू। तुम किसमें मुझे गाडोगे ? मिट्टीमे या घासमे ? मुझे न कोई मार सकता है न कोई गाड ही सकता है। अब तक मैंने क्या समझाया तुम लोगोंको ? आत्मा अमर है, उसे कौन तो मार सकता है व कौन गाड़ सकता है ?" और सचमुच आज दो-ढाई हजार वर्षोंसे वह महान् सुकरात सबको गाड़कर बचा है !

(७२)

साराश जबतक देहकी आसक्ति है, भय है, तब तक वास्तविक रक्षा नहीं हो सकती। तबतक एकसा डर लगता रहेगा। जरा नीद लगी नहीं कि यह खटका रहेगा, कही साप तो आकर न काट खाय, चोर तो आकर घात न कर जाय। मनुष्य सिरहाने डडा लेकर सोता है। क्यो ? तो कहता है—'साथ रखना अच्छा है, कही चोर-वोर आ जाय तो।' अरे भले आदमी ! कही चोर वही डडा उठाकर तुम्हारे सिर पर मार दे तो ? चोर यदि डडा लाना भूल गया हो तो तुम उसके लिए पहले ही से तैयार कर रखते हो। तुम किसके भरोसे पर सोते हो ? उस समय तो तुम दुनियाके हाथमे रहते हो। तुम जग रहे होगे तो ही बचाव करोगे न ? नीदमे तुम्हारी रक्षा कौन करेगा ?

मै किसी-न-किसी शक्तिपर विश्वास रखके सोता हू। जिस शक्ति पर भरोसा रखके शेर, गाय, आदि जानवर सोते है उसीके भरोसे मैं

भी सोता हूं। शेरको भी तो नींद आती है। सिंह भी, जो सारी दुनियासे बैर होनेके कारण हर घडी पीछे देखता है, वह भी सोता ही है। उस शक्तिपर यदि विश्वास न हो तो कुछ सिंह सोते व कुछ जगकर पहरा देते—ऐसी व्यवस्था उन्हे करनी पड़ती। जिस शक्ति पर विश्वास रखके शेर, बघेरे, सिंह आदि क्रूर जीव भी सोते है उसी विश्व-व्यापक शक्तिकी गोदमे मैं भी सो रहा हूं। मांकी गोदमें बच्चा बेफिक्रीसे सोता है। वह मानो उस समय दुनियाका बादशाह ही होता है। हमें चाहिए कि हम भी उसी विश्वंभर माताकी गोदमें इसी तरह प्रेम, विश्वास व ज्ञान-पूर्वक सोनेका अभ्यास करे। जिस शक्तिके आधार पर मेरा यह सारा जीवन चल रहा है उसका मुझे अधिकाधिक परिचय कर लेना चाहिए। वह शक्ति मुझे उत्तरोत्तर प्रतीत होनी चाहिए। इस शक्तिमें मुझे जितना विश्वास पैदा होगा उतना ही अधिक मेरा रक्षण हो सकेगा। जैसे-जैसे मुझे इस शक्तिका अनुभव होता जायगा वैसे-ही-वैसे मेरा विकास होता जायगा। इस तेरहवे अध्यायमे इसका किंचित् क्रम भी दिग्दर्शित किया गया है।

(७३)

जब तक देहस्थित आत्माका विचार मनमे नही आता है, तबतक मनुष्य साधारण क्रियाओमे ही तल्लीन रहता है। भूख लगे तो खा लिया, प्यास मालूम हुई तो पानी पी लिया, नीद आई तो सो गये, इससे अधिक वह कुछ नही जानता। इन्ही बातो के लिए वह लडेगा; इन्हीकी प्राप्ति-का लोभ मनमे रखेगा। इस तरह इन दैहिक क्रियाओमें ही वह मग्न रहता है। विकासका आरभ तो इसके बादसे होता है। इस समय तक आत्मा सिर्फ देखता रहता है। मा जिस तरह कुएकी ओर रेंगते जाने वाले बच्चेके पीछे सतत सतर्क खडी रहती है उसी प्रकार आत्मा हम पर निगाह रखे खड़ा रहता है। शातिके साथ वह सब क्रियाओको देखता है। इस स्थितिको 'उपद्रष्टा'—साक्षी-रूपसे सब देखनेवाला कहा है।

इस अवस्थामे आत्मा देखता है, परंतु अभी वह सम्मति, स्वीकृति नही देता है। परंतु यह जीव जो अबतक अपनेको देह-रूप समझकर

सब क्रिया, सब व्यवहार करता है वह आगे चलकर जागता है। उसे भान होता है कि अरे, मै पशुकी तरह जीवन बिता रहा हूं। जीव जब इस तरह विचार करने लगता है, तब उसकी नैतिक भूमिका शुरू होती है। तब कदम-कदम पर वह उचित-अनुचितका विचार करता है। विवेकसे काम लेने लगता है। उसकी विश्लेषण-बुद्धि जाग्रत होती है। स्वैर क्रियाए रुकती है। स्वच्छदताकी जगह सयम आता है। जब जीव इस नैतिक भूमिकामे आता है तब आत्मा केवल स्वस्थ रहकर नही देखता, यह भीतरसे अनुमोदन देता है—'शाबाश', 'खूब' ऐसी आवाज अदरसे आती है। अब वह केवल उपद्रष्टा न रहा, 'अनुमन्ता' हो गया।

कोई भूखा अतिथि दरवाजे आ जाय व आप अपनी परोसी थाली उसे दे दे, व फिर रातको अपनी इस सत्कृतिका स्मरण हो, तो देखिए मनको कितना आनद होता है। भीतरसे आत्माकी हलकी गुजार कानोंमें होती है—'अच्छा काम किया।' मा जब बच्चेकी पीठ पर हाथ फिरा कर कहती है 'अच्छा किया बेटा' तो उसे ऐसा मालूम होता है मानो सारी दुनियाकी बख्शीश मुझे मिल गई। उसी तरह हमारे हृदयस्थ परमात्माके 'शाबाश बेटा' ये शब्द हमे प्रोत्साहन देते है। ऐसे समय जीव भोगमय जीवनको छोडकर नैतिक जीवनकी भूमिकामे स्थित होता है।

इसके बादकी भूमिका यह है—नैतिक जीवनमे मनुष्य कर्तव्य-कर्मके द्वारा अपने मनके तमाम मलोको धोनेका यत्न करता है। परंतु एक समय ऐसा आता है जब मनुष्य ऐसा काम करते-करते थकने लगता है। तब जीव ऐसी प्रार्थना करने लगता है—'हे भगवन्, मेरे उद्योगोकी, मेरी शक्तिकी अब हद आ गई, मुझे अधिक बल दे। जबतक मनुष्यको यह अनुभव नही होता कि उसके तमाम प्रयत्नोके बावजूद वह अकेला कामयाब नही हो सकता तबतक प्रार्थनाका रहस्य उसकी समझमें नही आ सकता। अपनी सारी शक्ति लगाकर जब वह काफी नही मालूम होती तब आर्त्तभावसे द्रौपदीकी तरह परमात्माको पुकारना चाहिए। परमेश्वरी कृपा व सहायताका स्रोत तो सतत बहता ही रहता है। जिस किसीको प्यास लग रही हो वह अपना हक समझकर उसमें से पानी पी सकता है। जिसे कमी पड़ती है वह मांग ले। इस तरहका संबंध

इस भीतरी भूमिकामें होता है। परमात्मा अधिक नजदीक आता है। अब वह केवल शाब्दिक शाबाशी न देते हुए सहायता करनेके लिए आता है।

पहले परमेश्वर दूर खड़ा था। गुरु जिस तरह शिष्यसे यह कहकर कि 'सवाल हल करो' दूर खड़ा रहता है, उसी तरह जबतक जीव भोगमय जीवन में लिप्त रहता है, तब परमात्मा दूर खड़ा रहता है, वह कहता है—"ठीक है, चलने दो तुम्हारे कबाड़े।" फिर जीव नैतिक भूमिकामें आता है। तब परमात्मा कोरा तटस्थ नही रह सकता। जीवके हाथसे सत्कर्म हो रहा है, ऐसा देखते ही भगवान् धीरेसे झाकता है और कहता है—'शाबाश', इस तरह सत्कर्म होते-होते जब चित्तके स्थूल मल धुल जाते है और सूक्ष्म मल धुलनेका समय आता है और जब उसके सारे प्रयत्न थकने लगते हैं तब वह परमात्माको पुकारता है और वह 'आया' कह कर दौड़ आता है। भक्तका उत्साह कम पड़ते ही वह वहा आ खड़ा हो जाता है। जगका सेवक सूर्यनारायण आपके दरवाजेपर सदैव खड़ा ही है। सूर्य बद दरवाजेको तोड़कर भीतर नही घुसेगा, क्योंकि वह सेवक है। वह स्वामीकी मर्यादा पालता है। वह दरवाजेपर धक्का नही देगा। भीतर मालिक सोया हुआ हो तो भी वह सूर्य-रूपी सेवक दरवाजेके बाहर रहता है। जरा दरवाजा खोलिए कि वह सारा-का-सारा प्रकाश लेकर अदर घुस आता है और अधेरा दूर कर देता है। परमात्माकी स्थिति भी ऐसी ही समझो। उससे मदद मागिए तो वह बाहु फैलाकर आया ही समझो। भीमाके किनारे (पढरपुर) कमर पर हाथ रखकर वह तैयार ही खड़ा है।

उठाके लो भुजा, कहे प्रभु आजा॥

ऐसा वर्णन तुकाराम आदिने किया है। नाक खोलो कि हवा भीतर आई ही। दरवाजा खोलो कि प्रकाश भीतर आया ही। हवा और प्रकाश-के दृष्टात भी मुझे ना-काफी मालूम होते हैं। उनकी अपेक्षा भी परमात्मा अधिक सन्निध, अधिक उत्सुक है। वह उपद्रष्टा, अनुमन्ता न रहते हुए 'भर्ता' सब तरह सहायक होता है। मनकी मलिनता मिटानेके लिए

अगतिक होकर जब हम पुकारते हैं—'मारी नाड़ तमारे हाथे प्रभु संभाळ जो रे।' हम प्रार्थना करते हैं—'तू ही एक मेरा मददगार है, तेरा आसरा मुझको दरकार है।' तब फिर यह दयाघन कैसे दूर रहेगा ? भक्तकी सहायता करनेवाला वह भगवान्, अधूरेको पूरा करनेवाला वह प्रभु, दौड़ पड़ता है। तब रैदासके चमड़े धोता है, सजन कसाईका मास बेचता है, कबीरकी चादर बुनता है, व जनाबाईके साथ चक्की पीसता है।

इसके बादकी सीढ़ी है परमेश्वरके कृपाप्रसादसे कर्मका जो फल मिला उसे भी खुद न लेकर उसीके अर्पण कर देना। इस भूमिकामें जीव परमेश्वरसे कहता है—'अपना फल आप ही भोगो।' नामदेव धरना देकर बैठ गया कि 'प्रभु, दूध पीना ही पड़ेगा; ' कितना मधुर प्रसंग हैं। वह सारा कर्मफल-रूपी दूध नामदेव भगवान्के अर्पण कर रहा है। इस तरह जीवनकी सारी पूंजी, सारी कमाई, जिस परमात्माकी कृपासे प्राप्त हुई उसीको वह अर्पण कर देता है। धर्मराज ज्योही स्वर्गमें कदम रखनेवाले थे कि उनके साथ के कुत्तेको आगे नही जाने दिया गया। तब उन्होने अपने सारे जीवनका पुण्य-फल—स्वर्ग एक क्षणमें छोड़ दिया। इसी तरह भक्त भी सारा फल-लाभ परमात्माके अर्पण कर देता है। उपद्रष्टा, अनुमता, भर्त्ता—इन स्वरूपोमे प्रतीत होनेवाला परमात्मा अब भोक्ता हो जाता है। अब जीव उस भूमिकामे आ जाता है जब परमात्मा ही, शरीरमे भोगोको भोगता है।

इसके बाद अब संकल्प ही करना छोड देना है। कर्ममे तीन सीढियां आती है। पहले हम सकल्प करते हैं, फिर कार्य करते हैं और बादको फल आता है। कर्मके लिए प्रभुकी सहायता लेकर जो फल मिला, वह भी उसीके अर्पण कर दिया। कर्म करनेवाला परमेश्वर, फल चखनेवाला भी परमेश्वर ! अब उस कर्मका सकल्प करनेवाला भी परमेश्वर हो जाने दो। इस प्रकार कर्मके आदि, मध्य और अंतमे सर्वत्र प्रभु ही हो जाने दो। ज्ञानदेवने कहा है—

माली जिधर ले गया। उधर चुपचाप गया ॥
यों पानी जैसा भैय्या। होओ सदा ॥

माली पानीको जिधर ले जाना चाहता है उधर ही वह बिना चूं-चपड़ किये चला जाता है। माली जिन फूल और फलके पौधोंको चाहता है उन्हें वह पानी पोसता और बढाता है, इसी तरह मेरे हाथों जो कुछ होना हैं वह उसीको तय करने दो। मेरे चित्तके सब सकल्पोंकी जिम्मेदारी मुझे उसीपर सौपने दो। यदि मैंने अपना सारा बोझ घोड़ेपर डाल ही दिया है, तो बाकी बोझा मैं अपने ही सिरपर क्यों लाद कर बैठूं ? वह भी घोड़े की पीठ पर ही क्यों न लाद दू ? अपने सिरपर बोझ रखकर भी यदि मैं घोड़ेपर बैठूगा तो भी बोझ घोडेपर ही पड़ेगा, फिर सारा ही बोझा उसकी पीठपर क्यो न लाद दू ? इस तरह जीवनकी तमाम हलचलें, उठा-पटक, फलना-फलाना सब वह परमात्मा ही अतमें हो जाता है। मेरे जीवनका वह 'महेश्वर' ही हो जाता है। इस तरह विकास होते-होते सारा जीवन ही परमेश्वर मय हो जाता है, सिर्फ देहका पर्दा ही बाकी बच रहता है। वह जब हट जाता है तो जीव और शिव, आत्मा और परमात्मा एक ही हो जाता है।

इस प्रकार—

"उपद्रष्टानुमंता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।

इस स्वरूपमे हमें परमात्माका उत्तरोत्तर अधिक अनुभव करना है। प्रभु पहले तटस्थ रह कर देखता है। फिर नैतिक जीवनका आरभ होने पर हमसे सत्कर्म होने लगते है तब हमे शाबाशी देता है। फिर चित्तके सूक्ष्म मल धो डालनेके लिए, अपने प्रयत्नोको अपर्याप्त देखकर भक्त जब पुकारता है तो वह अनाथ-नाथ सहायताके लिए दौड पड़ता है। उसके बाद फलको भी भगवान्‌के अर्पण करके उसे भोक्ना बना देना और अंतमें तमाम सकल्प उसीके अर्पण करके सारा जीवन हरिमय कर देना है। यही मानवका अतिम साध्य है। कर्मयोग व भक्ति-योग रूपी दोनों पखोसे उड़ते हुए साधकको इस अतिम मंजिल तक जा पहुंचना है।

(७४)

इस सबको साधनेके लिए नैतिक साधनाकी मजबूत बुनियाद आवश्यक है। सत्य-असत्यका विवेक करके सत्यको ही सदा ग्रहण करना चाहिए।

सार-असारका विचार करके सार ही लेना चाहिए। सीपको छोड़कर मोती ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार जीवनकी शुरूआत करना है। फिर अपने प्रयत्न व परमेश्वरी कृपाके बलपर ऊपर चढ़ते जाना है। इस सारी साधनामे यदि हमने देहसे आत्माको अलग करनेका अभ्यास डाल लिया होगा तो हमे बड़ी मदद मिलेगी। ऐसे समय मुझे हजरत ईसाका बलिदान याद आ जाता है। उन्हे कीले ठोंक-ठोककर मार रहे थे। कहते हैं कि उस समय उनके मुहसे ये उद्गार निकले—'भगवन्' इतनी यातनाए क्यो देते हैं।' किंतु फौरन भगवान् ईसाने अपने मनका तोल सभाला व कहा—"अच्छा जो तेरी मर्जी, तेरी ही इच्छा पूर्ण होने दे। इन लोगोंको क्षमाकर—ये नही जानते कि ये क्या कर रहे हैं।" हजरत ईसाके इस उदाहरणमे बड़ा रहस्य भरा हुआ है। देहसे आत्माको कितना अलग करना चाहिए, इसका यह चिह्न है। कहातक मजिल तय करना चाहिए, कहातक तय की जा सकती है, यह ईसा-मसीहके जीवनसे मालूम हो जाता है। देह एक कवच, एक छिलकेकी तरह अलग हो रहा हैं—यहातक मजिल आ पहुची है। जब-जब आत्माको देहसे अलग करनेका विचार मेरे मनमें आता है, तब-तब ईसा-मसीहका यह जीवन, यह दृश्य मेरी आखोके सामने आ जाता है। देहसे अपनी साफ पृथक्ता-का, उसका सबध टूटने जैसा हो जानेका—नमूना ईसा-मसीहका जीवन है।

देह व आत्माका यह पृथक्करण तबतक शक्य नही है जबतक सत्य-असत्यका विवेक न किया जाय। यह विवेक, यह ज्ञान हमारी रग-रगमें व्याप्त हो जानना चाहिए। ज्ञानका अर्थ हम करते हैं 'जानना', परतु बुद्धिसे जानना ज्ञान नही है। मुहमे कौर डाल लेना, भोजन कर लेना नही है। मुहका कौर चबाकर गलेमें जाना चाहिए व वहासे पेटमे जाकर पचन होकर उसका रस-रक्त सारे शरीरमे पहुच कर पुष्टि मिलनी चाहिए। तभी वह सच्चा भोजन होगा। उसी तरह कोरे बुद्धि-गत ज्ञानसे काम नही चल सकता। वह जानकारी, वह ज्ञान, सारे जीवनमें व्याप्त होना चाहिए, हृदयमें संचारित होना चाहिए। हमारे हाथ-पांव, आख आदि इंद्रियोंके द्वारा वह ज्ञान प्रकट होना चाहिए। ऐसी स्थिति हो जानी

चाहिए कि सारी ज्ञानेन्द्रियां व कर्मेन्द्रिया विचार-पूर्वक ही सब कर्म कर रही है। इसलिए इस तेरहवे अध्यायमें भगवान्ने ज्ञानकी बहुत बढ़िया व्याख्या की है। स्थित-प्रज्ञके लक्षणकी तरह ही ज्ञानके ये लक्षण हैं।

'नम्रता, दम्भशून्यत्व, अहिंसा, ऋजुता, क्षमा'

आदि बीस गुण भगवान्ने बताये है। वे केवल यह कहकर नही रुके कि इन गुणोको ज्ञान कहते हैं, बल्कि यह भी साफ तौर पर बताया है कि इसके विपरीत जो कुछ है वह अज्ञान है। ज्ञानकी जो साधना बताई उसीका अर्थ है ज्ञान। सुकरात कहता है कि सद्गुणको ही मैं ज्ञान मानता हूं। साधना व साध्य दोनो एक-रूप ही हैं।

गीताके इन बीस साधनोको ज्ञानदेवने अठारह ही कर दिये है। उन्होने इनका वर्णन बड़ी हार्दिकतासे किया है। इन गुणोंसे सबध रखने-वाले केवल पाच ही श्लोक भगवद्गीतामें हैं। परतु ज्ञानदेवने अपनी ज्ञानेश्वरीमे इनपर सातसौ ओविया (एक छद) लिखी है। वे इस बातके लिए बहुत उत्सुक थे कि समाजमे सद्गुणोका विकास हो, सत्य-स्वरूप परमेश्वरकी महिमा फैले। इन गुणोका वर्णन करते हुए उन्होने अपना सारा अनुभव उन ओवियोमे उडेल दिया है। मराठी भाषाके पाठकोपर उनका यह अनंत उपकार है। ज्ञानदेवके रोम-रोममें ये गुण व्याप्त थे। भैंसेको जो चाबुक लगाया गया उसका निशान ज्ञानदेवकी पीठ पर उठ आया। भूत-मात्रके प्रति इतनी समवेदना उनमे थी। ज्ञानदेवके ऐसे करुणापूर्ण हृदयसे ज्ञानेश्वरी प्रकट हुई है। इन गुणोंका उन्होने विवेचन किया। उन्होंने जो गुण-वर्णन किया है वह पढ़ने योग्य है, मनन करने व हृदयमें अंकित कर लेने योग्य है। ज्ञानदेवकी यह मधुर भाषा मैं चख सका— इसके लिए मैं अपनेको धन्य मानता हूं। उनकी मधुर भाषा मेरे मुहमें आकर बैठ जाय, इसके लिए यदि मुझे फिरसे जन्म लेना पड़े तो मैं धन्यता ही अनुभव करूगा। अस्तु। सार यह कि —

उत्तरोत्तर अपना विकास करते हुए आत्मासे देहको पृथक समझते हुए सब लोग अपने जीवनको परमेश्वर-मय बनानेका यत्न करे।

चौदहवां अध्याय

रविवार, २२-५-३२

(७५)

भाइयो, आजका चौदहवा अध्याय एक अर्थमे पिछले अध्यायका पूरक ही है। सच पूछो तो आत्माको कुछ करनेकी आवश्यकता नही है। वह स्वयपूर्ण है। अपनी आत्माकी गति स्वभावत. ही ऊर्ध्वगामी है; परतु जैसे किसी वस्तुके साथ कोई भारी वजन बाध दिया जाता है तो जैसे वह नीचे खिचती चली जाती है, उसी तरह शरीरका यह बोझ आत्माको नीचे खीच ले जाता है। पिछले अध्यायमे हमने यह देखा कि किसी भी उपायसे यदि देह और आत्माको हम पृथक् कर सकें तो हमारी प्रगति हो सकती है। यह बात भले ही कठिन हो, पर इसका फल भी महान् निकलेगा। आत्माके पांवकी यह देह-रूपी बेडी यदि हम काट सके तो हम बड़े आनदका अनुभव करेगे। फिर मनुष्य देहके दु खसे दु.खी न होगा। वह स्वतत्र हो जायगा। यदि इस एक देह-रूपी वस्तुको मनुष्य जीत ले तो फिर ससारमे कौन उसपर सत्ता चला सकता है ? जो अपनेपर राज्य करता है वह विश्वका सम्राट् हो जाता है। अत देहकी जो सत्ता आत्मा पर हो गई है उसे हटा दो। देहके ये जो सुख-दु ख है सब विदेशी हैं, विजातीय है। आत्मासे उनका तिल-मात्र भी संबध नही है।

इन सुख-दु.खोको किस अंश तक देहसे अलग किया जाय, इसकी कल्पना मैंने भगवान् ईसाके उदाहरण द्वारा बताई है। उन्होने दिखा दिया है कि देहके टूट पडते हुए भी किस तरह मनको शात और आनदमय रखा जा सकता है। परंतु इस तरह देहको आत्मासे अलग रखना जहां एक ओर विवेकका काम है तहां दूसरी ओर निग्रहका भी काम है।

"विवेकके साथ वैराग्यका बल।"

ऐसा तुकारामने कहा है। विवेक और वैराग्य दोनोंकी जरूरत है।

वैराग्य ही एक प्रकारका निग्रह, तितिक्षा है । इस चौदहवें अध्यायमें निग्रह की दिशा बताई गई है। नावको खेनेका काम तो बल्लिया करती है, परंतु दिशा दिखानेका काम पतवार करता है । बल्लिया और पतवार दोनों चाहिएं। उसी तरह देहके सुख-दु:खोसे आत्माको अलग रखनेके लिए विवेक और निग्रह दोनोकी आवश्यकता है ।

वैद्य जिस तरह मनुष्यकी प्रकृतिको देखकर दवा बताता है उसी तरह भगवान्ने चौदहवें अध्यायमें तमाम प्रकृतिकी परीक्षा करके, पृथक्करण करके, कौन-कौन-सी बीमारिया हैं, सो बताया है । इसमें प्रकृतिके ठीक-ठीक विभाग किये गये हैं। राजनीति-शास्त्रमें विभाजन एक बड़ा सूत्र है । जो शत्रु सामने है उसके दलमे यदि विभाजन, भेद किये जा सकें तो वह जल्दी पराजित किया जा सकता है । भगवान्ने यहां ऐसा ही किया है ।

मेरी, आपकी, सब जीवोकी, सारे चराचरकी जो प्रकृति है उसमें तीन गुण हैं । जिस तरह आयुर्वेदमे कफ, पित्त, वात है, उसी तरह यहां सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण प्रकृतिमें मौजूद हैं। सब जगह इन्ही तीन गुणोका मसाला भरा हुआ है । कही कम है तो कही ज्यादा । इतना ही फर्क है । जब इन तीनोसे आत्माको अलग करेंगे तभी देहसे आत्माको अलग किया जा सकेगा । देहसे आत्माको अलहदा करनेका तरीका ही है इन तीन गुणोकी परीक्षा करके उन्हे जीत लेना । निग्रहके द्वारा एक-एक वस्तुको जीतकर अंतको मुख्य वस्तुतक जा पहुंचना है ।

(७६)

पहले हम तमोगुणको लें। वर्तमान समाज-स्थितिमे हमें तमोगुणके बहुत ही भयानक परिणाम दिखाई देते हैं। इसका मुख्य परिणाम है आलस्य । इसीसे फिर नींद व प्रमादका जन्म होता है । इन तीन बातोंको जीत लिया तो फिर तमोगुणको जीत लिया ही समझो । इनमें आलस्य बड़ा ही भयंकर है। अच्छे-से-अच्छे आदमी भी इस आलस्यसे बेकार हो जाते हैं। समाजकी सारी सुख-शांतिको मिटा डालने वाला यह रिपु है । यह छोटेसे बड़े तक सबको बिगाड़ देता है। इस शत्रुने सबको

ग्रसित कर रखा है। वह हमपर हावी होनेके लिए घात लगाकर बैठा ही रहता है। जरा-सा मौका मिला कि भीतर घुसा ही। जरा खाना ज्यादा खाया कि उसने लेटनेपर मजबूर किया। जहा जरा ज्यादा लेटे कि मानो आखोंसे आलस टपकता है; जबतक इसे न पछाड़ा तबतक सब प्रयत्न व्यर्थ हैं। मगर हम तो आलस्यके लिए उत्सुक रहते हैं। इच्छा रहती है कि एक बार दिन-रात मेहनत करके रुपया इकट्ठा करलें तो फिर जिंदगी चैनसे कटेगी। बहुत रुपये कमानेका अर्थ है आगेके लिए आलस्यकी तैयारी कर रखना। हम लोग आमतौरपर मानते हैं कि बुढ़ापेमें आरामकी जरूरत रहती है। परंतु यह धारणा गलत है। यदि हम जीवनमें ठीक तरहसे रहे तो बुढ़ापेमे भी काम करते रहेंगे। बल्कि अधिक अनुभवी होजानेसे बुढ़ापेमें ज्यादा उपयोगी साबित होंगे। और उसी समय, कहते हैं, आराम करेंगे।

ऐसी सावधानी रखनी चाहिए कि जिससे आलस्यको बिल्कुल ही मौका न मिले। नल राजा इतना महान्, परतु पाव धोते हुए जरा-सा हिस्सा कोरा रह गया तो कहते हैं उसीमेंसे कलि भीतर पैठ गया! नल राजा तो था अत्यन्त शुद्ध, सब तरहसे स्वच्छ, परन्तु जरा-सा शरीर सूखा रह गया, इतना आलस्य रह गया तो फौरन 'कलि' भीतर घुस गया। हमारा तो सारा-का-सारा ही शरीर खुला पडा है। कहीसे भी आलस्य हमारे अदर घुस सकता है। शरीर अलसाया कि मन-बुद्धि भी अलसा जाते हैं। आजके समाजकी रचना इस आलस्य पर ही खड़ी है। इससे अनत दु:ख उत्पन्न हो गये हैं। यदि हम इस आलस्यको निकाल सकें तो सब नही तो बहुतेरे दु:खोको हम दूर कर सकेगे।

आजकल चारो ओर समाज-सुधारकी चर्चा चलती है। यह सोचा जाता है कि साधारण आदमीको भी कम-से-कम इतना सुख मिलना चाहिए, और इसके लिए अमुक तरहकी समाज-रचना होनी चाहिए आदि चर्चा चलती है। एक ओर अतिशय सुख तो दूसरी ओर अतिशय दु:ख है। एक ओर सपत्तिका ढेर तो दूसरी ओर दरिद्रताकी गहरी खाई! यह सामाजिक विषमता कैसे दूर हो? तमाम आवश्यक सुख सहज तौर पर प्राप्त करनेका एक ही उपाय है। और वह है आलस्य छोड़कर सब

श्रम करनेको तैयार हो। मुख्य दुःख हमारे आलस्यके ही कारण है। यदि सब लोग शारीरिक श्रम करनेका निश्चय कर लें तो यह दुःख दूर हो जाय।

परंतु आज समाजमें हम देखते क्या हैं? एक ओर जंग चढ़-चढ़कर निरुपयोगी हुए लोग दीखते हैं। श्रीमानोंकी इंद्रियां जंग खा रही हैं। उनके शरीरका उपयोग ही नही किया जा रहा है। दूसरी ओर इतना काम करना पड़ रहा है कि सारा शरीर घिस-घिसकर गल गया है। सारे समाजमें शारीरिक-श्रमसे बचनेकी प्रवृत्ति हो रही है। जो मर-पच कर काम करते है वे खुशी-खुशी ऐसा नही करते। बदर्जे मजबूरी करते हैं। पढ़े-लिखे, समझदार लोग श्रमसे बचनेके लिए तरह-तरहके बहाने बनाते हैं। कोई कहते हैं—"फजूल क्यों शारीरिक श्रममें समय गंवावें?" परंतु कोई ऐसा नही कहता—'यह नीद क्यो फिजूल लें?' 'भोजनमें समय क्यों बरबाद करे?' भूख लगती है तो खाते हैं। नीद आती है तो सो जाते हैं। परंतु जब शारीरिक कामका सवाल आता है तो अलबत्ते हम कहते है—"फिजूल इसमें क्यों समय बरबाद करे? क्यों अपने शरीरको इतने कष्टमे डालें? हम तो मानसिक श्रम जो कर लेते हैं।" तो जनाब, यदि काम मानसिक करते है तो फिर खाना भी मानसिक खा लीजिए व नीद भी मानसिक ले लीजिए! मनोमय नीद व मनोमय भोजन करनेकी तजवीज कर लीजिए न!

इस तरह समाजमें दो तरहके लोग हो गए हैं। एक तो वे जो दिन-रात पिसते मरते है, दूसरे वे जिन्हे हाथ तक हिलाना नहीं पड़ता। मेरे एक मित्रने एक रोज कहा—कुछ रुण्ड व कुछ मुड। एक ओर सिर्फ धड है, दूसरी ओर सिर। धड़ सिर्फ खपता रहे, सिर सिर्फ विचार करता रहे। इस तरह समाजमें ये राहु-केतु रुण्ड व मुड दो प्रकार हो गये हैं। परंतु यदि सचमुच ही ये रुंड-मुड होते तो कोई बात नहीं थी। तब अंध-पगु न्यायसे ही कोई व्यवस्था हो सकती थी। अधा लंगडेको रास्ता दिखावे, लंगड़ा अधेको कंधेपर बिठाले। परतु इन रुंड-मुंडोंके ऐसे अलग टुकड़े, समूह नही है। प्रत्येकमें रुड व मुड दोनो हैं। ये जुडे रुंड-मुंड सब जगह हैं। इससे और मजबूरी है। अत: प्रत्येकको चाहिए कि आलस्यसे बाज आवे।

आलस्य छोड़नेके लिए शारीरिक श्रम करना चाहिए। आलस्यको जीतनेका एक यही उपाय है। यदि इससे काम न लिया गया तो इसकी सजा भी कुदरतकी ओरसे मिले बिना न रहेगी। बीमारियोके या किसी और कष्टके रूपमे वह सजा भोगनी ही पडेगी, जब कि शरीर हमको मिला है तो श्रम हमे करना ही होगा। शरीर-श्रममें जो समय लगता है वह व्यर्थ नही जाता। इसका बदला जरूर मिलता है। उत्तम आरोग्य प्राप्त होता है। बुद्धि सतेज, तीव्र और शुद्ध होती है। बहुतेरे विचारको-के विचारोमे भी उनके पेट-दर्द और सिर-दर्दका प्रतिबिंब आ जाता है। विचारशील लोग यदि धूपमे, खुली हवामे, कुदरतकी गोदमे मेहनत करेगे तो उनके विचार भी तेजस्वी हो जायगें। शरीरिक रोग का जैसे मन पर असर होता है, वैसे ही शारीरिक आरोग्यका भी होता है, यह अनुभव सिद्ध है। बादमे तपेदिक हो जाने पर भुवाली या और कही पहाड़पर शुद्ध हवामे जाने या सूर्य-किरणोका प्रयोग करनेके पहले ही यदि बाहर कुदाली लेकर खोदने, बागमे पेडोको पानी पिलाने और लकड़ी काटने-का काम करें तो क्या बुरा?

(७७)

आलस्य पर विजय प्राप्त करना एक बात हुई। दूसरी बात है नीद-को जीतना। नीद वस्तुतः पवित्र वस्तु है। सेवा करके थके हुए साधु-सतोकी नीद एक योग ही है। इस प्रकारकी शात और गहरी नीद महा-भाग्यवानोंको ही मिलती है। नीद गहरी, गाढी होनी चाहिए। नींद-का महत्त्व लंबाई-चौडाईपर नही है। बिछौना-कितना लबा था और उसपर मनुष्य कितनी देर पड़ा रहा, इस बातपर नीद अवलंबित नही है। कुआ जितना गहरा होगा, उतना ही उसका पानी अधिक साफ और मीठा होगा, उसी तरह नींद चाहे थोड़ी हो, पर यदि गहरी हो तो उससे उत्तम काम बनता है। मन लगाकर किया आधा घंटा पठन चचलतासे किये गये तीन घटेके पठनसे ज्यादा फलदायी होता है। यही बात नींदकी है। लंबी नीद अतमें हितकर ही होती है, ऐसा नहीं कह सकते। बीमार चौबीसों घंटे बिस्तरपर पड़ा रहता है। बिस्तरकी और उसकी लगातार

भेंट है; लेकिन नीदसे भेंट ही नहीं। सच्ची नींद वह जो गहरी व निः-स्वप्न हो। मरनेपर यम-यातना जो कुछ होती हो सो हो, परतु जिसे नीद अच्छी नहीं आती, दुःस्वप्न आते रहते हैं, उसकी यम-यातनाका हाल मत पूछिए। वेदमें ऋषि त्रस्त होकर कहते हैं—

"परा दुःस्वप्न्यं सुव"

'ऐसी दुष्ट नीद मुझे नही चाहिए।' नीद आरामके लिए होती है। परंतु यदि उसमे भी तरह-तरहके सपने व विचार पिंड न छोड़ते हो तो फिर वहा आराम कहां रहा?

तो गहरी व गाढ़ी नीद आवे कैसे? जो उपाय आलस्यके लिए बताया है वही नींदके लिए भी है। शरीरसे सतत काम लेते रहना चाहिए। फिर बिछौनेपर पडते ही मनुष्य मुर्देकी तरह सोयेगा। नीद एक छोटी-सी मृत्यु ही है। ऐसी सुदर मृत्यु आनेके लिए दिनमें पूर्व तैयारी अच्छी होनी चाहिए। शरीर थककर चूर हो जाना चाहिए। अग्रेज कवि शेक्सपीयरने कहा है—"राजाके सिरपर तो मुकट है, परंतु सिरमे चिंता है।" उस राजाको नीद नही आती। उसका एक कारण यह है कि वह शारीरिक श्रम नहीं करता है। जो जागृतिमे सोता है वह सोनेके समय जगता रहेगा। दिनमें बुद्धि व शरीर का उपयोग न करना नीद नही तो क्या है? फिर नीदके समय बुद्धि विचार करती फिरती है और शरीर भी वास्तविक निद्रा-सुखसे वंचित रहता है। फिर दीर्घ समय तक सोते पडे रहते हैं। जिस जीवनमे परम पुरुषार्थ साधना है उसे यदि नींद ने खा डाला तो पुरुषार्थकी नौबत आयगी कब? आधा जीवन यदि नीद-मे ही चला गया तो फिर हम क्या हासिल कर सकेगे?

जब बहुत-सा समय नीदमें ही चला जाता है तो फिर तमोगुणका तीसरा दोष—प्रमाद अपने-आप होने लगता है। निद्राशील मनुष्यका चित्त दक्ष और सावधान नही रह सकता। उससे अनवधान उत्पन्न होता है। अधिक नीदसे फिर आलस्य बढ़ता है। और आलस्यसे विस्मृति। विस्मृति परमार्थके लिए नाशक हो जाती है। व्यवहारमें भी विस्मृतिसे हानि होती है। परंतु हमारे समाजमें तो विस्मृति एक स्वाभाविक बात

हो बैठी है। विस्मृति कोई बडा दोष है, ऐसा किसीको मालूम ही नहीं होता। किसीसे मिलना तय करते है, परतु फिर जाते नही। पूछने पर कहते है—'अरे भाई, मै तो भूल ही गया।' ऐसा कहनेवालेको भी कोई बड़ी भूल हो गई है ऐसा नही लगता। और सुननेवाला भी सतुष्ट हो जाता है। विस्मरणका कोई इलाज ही नही है ऐसा लोगोका खयाल बना दीखता है। परतु यह गफलत क्या परमार्थमें व क्या प्रपचमें दोनों जगह हानिकर ही है। वास्तवमे विस्मरण एक बडा रोग है। उससे बुद्धिमे घुन लग जाती है। जीवन खोखला हो जाता है।

मनका आलस्य विस्मरणका कारण है। मन यदि जाग्रत रहे तो वह भूलेगा नही। लेटे रहनेवाले मनको विस्मरण-रूपी बीमारी हुए बिना नही रहती। इसीलिए भगवान् बुद्ध कहते है—

"पमादो मच्चुनो पदं"

प्रमाद—विस्मरण याने मृत्यु ही है। इस प्रमादपर विजय पानेके लिए आलस्य व निद्राको वशीभूत कीजिए। शरीर-श्रम कीजिए व सतत सावधान रहिए। जो-जो काम करने हो उन्हे विचार-पूर्वक कीजिए। यो ही बिना बिचारे कोई काम नही होना चाहिए। कृतिके पहले विचार, बादमें भी विचार। आगे-पीछे सर्वत्र विचार-रूपी परमेश्वर खडा रहना चाहिए। जब ऐसी आदत डाल लेंगे तो फिर अनवधान-रूपी रोग दूर हो जायगा। सारे समयको ठीक तौरसे बाधे रखिये। एक-एक क्षणका हिसाब रखिये तो फिर आलस्यको घुसनेकी जगह न रहेगी। इस रीतिसे सारे तमोगुण-को जीतनेका प्रयत्न करना चाहिए।

(७८)

रजोगुणपर मोर्चा लगाना है। रजोगुण भी एक भयानक शत्रु है। यह तमोगुणका ही दूसरा पहलू है। बल्कि यही कहना चाहिए कि दोनो पर्यायवाची शब्द है। जब शरीर बहुत सो चुकता है तो वह हलचल करने लगता है और जो शरीर बहुत दौड-धूप कर चुकता है वह बिस्तरपर पडना चाहता है। तमोगुणसे रजोगुणकी व रजोगुणसे तमो-गुणकी प्राप्ति होती है। जहा एक है वहा दूसरा आया ही समझिए।

जिस तरह रोटी एक ओर आग व दूसरी ओर भूभरमे फंस जाती है उसी तरह मनुष्य के आगे-पीछे ये रजोगुण-तमोगुण लगे ही रहते है। रजोगुण कहता है—"इधर आओ, तुम्हे तमोगुणकी तरफ उडाता हूं।" तमोगुण कहता है—"मेरी तरफ आओ कि मैंने रजोगुणकी ओर धकेला।" इस प्रकार ये रजोगुण व तमोगुण परस्पर सहायक होकर मनुष्यका नाश कर डालते है। फुटबालका जन्म जैसे चारो ओर से लात-ठोकरें खानेके लिए है, वैसे ही मनुष्यका जीवन रजोगुण व तमोगुणकी ठोकरे खानेमें हो जाता है।

रजोगुणका प्रधान लक्षण है नाना प्रकारके काम करनेकी लालसा। कर्म करनेकी अपार आसक्ति। रजोगुणके द्वारा अपरपार कर्म-संग लागू होता है। लोभात्मक कर्मासक्ति उत्पन्न होती है। फिर वासना-विका-रों-का वेग सभलने नही पाता। इधरका पहाड़ उधर ले जा कर उधरका खड्ड भर डालनेकी इच्छा होती है। इधर समुद्रमें मिट्टी डालकर उसे पूर डालने व उधर सहाराके रेगिस्तानमें पानी छोडकर समुद्र बनानेकी प्रेरणा होती है। इधर स्वेज नहर खोदू, उधर पनामा नहर बनाऊं, ऐसी उधेड-बुन शुरू होती है। जोड-तोडके सिवा चैन नही पड़ती। छोटा बच्चा जैसे एक चिंदीको लेकर उसे फाड़ता है, फिर कुछ बनाता है, ऐसी ही यह क्रिया है। इसमे यह मिलाओ, उसमे वह डुबाओ, उसे यो उड़ाओ, इसे यो बनाओ—ऐसे ही अनत खेल रजोगुणके होते है। पछी आकाशमें उड़ता है, हम भी आकाशमे क्यो न उडे? मछली पानीमे रहती है, हम भी पनडुब्बी बनाकर जलमे क्यो न रहे? इस तरह, नरदेहमे आकर पशु-पक्षीकी बराबरी करनेमे हमे कृतार्थता मालूम होती है। पर-काय-प्रवेशकी तथा दूसरे देहोके आश्चर्योका अनुभव करनेकी हविस उसे नर-देहमें सूझती है। कोई कहता है—चलो, मंगलकी सैर कर आवे व वहांकी आबादी देख आवे। चित्त एक-सा भ्रमण करता रहता है। मानो अनेक वासनाओंका भूत ही हमारे शरीरमें बैठ गया है। जो जहा है वह वहां देखा ही नही जाता। उथल-पुथल होना चाहिए। उसे लगता है—मैं इतना बड़ा मनुष्य-जीव, मेरे जीवित रहते यह सृष्टि जैसी की तैसी कैसे रहे? जैसे कोई पहलवान होता है। शक्ति उसके रोम-रोमसे फूटकर

निकलना चाहती है, उसे हजम करनेके लिए वह कभी दीवारसे टक्कर लेता है, तो कभी पेड़को धक्का मारता है। रजोगुणकी ऐसी उमगें होती है। इसके प्रभावमें आकर मनुष्य धरतीको गहरी खोदता है, उसके पेटमेंसे कुछ पत्थर निकलता है व उन्हे हीरा, माणिक, जवाहर नाम देता है। इसी उमगके वशीभूत होकर वह समुद्रमें गोता लगाता है व उसके तलेका कूड़ा-करकट ऊपर लाकर उसे मोती नाम देता है। परतु मोतीमें छेद नहीं होता, अत. उनमे छेद करता है। अब वे मोती पहनें कहा ? तो सुनारसे नाक-कान छिदवाते हैं। तो मनुष्य यह सब उखाड़-पछाड़ क्यों करता है ? यह सारा रजोगुणका प्रभाव है।

रजोगुणका दूसरा परिणाम यह होता है कि मनुष्य में स्थिरता नही रहती। रजोगुण तत्काल फल चाहता है। अतः जरा-सी विघ्न-बाधा आते ही वह अगीकृत मार्ग छोड़ देता है। रजोगुणी मनुष्य सतत इसे ले, उसे छोड, ऐसा करता रहता है। उसका चुनाव रोज बदलता रहता है, इसका परिणाम अतमें यह आता है कि उसके पल्ले कुछ भी नही पडता।

"राजसं चलमध्रुवम्"

रजोगुणीकी सारी कृति चचल व अनिश्चित रहती है। छोटे बच्चे गेहूं बोते हैं और उसी समय खोदकर देखते हैं—वैसा ही हाल रजोगुणी मनुष्यका होता है। झट-झट सब-कुछ उसके पल्ले पडना चाहिए। वह अधीर हो उठता है। सयम खो देता है। एक जगह पाव जमाना वह जानता ही नही। यहां जरा-सा काम किया, वहा कुछ प्रसिद्धि हुई कि चला तीसरी जगह। आज मदरासमें मानपत्र, कल कलकत्तेमें व परसो बंबई-नागपुरमे ! जितनी म्युनिसिपैलटिया हों उतने ही मान-पत्र लेनेकी उसे लालसा रहती है। मान ही मान उसे सब जगह दीखता ह। एक जगह जमकर काम करनेकी उसे आदत ही नही होती। इससे रजोगुणी मनुष्यकी स्थिति बड़ी भयानक हो जाती है।

रजोगुणके प्रभावसे मनुष्य विविध धन्धो—कार्योंमें टांग अड़ाता रहता है। स्वधर्म जैसा उसके लिए कुछ नही रहता। वास्तविक स्वधर्मा-चरणका अर्थ है इतर नाना कर्मोंका त्याग। गीताका कर्मयोग रजोगुणका

रामबाण उपाय है। रजोगुणमें सब-कुछ चचल है। पर्वतके शिखर पर गिरा पानी यदि विविध दिशाओंमें बहने लगा तो फिर वह कहींका नहीं रहता। सारा-का-सारा बिखरकर बेकार हो जाता है। परंतु वही यदि एक दिशामें बहेगा तो उसकी आगे चलकर एक नदी हो जायगी। उसमें एक शक्ति उत्पन्न होगी। देशको उससे लाभ पहुंचेगा। उसी तरह मनुष्य यदि अपनी सारी शक्ति विविध उद्योगोंमे न लगाकर उसे एकत्र करके एक ही कार्यमे सुव्यवस्थित रूपसे लगावे तो ही उसके हाथसे कुछ कार्य होगा। इसलिए स्वधर्मका बड़ा महत्त्व है।

स्वधर्मका सतत चिंतन करके उसीमें सारी शक्ति लगानी चाहिए, दूसरी बातकी ओर ध्यान ही न जाने पावे। यही स्वधर्मकी कसौटी है। कर्मयोग यानी कोई अति अथवा भारी कर्म नही है। केवल अमित कर्म करनेका नाम कर्मयोग नही है। गीताका कर्मयोग कुछ और ही चीज है। उसकी विशेषता यह है—फलकी ओर ध्यान न देते हुए केवल स्वभाव प्राप्त अपरिहार्य स्वधर्मका पालन करना और उसके द्वारा चित्त-शुद्धि करते रहना। नही तो यो सृष्टिमें एकसा कर्म-कलाप होता ही रहता है। कर्मयोगके मानी है विशिष्ट मनोवृत्तिसे समस्त कर्म करना। खेतमें बीज बोना और यो ही मुट्ठीभर अनाज लेकर कही फेक देना—दोनों बिलकुल अलग-अलग बाते हैं। दोनोमे बड़ा अतर है। हम जानते हैं कि अनाज बोनेसे कितना फल मिलता है और यो ही उसे फेक देनेसे कितना नुकसान होता है। गीता जिस कर्मका उपदेश देती है वह बुआईकी तरह है। ऐसे स्वधर्म-रूप कर्त्तव्यमें अमित शक्ति रहती है। वहां तमाम श्रम नाकाफी होते हैं। अतः उसमें भारी दौड-धूपके लिए कोई अवसर ही नही रहता।

(७९)

तो यह स्वधर्म निश्चित कैसे किया जाय? ऐसा कोई प्रश्न करें तो उसका सरल उत्तर है —वह स्वाभाविक होता है। स्वधर्म सहज होता है। उसे खोजनेकी कल्पना ही विचित्र मालूम होती है। मनुष्य के जन्मके साथ ही उसका स्वधर्म भी जन्मा है। बच्चेके लिए जैसे उसकी

मां तलाश नही करनी पड़ती वैसे ही स्वधर्म भी किसीको तलाशना नही पडता। वह तो पहले से ही प्राप्त हैं। हमारे जन्मके पहले भी दुनिया थी। हमारे बाद भी वह रहेगी। हमारे पीछे भी एक बड़ा प्रवाह था और आगे भी वह है ही—ऐसे प्रवाहमें हमारा जन्म हुआ है। जिन मां-बापके यहा मैंने जन्म लिया है उनकी सेवा, जिन अडोसी-पड़ौसीमें मेरा घर है उनकी सेवा—ये दो कर्म मुझे निसर्गतः ही मिले है। फिर मेरी वृत्तियां तो मेरे नित्य अनुभवकी ही हैं न? मुझे भूख लगती है, प्यास लगती है, अत. भूखेको भोजन देना, प्यासेको पानी पिलाना यह धर्म मुझे अपने-आप प्राप्त हो गया। इस प्रकार यह सेवा-रूप भूतदया-रूप स्वधर्म हमे खोजना नही पड़ता। जहा कही स्वधर्मकी खोज हो रही हो वहा निश्चित समझ लेना चाहिए कि कुछ-न-कुछ परधर्म अथवा अधर्म हो रहा है।

सेवकको सेवा खोजने कहीं जाना नही पडता। वह अपने-आप उसके पास आ जाती है। परतु एक बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि जो अनायास प्राप्त हो वह सब सदा धर्म्य ही होता हो ऐसी बात नही है। किसी किसानने मुझे रातको कहा—"चलो वह बाड ४–५ हाथ आगे हटा दे। मेरे खेतकी सीव बढ जायगी। अभी कोई है नही, बिना गुल-गपाडेके ही सब काम हो जायगा।" यद्यपि यह काम मुझे अपने पड़ोसीने बताया है, वह सहज प्राप्त है, तो भी उसमे असत्यका आश्रय होनेके कारण वह मेरा कर्तव्य नही ठहरता।

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था जो मुझे मधुर मालूम होती है उसका कारण यही है कि उसमें स्वाभाविकता व धर्म दोनो है। इस स्वधर्मको छोडनेसे काम नही चल सकता। जो मा-बाप मुझे प्राप्त हुए है वही मेरे मां-बाप रहेगे। यदि मै यह कहू कि वे मुझे पसद नही हैं, तो कैसे काम चलेगा? मा-बापका पेशा स्वभावतः ही लड़केको विरासतमे मिलता है। जो पेशा पूर्वापरसे चला आया है वह यदि नीति-विरुद्ध न हो, तो उसीको करना, उसी काम या उद्योगको जारी रखना चातुर्वर्ण्यकी एक बड़ी विशेषता है। यह वर्ण-व्यवस्था आज अस्तव्यस्त हो गई है। उसका पालन आज बहुत कठिन हो गया है। परंतु यदि यह ठीक ढंगपर लाई जा सके तो

बहुत अच्छा होगा। नही तो आज शुरूके पच्चीस तीस साल तो नया काम नये पेशेको सीखनेमें ही चले जाते हैं। काम सीख लेनेपर फिर मनुष्य अपने लिए सेवा-क्षेत्र, कार्य-क्षेत्र तलाशता है। इस तरह शुरूके २५ साल तक तो वह सीखता ही रहता है। इस शिक्षाका उसके जीवनसे कोई संबध नही रहता। कहते हैं वह भावी जीवनकी तैयारी कर रहा है। शिक्षा प्राप्त करते समय मानो वह जगता ही न हो। जीना बादमें है। कहते हैं, पहले सब सीखना और बादमें जीना। मानो जीना व सीखना ये दोनों चीजे अलग-अलग कर दी गई हो। जहां जीनेका संबंध नही, उसे मरना ही तो कहेगे! हिंदुस्तानकी औसत उम्र २३ साल है। और पच्चीस सालतक तो वह तैयारी ही करता रहता है। इस तरह नवीन काम-धधा सीखनेमें ही दिन चले जाते है, तब कही उस काम-धंधेकी शुरूआत होती है। इससे उमगके व महत्त्वके साल फजूल ही चले जाते है। जो उत्साह, जो उमग जन-सेवामे खर्च करके जीवन सार्थक किया जा सकता है, वह यो ही व्यर्थ चले जाते है। जीवन कोई हँसी खेल नही है। पर दु खकी बात है कि जीवनका पहला बेशकीमती भाग तो जीवनका काम-धन्धा खोजनेमें ही चला जाता है। हिंदू-धर्मने इसीलिए वर्ण-धर्मकी तरकीब निकाली है।

परतु चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाको एक ओर रख दें तो भी सभी राष्ट्रोंमें सर्वत्र, जहां यह व्यवस्था नही है वहां भी, स्वधर्म सबको प्राप्त ही है। हम सब इस प्रवाहमें किसी एक परिस्थितिको साथ लेकर जन्मे है इसीलिए स्वधर्माचरण-रूपी कर्तव्य अपने-आप ही हमें प्राप्त रहता है। अतः जो दूरवर्ती कर्त्तव्य है—उन्हे वास्तवमें कर्त्तव्य कहना ठीक नही—उन्हें उनके कितने ही अच्छे दिखाई देनेपर भी ग्रहण न करना चाहिए। बहुत बार दूरके ढोल सुहावने लगते हैं। मनुष्य दूरकी बातोपर लट्टू हो जाता है। मनुष्य जहां खड़ा है वहां भी गहरा धुआ फैला रहता है, परतु पासका गहरा धुआ उसे नही दीखता। वह दूर अंगुली दिखाकर कहता है—"वहा बड़ा धुआ है," उधरका आदमी इसकी ओर अंगुली बता कर कहता है कि, "उधर गहरा धुआ है।" धुआ सब जगह है, परंतु पासका दिखाई नही देता। मनुष्यको दूरकी बातोंमें आकर्षण दिखाई देता है। नजदीकका

कोनेमें पड़ा रहता है और दूरका स्वप्नमे दीखता है। परतु यह मोह है। इसे छोड़ना ही चाहिए। प्राप्त स्वधर्म यदि साधारण हो, अपर्याप्त मालूम होता हो, नीरस प्रतीत होता हो तो भी जो मुझे प्राप्त है वही भला है। वही मेरे लिए सुदर है। जो मनुष्य समुद्रमे डूब रहा हो उसे कोई टेढ़ा-मेढ़ा और भद्दा-सा लकड़ीका टुकड़ा हाथ आ जाय, वह पालिश किया हुआ चिकना व सुदर न हो तो भी वही बचानेवाला है। बढईके कारखानेमें बहुतसे बढिया चिकने और बेल-बूटेदार टुकडे पडे रहते है, परतु वे तो हैं कारखानेमे, और यह यहा समुद्रमे डूब रहा है। अतएव जैसे वह बेढगा लकडीका टुकडा ही उसका तारक है, उसीको उसे पकड़ लेना चाहिए; उसी तरह जो सेवा मुझे प्राप्त हो गई है वह कम दर्जेकी मालूम होनेपर भी वही मेरे कामकी है। उसीमें मग्न हो रहना मुझे शोभा देता है। उसीमें मेरा उद्धार है। उसको छोडकर यदि मै दूसरी सेवा खोजनेके चक्करमें पडूगा तो यह पहली भी चली जायगी और दूसरी हाथ लगनेकी नही। इससे मनुष्य सेवा-वृत्तिसे ही दूर भटक जाता है। इसीलिए स्वधर्म-रूप कर्त्तव्यमे ही हमे मग्न रहना चाहिए।

जब हम स्वधर्ममे मग्न रहने लगते है तो रजोगुण फीका पड जाता है। क्योकि तब चित्त एकाग्र हो आता है। वह स्वधर्मको छोडकर कहीं जाता ही नहीं, इससे चचल रजोगुणका सारा जोर ही कम पड़ जाता है। नदी जब शात और गहरी होती है तो कितना ही पानी उसमें बढ आये तोभी वह उसे अपने पेटमे समा लेती है। इसी तरह स्वधर्म-रूपी नदी मनष्यका सारा बल, सारा वेग, सारी शक्ति पचा सकती है। स्वधर्ममें जितनी शक्ति लगाओगे उतनी कम ही है। स्वधर्ममें आप सब शक्ति लगा देगे तो फिर रजोगुणकी दौड-धूप करने वाली वृत्ति नही-सी हो जायगी। मानो आपने चचलताका मुह ही कुचल दिया। यह रीति है रजोगुणको वशीभूत करनेकी।

(८०)

अब रहा सत्त्वगुण। इससे बहुत सभलकर रहना चाहिए। इससे आत्माको अलग कैसे करे? बड़े सूक्ष्म विचारकी यह बात है। सत्त्वगुण

को एकदम निर्मूल नही करना है। रज-तमका तो पूर्ण उच्छेद ही करना पड़ता है, परंतु सत्त्वगुणकी भूमिका कुछ अलग है। जब बहुत भीड़ इकट्ठी हो गई हो और उसे तितर-बितर करना हो तो सिपाहियोंको यह हुक्म दिया जाता है कि कमरके ऊपर नही, पांवकी तरफ, गोलियां चलाओ। इससे मनुष्य मरता नही, घायल हो जाता है। इसी तरह सत्त्वगुणको घायल कर देना है, मार नही डालना है। रजोगुण और तमोगुणके चले जानेपर शुद्ध सत्त्वगुण रह जाता है। जबतक हमारा शरीर कायम है तबतक हमें किसी-न-किसी भूमिकामें—अवस्थामें रहना ही पड़ेगा। तो फिर रज-तमके चले जानेपर जो सत्त्वगुण रहेगा उससे अलग रहनेके मानी आखिर क्या हैं?

जब सत्त्वगुणका अभिमान हो जाता है, तब वह आत्माको अपने शुद्ध स्वरूपसे नीचे खीच लाता है। लालटेनकी ज्योतिकी प्रभाको स्वच्छ रूपमे बाहर फैलाना हो तो उसके अदरका सारा काजल पोछ ही देना पड़ता है; परंतु यदि काचपर धूल जम गई हो तो वह भी धो डालनी पड़ती है। इसी तरह आत्माकी प्रभाके आसपास जो तमोगुण-रूपी काजल जमी रहती है उसे अच्छी तरह दूर कर डालनी चाहिए, उसके बाद रजोगुण-रूपी धूलको भी साफ कर देना है। इस तरह जब तमोगुणको धो डाला, रजोगुणको साफ कर डाला, तो अब सत्त्वगुण-रूपी कांच बाकी रह गया। इस सत्त्वगुणको भी दूर करनेका अर्थ क्या यह लें कि उस काचको भी फोड़ डाले? नही। यदि काच ही फोड़ डालेंगे तो फिर लालटेनका कार्य नही होगा। ज्योतिका प्रकाश फैलानेके लिए काचकी तो जरूरत रहेगी ही। अतः इस शुद्ध चमकदार काचको फोड़ें तो नही, परतु एक ऐसा छोटा-सा कागजका टुकड़ा उसके सामने जरूर लगा दें जिससे आंखें चकाचौंध न हो जायं। जरूरत सिर्फ आंखोंको चकाचौंध न होने देनेकी है। सत्त्वगुण पर विजय पानेका अर्थ यह है कि उसके प्रति हमारा अभिमान—हमारी आसक्ति हट जाय। सत्त्वगुणसे काम तो ले लेना है, परंतु ढगसे, तरकीबसे। सत्त्वगुणको निरहकारी बना देना चाहिए।

तो इस सत्त्वगुणके अहंकार को कैसे जीता जाय? इसका एक उपाय है। सत्त्वगुण को हम अपने अंदर स्थिर कर लें। सातत्यसे उसका

अभिमान चला जाता है। सत्त्वगुणी कर्मोको ही हम सतत करते रहें। उसे अपना स्वभाव ही बना ले। सत्त्वगुण हमारे यहा घडी भरके लिए आया हुआ मेहमान ही नही रहे, बल्कि वह घरका आदमी हो जाय। जो क्रिया कभी-कभी हमसे होती है उसका हमें अभिमान होता है। सोते हम रोज हैं, परतु उसकी चर्चा दूसरोसे नही करते। लेकिन जब किसी बीमारको पद्रह दिन नीद न आई हो और फिर जरा-सी नीद लगी हो तो वह सबसे कहता है—"कल जरा झपकी लगी थी।" उसे वह बात महत्त्वपूर्ण मालूम होती है। इससे भी अच्छा उदाहरण हम श्वासोच्छ-वास क्रियाका ले। सास हम चौबीसो घटे लेते है, परतु हर किसीसे उसका जिकर नही करते। क्या कभी कोई किसीसे अभिमानके साथ कहता है कि "मैं एक सास लेनेवाला प्राणी हू ?" हरद्वारसे फेका तिनका यदि गगामे बहता-बहता १५०० मील दूर कलकत्तामे पहुच गया तो क्या वह उसपर गर्व करेगा ? वह तो धाराके साथ सहज-रूपसे बहता चला आया। परतु यदि कोई बाढकी उलटी धारामें दस-बीस हाथ तैर गया तो वह कितनी शेखी बघारेगा ? मतलब यह कि जो बात स्वाभाविक है उसका हमें अहकार नही मालूम होता।

जब कोई अच्छा काम हमारे हाथसे हो जाता है तो उसका अभिमान हमें मालूम होता है। क्यो ? इसलिए कि वह बात सहज-रूपसे नही हुई। मुन्नाके हाथसे कोई काम अच्छा हो गया तो मा उसकी पीठ ठोकती है। वरना यो तो माकी छडीसे ही हमेशा उसकी पीठकी भेट होती है। रातके घने अधकारमें कोई एकाध जुगनू हो तो फिर देखिए उसकी ऐठ। वह एकबारगी अपनी सारी चमक नही दिखाता। बीचमे लुक-लुक करता है; फिर रुकता है, फिर लुक-लुक करता है। प्रकाशको ढाकता और खोलता रहता है। परतु उसका प्रकाश यदि सतत रहने लगे तो फिर उसकी ऐठ नही रहेगी। सातत्यके कारण विशेषता मालूम नहीं होती। इस तरह सत्त्वगुण यदि हमारी क्रियाओमें सतत प्रकट होने लगे तो फिर वह हमारा स्वभाव ही हो जायगा। सिहको अपने शौर्यका अभिमान नही रहता। वल्कि भान भी नही रहता। इसी तरह अपनी सात्त्विक वृत्तिको इतनी सहज हो जाने दो कि हमें उसकी स्मृति भी न होने पावे।

प्रकाश देना सूर्यकी नैसर्गिक क्रिया है। उसका सूर्यको कोई अभिमान नही रहता। उसके लिए यदि कोई सूर्यको मान-पत्र देने जाय तो वह कहेगा—"इसमें मैने विशेष क्या किया ? मै प्रकाश देता हूं तो अधिक क्या करता हूं ? प्रकाश देना ही तो मेरा जीवन है। प्रकाश न दूं तो मैं मर जाऊंगा। मै दूसरी कोई चीज ही नही जानता।" ऐसी स्थिति सात्त्विक मनुष्यकी हो जानी चाहिए। सात्त्विक गुण उसके रोम-रोममे पैबस्त हो जाना चाहिए। जब ऐसा स्वभाव ही हमारा हो जाय तो हमें उसका अभिमान न होगा। सत्त्वगुणको निस्तेज करनेकी—उसे जीतनेकी यह एक तरकीब हुई।

अब दूसरी तरकीब है सत्त्वगुणकी आसक्ति तक छोड़ देना। अहंकार व आसक्ति ये दो अलग-अलग चीजें है। यह भेद जरा सूक्ष्म है। अतः दृष्टातसे जल्दी समझमें आजायगा। सत्त्वगुणका अहंकार चला जानेपर भी आसक्ति रह जाती है। श्वासोच्छ्वासका ही उदाहरण ले। सांस लेनेका अभिमान तो नही होता है, परतु उसमें बड़ी आसक्ति रहती है। यदि कहो कि पाच मिनट तक सास रोके रहो तो नही बनता। नाकको श्वासोच्छ्वासका अभिमान भले ही न हो, परतु वह हवा बराबर लेती रहती है। सुकरातकी एक मजेदार कहानी है। उसकी नाक थी चपटी। अत. लोग उसे देखकर हँसा करते। परंतु हँसोड़ सुकरात कहता "मेरी नाक सबसे बढिया है। जिन नाकके नासापुट बडे हो वह भरपूर हवा ले सकती है और इसलिए वही सबसे सुदर है।" मतलब यह कि नाकको श्वासोच्छ्वासका अभिमान तो नही, पर आसक्ति है। सत्त्व-गुणोके प्रति इसी तरह आसक्ति हो जाती है। जैसे भूत-दया। यह गुण अत्यत उपयोगी है। परंतु उसकी भी आसक्तिसे दूर रह सकना चाहिए। भूत-दया तो आवश्यक है, परतु उसकी आसक्ति न होनी चाहिए।

संत लोग इस सत्त्वगुणकी ही बदौलत दूसरेके लिए मार्ग-दर्शक होते है। उनका देह भूतदयाके कारण सार्वजनिक हो जाता है। मक्खियां जिस प्रकार गुड़की भेलीको ढांक लेती है, उसी प्रकार सारी दुनिया संतों पर अपने प्रेमकी चादर ओढ़ाती है। सतोंके अंदर प्रेमका इतना प्रकर्ष हो जाता है कि सारा विश्व उनसे प्रेम करने लगता है। संत अपने देहकी

आसक्ति छोड़ देते है, अत सारे संसारकी आसक्ति उनमे हो जाती है। सारी दुनिया उनके शरीरकी चिंता करने लगती है। परंतु यह आसक्ति भी संतोंको दूर करनी चाहिए। यह जो ससारका प्रेम है, यह जो महान् फल है, इसमें भी आत्माको पृथक् करना चाहिए। मै कोई विशेष व्यक्ति हूं—ऐसा उन्हे कभी न मालूम होना चाहिए। इस तरह सत्त्वगुणको शरीरमे पचा डालना चाहिए।

पहले अहंकारको जीतो, फिर आसक्तिको। सातत्यसे अहंकार जीत लिया जायगा, और फलासक्तिको छोड़कर सत्त्वगुणसे प्राप्त फल-को भी ईश्वरार्पण करनेसे आसक्ति पर विजय हो सकती है। जीवनमें जब सत्त्वगुण स्थिर हो जाता है तो कभी सिद्धिके रूपमे व कभी कीर्तिके रूपमें फल सामने आता है। परतु उस फलको भी तुच्छ मानिए। आम-का पेड़ अपने एक भी फलको खुद नही खाता। फल कितना ही बढिया हो, कितना ही मीठा हो, कितना ही रसीला हो, पर खानेकी अपेक्षा न खाना ही उसे मधुरतर होता है। उपभोगकी बनिस्बत त्याग अधिक मधुर हैं। धर्मराजने जीवनके सारे पुण्यके सार-स्वरूप स्वर्ग-सुखरूपी फलको भी अतमे ठुकरा दिया। जीवनके सारे त्यागोपर उन्होने कलश चढा दिया। उन मधुर फलोको चखनेका उन्हें हक था, परंतु यदि वह उन्हे चख लेते तो, वे (फल) खतम हो जाते।" "क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोक विशन्ति।" यह चक्र फिर उनके पीछे लग जाता। धर्मराजका कितना जबरदस्त यह त्याग! यह सदैव मेरी आखोके सामने खडा रहता है। इस तरह सत्त्वगुणके सतत आचरण द्वारा उसके अहकारको जीत लेना चाहिए। तटस्थ रहकर सब फल ईश्वरको सौंपकर उसकी आसक्ति-से छूट जाना चाहिए। तब कह सकते है कि सत्त्वगुण पर भी विजय प्राप्त हो गई।

(८१)

अब आखिरी बात। भले ही आप सत्त्वगुणी हो जाइए, अहंकारको जीत लीजिए, फलासक्तिको भी छोड़ दीजिए, फिर भी जबतक यह शरीर कायम है तबतक बीच-बीचमें रज-तमके हमले होते ही रहेंगे। थोड़ी देरके

लिए हमें ऐसा लगा भी कि हमने इन गुणोको जीत लिया तो भी वे फिर-फिर जोर मारेंगे। अतः सतत जाग्रत रहना चाहिए। समुद्रका पानी वेगसे भीतर घुस-घुसकर जिस तरह बड़ी खाड़िया बना लेता है उसी तरह रज-तमके जोरदार प्रवाह हमारी मनोभूमिमे प्रविष्ट होकर खाड़ियां बना लेते है । अत. जरा भी छिद्र न रहने दीजिए । पक्का इंतजाम व पहरा रखिए। चाहे कितनी ही सावधानी, दक्षता रखिए जबतक आत्म-ज्ञान नही हुआ है, आत्म-दर्शन नहीं हो गया है तबतक खतरा ही समझिए। अतः हर तरहसे उद्योग करके आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लीजिए।

आत्म-ज्ञान कोरी जागृतिकी कसरतसे नही होगा। तो फिर होगा कैसे ? क्या अभ्याससे ? नही—उसका एक ही उपाय है। वह है "सच्चे हृदयसे, हार्दिक व्याकुलतासे भगवान्‌की भक्ति करना" आप रज, तम इन गुणोको जीतेंगे, सत्त्वगुणको स्थिर करके उसकी फलासक्ति भी छोड देंगे, परतु इतनेसे भी काम नही चलेगा। जबतक आत्म-ज्ञान नही हुआ है तबतक गुजर न होगी। अतः अतमे भगवत्कृपा चाहिए ही। सच्ची हार्दिक भक्तिके द्वारा उसकी कृपाका पात्र बनना चाहिए। इसके सिवा मुझे दूसरा उपाय नहीं दिखाई देता। इस अध्यायके अतमें अर्जुनने यही प्रश्न पूछा है व भगवान्‌ने उत्तर दिया है—"अत्यन्त एकाग्र मनसे निष्कामभावसे मेरी भक्ति करो, मेरी सेवा करो। जो इस प्रकार मेरी सेवा करता है वह मायाके उस पार जा सकता है । नही तो इस गहन मायाको तर जाना आसान नही है ।" यह भक्तिका सरल उपाय है। यह एक ही मार्ग उसके लिए है।

पन्द्रहवां अध्याय

रविवार, २९-५-३२

(८२)

आज एक अर्थमें हम गीताके छोर पर आ पहुंचे हैं। पद्रहवे अध्यायमें सब विचारोकी परिपूर्णता हो गई है। १६-१७ अध्याय परिशिष्ट-रूप है व अठारहवा उपसहार है। यही कारण है जो भगवान्ने इस अध्यायके अतमे इसे शास्त्र सज्ञा दी है—

"कहा निष्पाप है मैंने गूढ़ अत्यन्त शास्त्र ये"

ऐसा अतमे भगवान्ने कहा है। यह इसलिए नही कि यह अतिम अध्याय है, बल्कि इसलिए कि अबतक जीवनके जो शास्त्र, जो सिद्धात बताये उनकी परिपूर्णता इस अध्यायमे की गई है। इस अध्यायमें परमार्थ पूरा हो गया। वेदोका सारा सार इसमे आगया। परमार्थकी चेतना मनुष्यमें उत्पन्न कर देना ही वेदोका कार्य है। वह इस अध्यायमे किया गया है, अत. इसे 'वेदका सार' यह गौरवपूर्ण पदवी मिली है।

तेरहवे अध्यायमे देहसे आत्माको अलग करनेकी आवश्यकता देखी। चौदहवेमें तत्सबघी प्रयत्नवादकी छान-बीन की। रजोगुण व तमोगुणका निग्रहपूर्वक त्याग करे, सत्त्वगुणका विकास करके उसकी आसक्तिको जीत लें, उसके फलका त्याग करे, इस तरह यह प्रयत्न करना है। अतमें कहा गया कि इन प्रयत्नोके सोलहो आने सफल होनेके लिए आत्म-ज्ञानकी आवश्यकता है। और आत्म-ज्ञान बिना भक्तिके शक्य नही।

परतु भक्ति-मार्ग प्रयत्न-मार्गसे भिन्न नहीं है। यही सूचित करनेके लिए इस पद्रहवें अध्यायके आरभमें ही ससारकी एक महान् वृक्षसे उपमा दी गई है। त्रिगुणोसे पोषित प्रचड शाखाएं इस वृक्षकी हैं। आरभमें ही यह कह दिया है कि अनासक्ति व वैराग्य-रूपी शस्त्रोंसे इस वृक्षको काटना चाहिए। यह साफ है कि पिछले अध्यायमें जो साधन मार्ग बताया

गया है वही फिर आरभमें यहा दुहराया गया है। रज-तमको मिटाना व सत्त्वगुणकी पुष्टि-द्वारा अपना विकास कर लेना है। एक काम विनाशक है, दूसरा विधायक। दोनोको मिलाकर मार्ग एक ही होता है। घास-फूस काटना व बीज बोना—दोनो एक ही क्रियाके भिन्न-भिन्न अग है। वैसी ही यह बात है। रामायणमें रावण, कुभकर्ण, विभीषण ये तीन भाई है। कुभकरण तमोगुण है, रावण रजोगुण व विभीषण सत्त्वगुण है, हमारे शरीरमे इन तीनोका रामायण रचा जा रहा है। इस रामायणमें रावण व कुभकरणका तो नाश ही विहित है। एक विभीषण-तत्त्व, यदि वह हरिचरण-शरण हो जाय तो उन्नतिका साधक व पोषक हो सकेगा। और इसलिए वह अपनाने जैसा है। हमने चौदहवे अध्यायमें इस चीजको समझ लिया है। इस पद्रहवे अध्यायके आरभमें फिर वही बात आई है। सत्त्व-रज-तमसे भरे ससारको असग-रूपी शस्त्रसे छेद डालो। रज-तम का विरोध करो। सत्त्वगुणका विकास करके पवित्र होओ व उसकी आसक्तिको जीतकर अलिप्त रहो। कमलका यही आदर्श भगवद्गीता प्रस्तुत कर रही है। भारतीय सस्कृतिमे जीवनकी आदर्श वस्तुओकी, उत्तमोत्तम वस्तुओकी कमलसे उपमा दी गई है। कमल भारतीय सस्कृतिका प्रतीक है। उत्तमोत्तम विचार प्रकट करनेका चिह्न कमल है। कमल स्वच्छ व पवित्र होकर भी अलिप्त रहता है। पवित्रता व अलिप्तता ऐसी दुहेरी शक्ति कमलके पास है। भगवान्के भिन्न-भिन्न अवयवोकी कमलसे उपमा देते है। नेत्र-कमल, पद-कमल, कर-कमल, मुख-कमल, नाभि-कमल, हृदय-कमल, शिर-कमल आदि। इनके द्वारा यह भाव हमारे हृदयमें अकित किया है कि सर्वत्र सौंदर्य व पवित्रताके साथ ही अलिप्तता है।

पिछले अध्यायमें बताई साधनाको पूर्णता पर पहुचानेके लिए यह अध्याय लिखा गया है। प्रयत्नमे जब आत्म-ज्ञान व भक्ति मिल जाय तो फिर पूर्णता आ जायगी। भक्ति प्रयत्न-मार्गका ही एक भाग है। आत्म-ज्ञान व भक्ति ये उसी साधनाके अग हैं। वेदोमे ऋषि कहते है—

"यो जागार तं ऋचः कामयन्ते
यो जागार तमु सामानि यान्ति"

"जो जाग्रत रहते हैं उनसे वेद प्रेम करते है, उनसे भेंट करनेके लिए

वे आते हैं।" अर्थात् जो जाग्रत है उसके पास वेदनारायण आते हैं। उसके पास ज्ञान आता है, भक्ति आती है। प्रयत्न-मार्गसे ज्ञान व भक्ति अलग नहीं है। इस अध्यायमें यही दिखाना है कि ये दोनों तत्त्व प्रयत्नमें मधुरता लानेवाले हैं। अतः एकाग्र चित्तसे भक्ति-ज्ञानका यह स्वरूप श्रवण कीजिए।

(८३)

जीवनके मैं टुकडे नही कर सकता। कर्म, ज्ञान, भक्ति इनको मैं जुदा-जुदा नही कर सकता, न ये जुदा है ही। उदाहरणके लिए जेलके रसोई बनानेके कामको ही देखिए। पाच-सात सौ मनुष्योकी रसोई बनानेका काम अपनेमे से कुछ लोग करते है। यदि इनमे कोई ऐसा शख्स होगा जो रसोई बनानेका ज्ञान ठीक-ठीक न रखता हो तो वह रसोई खराब कर देगा। रोटियां कच्ची रह जायगी, या जल जायंगी। परंतु यहा हम यह मानकर चलें कि रसोई बनाने का उत्तम ज्ञान है। फिर भी यदि उस व्यक्ति के हृदयमे उस कर्मके प्रति प्रेम न हो, भक्तिका भाव न हो, ये रोटियां मेरे भाइयोको अर्थात् नारायणको ही मिलने वाली है, इन्हे अच्छी तरह बेलना व सेकना चाहिए, यह प्रभुकी सेवा है, ऐसा भाव उसके हृदयमें न हो तो पूर्वोक्त ज्ञान होकर भी वह योग्य नही साबित होगा। इस रसोई-कामके लिए जैसे ज्ञान आवश्यक है, वैसे ही प्रेम भी। भक्ति-तत्त्वका रस जबतक हृदयमे न हो तबतक वह रसोई स्वादिष्ट नही हो सकती। इसीलिए तो बिना माकी रसोई फीकी रहती है। माके सिवा कौन इस कामको इतनी आस्थासे, प्रेमभावसे करेगा? फिर इसके लिए तपस्या भी चाहिए। ताप सहन किये बिना, कष्ट उठाये बिना यह काम कैसे होगा? इससे यह सिद्ध होता है कि किसी भी कामको सफल बनानेके लिए प्रेम, ज्ञान व कर्म तीनो चीजोकी जरूरत है। जीवनके सारे कर्म इन तीन गुणोंपर खड़े हैं। तिपाईका यदि एक पाव भी टूट जाय तो वह खड़ी नही रह सकती! तीनो पांव चाहिए। उसके नाम मे ही उसका स्वरूप निहित है। यही हाल जीवनका है। ज्ञान, भक्ति व कर्म अर्थात् श्रमसातत्य ये जीवनके तीन पांव हैं। इन तीनों खंभोंपर जीवन-रूपी द्वारका खड़ी करनी है।

ये तीन पांव मिलाकर एक ही वस्तु बनती है। तिपाईका दृष्टांत अक्षरशः इसपर चरितार्थ होता है। तर्कके द्वारा भले ही आप भक्ति, ज्ञान, कर्मको अलग-अलग मानिए, परतु प्रत्यक्षतः इनको अलग नही किया जा सकता। तीनो मिलकर एक ही विशाल वस्तु बनती है।

ऐसा होनेपर भी यह बात नहीं कि भक्तिमें विशेष गुण न हो। किसी भी कर्ममें जब भक्ति-तत्त्व मिलेगा तभी वह सुलभ मालूम होगा। 'सुलभ मालूम होगा' का मतलब यह नही कि कष्ट नही होगे, परतु यह कि वे कष्ट, कष्ट नही मालूम होगे। बल्कि उलटा आनंद-रूप मालूम होंगे। शूल फूल-जैसे प्रतीत होगे। हां, तो भक्ति-मार्ग सरल है, इसका तात्पर्य भी आखिर क्या ? यही कि भक्ति-भावके कारण कर्मका बोझ नही मालूम होता। कर्मकी कठिनता चली जाती है। कितना ही कर्म करो वह न किये-सा मालूम होता है। भगवान् ईसा-मसीह एक जगह कहते है—'यदि तू उपवास करता है तो चेहरेपर उपवासकी थकान न मालूम होनी चाहिए। उलटा तेरे गाल व चेहरा सुगंधित द्रव्य लगा-सा आनदित, प्रफुल्लित दिखाई देना चाहिए। उपवाससे कष्ट हो रहा है ऐसा न दिखना चाहिए।" सारांश यह कि वृत्ति इतनी भक्ति-मय, तल्लीन हो जानी चाहिए कि कष्ट भूल जाय। हम कहते हैं न, कि फलां बहादुर, देश-भक्त हँसते-हँसते फासी पर चढ गया। सुधन्वा तेलकी कढाईमे हँस रहा था। मुहसे कृष्ण, विष्णु, हरि, गोविंदकी ध्वनि निकल रही थी। इसका इतना ही अर्थ है कि अपार कष्ट आ पडनेपर भी भक्तिके प्रभावसे वे कुछ भी न मालूम हुए। पानी पर पडी हुई नावको धकेलना कठिन नही है; परंतु यदि उसीको धरतीपरसे, चट्टानोपरसे खीचकर ले जाना हो तो कितनी मेहनत पडेगी ? नावके नीचे यदि पानी होगा तो हम आसानीसे पार कर जायगे—सहज ही तर जायगे। इसी तरह हमारी जीवन-नौकाके नीचे यदि भक्ति-रूपी पानी होगा तो वह आनंदसे खेई जा सकेगी। परंतु यदि जीवन शुष्क होगा, रास्तेमे रेता पड़ा होगा, कंकड-पत्थर होगे, खड्डे खाई होगें तो इस नौकाको खीचकर ले जाना बड़ा विकट काम हो जायगा। भक्ति-तत्त्व हमारी जीवन-नौकाको पानीकी तरह सुलभता प्राप्त करा देता है।

भक्ति-मार्गसे साधनामे सुलभता आ जाती है। परतु आत्मज्ञानके

बिना सदाके लिए त्रिगुणोके उस पार जानेकी आशा नही। तो फिर आत्म-ज्ञानके लिए साधन क्या ? यही कि सत्त्व-सातत्यसे सत्त्व गुणको आत्मसात् करके उसका अहकार, व भक्तिके द्वारा उसके फलकी आसक्ति को, जीतनेका प्रयत्न। इस साधनाके द्वारा सतत, अखड प्रयत्न करते हुए एक दिन आत्म-दर्शन हो जायगा। तबतक हमारे प्रयत्नका अत नही आ सकता। यह परम-पुरुषार्थकी बात है। आत्म-दर्शन कोई हँसी-खेल नही है। रास्ते चलते यो ही आत्म-दर्शन हो जायगा—ऐसा नही है। उसके लिए सतत प्रयत्नकी धारा बहानी होगी। परमार्थ-मार्गकी शर्त ही यह है कि मैं निराशाको तिलमात्र जगह न दू। क्षण भर भी मै निराश होकर न बैठू। इसके सिवा परमार्थका दूसरा साधन नही है। कभी-कभी साधक थक जाता है व कहने लगता है—

"तुम कारन तप संयम किरिया
कहो कहां लौं कीजै"

'भगवन्, मै तुम्हारे लिए कहा तक तप करता रहू ?' परतु यह कहना गौण है। तप व सयमका हम इतना अभ्यास कर लें कि वे हमारा स्वभाव ही बन जाय। कहातक साधना करते रहे, यह भाषा भक्ति-मार्गमे शोभा नही देती। अधीर-भाव, निराशा-भाव भक्ति कभी भी पैदा नही होने देगी, जी ऊबने जैसी कोई बात उसमे न होनी चाहिए। भक्तिमे उत्तरोत्तर उल्लास व उत्साह मालूम होता रहे, इसके लिए बहुत उम्दा विचार इस अध्यायमे बताया गया है।

(८४)

इस विश्वमे हमे अनत वस्तुए दिखाई देती है। इनके तीन भाग कर डालें। जब कोई भक्त सुबह उठता है तो तीन ही चीजें उसकी आखो-के सामने आती है। पहले उसका ध्यान भगवान्की तरफ जाता है। तब वह उनकी पूजाकी तैयारी करता है। मै सेवक भक्त, वह सेव्य भगवान्, स्वामी ये दो चीजें उसके पास सदैव तैयार रहती हैं; अब रही बाकी सृष्टि, सो वह है उसकी पूजाका साधन। फूल, गंध, धूप-दीप इनके लिए यह सारी सृष्टि है। तीन ही चीजें हैं—सेवक भक्त, सेव्य परमात्मा

व सेवा-साधनके रूपमे यह सृष्टि। यही शिक्षा इस अध्यायमे दी गई है। परंतु जो सेवक किसी एक मूर्तिकी पूजा करता है उसे सृष्टिके सब पदार्थ पूजाके साधन नहीं मालूम होते। वह बगीचेसे चार फूल तोड़कर लाता है, कहीसे अगर बत्ती ले आता है व कुछ नैवेद्य लगा देता है। वह चुनकर, छाटकर ही चीजें लेना चाहता है। परतु पद्रहवे अध्यायकी विशाल शिक्षाके अनुसार यह चुनाव करनेकी जरूरत नही है। जो कुछ भी तपस्याके साधन है, कर्मके साधन है, वे सब परमेश्वरकी सेवाके साधन है, उनमेंसे कुछको हम फूल कहेगे, कुछको गध, और किसीको नैवेद्य—इस तरह जितने भी कर्म है उन सबको पूजा-द्रव्य बना देना है। ऐसी यह दृष्टि है। बस, ससारमे सिर्फ ये तीन ही चीजें है। गीता जिस वैराग्यमय साधन-मार्गको हमारे मनपर अकित करना चाहती है उसीको वह भक्तिमय स्वरूप दे रही है। उसमेंसे कर्मता हट रही है और उसमे सुलभता ला रही है।

आश्रममे जब किसीको बहुत ज्यादा काम करना पडता है तब उसके मनमे यह विचार कभी नही आता—'मैं ही क्यो ज्यादा काम करू ?' इस बातमे बडा सार है। पूजकको यदि दोकी जगह चार घटे पूजा करनेको मिले तो क्या वह उकताकर ऐसा कहेगा—'अरे राम, आज तो चार घटा पूजा करनी पडी !' बल्कि उससे उसे अधिक ही आनद मालूम होगा। आश्रममे ऐसा अनुभव होता है। यही अनुभव हमे जीवनमें सर्वत्र होना चाहिए। जीवन सेवा-परायण हो जाना चाहिए। वह सेव्य पुरुषोत्तम, उसकी सेवाके लिए सदैव तत्पर मैं अक्षर पुरुष हू। अक्षर पुरुषका अर्थ है कभी भी न थकने वाला, सृष्टिके आरभसे लेकर सेवा करनेवाला सनातन सेवक, जैसे हनूमान रामके सामने सदैव हाथ जोडकर खड़े ही है। उन्हे आलस छू तक नहीं गया है। हनूमानकी तरह ही चिरजीव यह सेवक तत्पर खडा है।

ऐसे आजन्म सेवकका ही नाम अक्षर पुरुष है। 'परमात्मा'—यह सस्था जीवित है और मैं उसका सेवक भी सदैव कायम हू। प्रभु कायम है तो मैं भी कायम हू। देखे वह सेवा लेते हुए थकता है या मैं सेवा करते हुए ? यदि उसने दस अवतार लिये है तो मेरे भी दस अवतार हुए है।

वह राम हुआ है तो मै हनूमान, वह कृष्ण हुआ तो मै उद्धव । जितने उसके अवतार उतने ही मेरे भी । खासीं होड ही लग रही है । परमेश्वरकी इस तरह युग-युग सेवा करनेवाला, कभी नाश न पानेवाला यह जीव, अक्षर पुरुष है । वह पुरुषोत्तम स्वामी व मैं उसका बदा—सेवक । यह भावना एक-सी हृदयमे रखनी चाहिए । और यह प्रतिक्षण बदलनेवाली, अनत रूपोसे सजनेवाली सृष्टि, इसे पूजा-साधन, सेवाका साधन बनाना है । प्रत्येक क्रिया मानो पुरुषोत्तमकी पूजा ही है ।

सेव्य परमात्मा—पुरुषोत्तम, सेवक जीव—अक्षर पुरुष । परतु यह साधन-रूप सृष्टि क्षर है । इस 'क्षर' होनेमे बडा अर्थ है । सृष्टिका यह दूषण नही, भूषण है । इससे सृष्टिमे नित्य नवीनता आती है । कल के फल आज काम नही दे सकते । वे निर्माल्य हो गये । सृष्टि नाशमान् है, यह बडे भाग्यकी बात है । यह सेवाका वैभव है । रोज नवीन फूल सेवाके लिए तैयार मिलता है । उसी तरह मैं यह शरीर भी नया-नया धारण करके परमेश्वरकी सेवा करूगा । अपने साधनोको मैं नित्य नवीन रूप दूगा व उन्हीसे उसकी पूजा करूगा । इस नाशमानताके कारण यह सौंदर्य है । चद्रकी कला जो आज है वह कल नही । चद्रका रोज नया लावण्य दूजके उस बढते हुए चादको देखकर कितना आनद होता है ? शकरके ललाटपर यह दूजका चाद कैसा चमकता है ? अष्टमीके चद्रका सौन्दर्य कुछ और ही होता है । उस दिन आकाशमे चुनीदा मोती ही दिखाई देते है । पूर्णिमाको चद्रमा के तेजसे तारे नही दीखते । पूनोको परमेश्वरका मुख-चद्र दीखता है । अमावस्याका आनद तो बडा गभीर होता है । उसै रातको कितनी निस्तब्ध शाति छाई रहती है । चद्रमाके जालिम प्रकाश के हट जानेसे छोटे-बडे अगणित तारे बड़ी आजादीसे खुलकर चमकते रहते हैं । अमावस्याको स्वतत्रता पूर्ण-रूपसे विलास करती है । अपने तेजकी शान रखनेवाला चद्रमा आज वहां नहीं है । अपने प्रकाश दाता सूर्यसे वह आज एक-रूप हो गया है । वह परमेश्वरमें मिल गया है । उस दिन मानो वह दिखाता है कि जीव खुद आत्मार्पण करके किस तरह ससारको जरा भी दु ख न पहुचाए । चद्रका स्वरूप क्षर है, परिवर्तनशील है । परतु वह भिन्न-भिन्न रूपमें आनंद देता है ।

सृष्टिकी जो नाशवानता, नश्वरता है वही उसकी अमरता है। सृष्टिका रूप छलछल, बह रहा है। यह रूप-गगा यदि बहती न रहे तो उसका एक डोह बन जायगा। नदीका पानी अखड-रूपसे बहता रहता है। वह सतत बदलता रहता है। एक बूद गया दूसरा आया। अतः वह पानी जीवित रहता है। वस्तुमे जो आनद मालूम होता है वह उसकी नवीनताके कारण। गर्मियोमे परमात्माको और तरहके फूल चढ़ाये जाते है। बरसातमे हरी-हरी दूब चढाई जाती है। शरद ऋतुमें सुरम्य कमलके पुष्प। तत्तत् ऋतु-कालोद्भव फल-पुष्पोसे भगवान्‌की पूजाकी जाती है। इसीसे वह पूजा जगमग व नित्य नूतन मालूम होती है। उससे जी नहीं ऊबता। छोटे बच्चेको जब 'क' लिखकर कहते हैं "इस पर हाथ फेरो, इसे मोटा बनाओ।" तो यह क्रिया उसे उबा देनेवाली मालूम होती है। वह समझ नही पाता कि इसे मोटा क्यो बनाया जाता है। वह बत्ती आडी करके उसे जल्दी मोटा बना देता है। लेकिन फिर वह नये अक्षरोको, उनके समुदायको देखता है। तरह-तरहकी पुस्तके पढ़ने लगता है। 'साहित्यकी नानाविध सुमनमालाका अनुभव उसे होता है। तब उसे अपार आनद मालूम होता है। यही बात सेवा-प्रान्तकी है। साधनोकी नित्य नवीतासे सेवाकी उमंग बढ़ती है। सेवा-वृत्तिका विकास होता है।'

सृष्टिकी यह नाशवानता नित्य नये फूल खिला रही है। गावके निकट स्मशान है, इससे गाव रमणीय मालूम होता है। पुराने लोग जा रहे हैं, नये बालक जन्म ले रहे हैं। सृष्टि नित्य नवीन बढ़ रही है। बाहर का वह स्मशान यदि मिटा दोगे तो वह घरमे आकर बैठ जायगा। तुम ऊब उठोगे उन्ही-उन व्यक्तियोको रोज अखंड देख-देखकर। गर्मियोमें गर्मी पडती है। धरती तप जाती है। परंतु इससे तुम घबरा मत जाओ। यह रूप बदल जायगा। बरसातका सुख लेनेके लिए यह तपन जरूरी है। यदि जमीन खूब तपी न होगी तो पानी बरसते ही वह कीचड़ हो जायगी। फिर तृण-धान्य उसमें नहीं सजने पावेंगे। मै एक बार गर्मियोमें घूम रहा था। सिर तप रहा था। बड़ा आनंद आ रहा था। एक मित्रने मुझसे कहा—'सिर गरम हो जायगा। फिर तकलीफ होगी।' मैंने कहा—

'नीचे जमीन भी तो तप रही है। इस मिट्टीके पुतलेको भी जरा तपने दो।' अहा—इधर सिर तपा हुआ हो उधर पानीकी फुहारे पडने लगे—कैसी बहार हो। परतु जो गर्मियोमे तपता नही, वह पानी बरसनेपर भी अपनी पुस्तकमे सिर घुसाकर बैठा रहेगा। अपने कमरेमे, उस कब्रमे ही घुसा रहेगा। बाहरके इस विशाल अभिषेक-पात्रके नीचे खडा रहकर आनदसे नाच न उठेगा। परतु हमारे वे महर्षि मनु बडे रसिक व सृष्टि-प्रेमी थे। अपनी स्मृतिमे लिखते है—"जब पानी बरसने लगे तो छुट्टी कर दो।" जब बरसा हो रही हो तो क्या आश्रममे बैठे रहकर संथा रटते रहे? वर्षामे तो नाचना गाना चाहिए। सृष्टिसे एकरूप होना चाहिए। वर्षा मे पृथ्वी व आकाश एक-दूसरेसे मिलते है। यह भव्य दृश्य कितना आनद-दायी है? यह सृष्टि स्वत हमे शिक्षा दे रही है।

साराश, सृष्टिकी क्षरता, नाशवानता, का अर्थ है साधनोकी नवीनता। इस तरह यह नव-नव-प्रसवा साधनदात्री सृष्टि, कमर कसके सेवाके लिए खडा सनातन सेवक व वह सेव्य परमात्मा। अब चलने दो खेल। वह परम पुरुष पुरुषोत्तम नये-नये विचित्र सेवा-साधन देकर मुझसे प्रेम-मूलक सेवा ले रहा है। नाना प्रकारके साधन देकर वह मुझे खिला रहा है। तरह-तरहके प्रयोग मुझसे करा रहा है। यदि हमे जीवनमे ऐसी दृष्टि आजाय तो कितना आनद मिले।

(८५)

गीता चाहती है कि हमारी प्रत्येक कृति भक्तिमय हो। हम जो घटा-आध-घटा ईश्वरकी पूजा करते है सो तो ठीक ही है। प्रात काल व सायकाल जब सुदर सूर्य-प्रभा अपना रग छिटकाती है तब चित्तको स्थिर करके थोडी देरके लिए ससारको भूल जाना और अनतका चितन करना उत्तम विचार है। इस सदाचारको कभी न छोडना चाहिए। परतु गीताको इतनेसे सतोष नही है। सुबहसे शामतककी सारी क्रियाए भगवान्की पूजा के लिए होनी चाहिए। नहाते, खाते, चलते, झाडते उसका स्मरण रहना चाहिए। झाडते समय यह भावना होनी चाहिए कि मै अपने प्रभु, मेरे जीवन-देवका आगन साफ कर रहा हूं। हमारे

समस्त कर्म इस तरह पूजा-कर्म होजाने चाहिए। यदि यह दृष्टि आ गई तो फिर देखियेगा आपके व्यवहारमे कितना अतर पड़ जायगा। हम कितनी चितासे पूजाके लिए फूल चुनते है, उन्हे जतनसे सभाल कर रखते है, वे दब न जाय, कुचल न जाय, कुम्हला न जाय इसका कितना ध्यान रखते हैं ? कही मलिन न हो जाय, इस खयालसे उन्हे नाकके पास नही ले जाते। यही दृष्टि, यही भावना हमारे जीवनके प्रतिदिनके कर्मोंमें हो जानी चाहिए। अपने इस गावमें मेरे पडौसीके रूपमें मेरा नारायण, मेरा प्रभु ही तो रम रहा है। अत इस गांवको मै साफ-सुथरा, निर्मल रखूगा। गीता हमे यह दृष्टि देना चाहती है। गीताकी उच्च आकांक्षा यह है कि हमारे तमाम कर्म प्रभु-पूजा ही हो जाय। गीता जैसे ग्रथराज को घटा-आध घटा की पूजासे समाधान नही। सारा जीवन हरिमय होना चाहिए, पूजा-रूप होना चाहिए, यह गीताकी उत्कट इच्छा है।

गीता पुरुषोत्तम-योग बताकर कर्ममय जीवनको पूर्णता पर पहुचाती है। वह सेव्य पुरुषोत्तम, मै उसका सेवक व सेवाके साधन-रूप यह सारी सृष्टि—यदि इस बातका दर्शन हमे एकबार हो जाय तो फिर और क्या चाहिए ? तुकाराम कह रहे है—

होयगा दर्शन तो करूंगा सेवा।
और कुछ नहीं, चाहूं प्रभो ॥

फिर तो अखड सेवा ही हमसे होती रहेगी। तब 'मै'—जैसा कुछ रही नही जायगा। मै मेरापन सब पोछ डालूगा, अब जो कुछ है व होगा सब परमात्माके लिए। पर-हितार्थ जीनेके सिवा दूसरा विषय ही नही रहेगा। गीता पुकार-पुकार कर यही कह रही है कि मैं अपनेमें से मै-पनको निकालकर हरिपरायण जीवन बनाऊ, भक्तिमय जीवन रचू। सेव्य परमात्मा, मैं सेवक व साधन-रूप यह सृष्टि। परिग्रहका नाम कहा रहा ? जीवनमे अब किसी बातकी चिंता ही नही रही ?

(८६)

इस तरह अबतक हमने यह देखा कि कर्ममें भक्तिका योग करना चाहिए। परतु उसमे ज्ञानकी पुट भी जरूरी है। नही तो गीताको

संतोष न होगा। परन्तु इसका अर्थ यह नही कि ये तीनों चीजें भिन्न-भिन्न है, सिर्फ समझनेके लिए हम तीन जुदा-जुदा भाषा बोलते हैं। कर्मका मतलब ही है भक्ति। भक्ति कोई अलगसे लाकर कर्ममें मिलानी नही पड़ती। यही बात ज्ञानकी है। यह ज्ञान मिलेगा कैसे ? गीता कहती है—"सर्वत्र पुरुष-दर्शनसे।" तुम सेवा करनेवाले सनातन सेवक—तुम सेवा पुरुष, वह पुरुषोत्तम सेव्य पुरुष; और नाना रूपधारिणी, प्रवाहमयी, नाना साधनदायिनी यह सृष्टि, वह भी पुरुष ही।

ऐसी दृष्टि रखनेका अर्थ क्या ? सर्वत्र त्रुटिरहित निर्मल सेवा-भाव रखना ! तुम्हारे पैरकी जूती चर्र-चू बज रही है—जरा उसे तेल दे दो; उसमें भी परमात्माका ही अंश है, अतः उसे सभालकर अच्छी हालतमे रखना चाहिए। यह सेवाका साधन चर्खा उसमें भी तेल डालो। देखो वह आवाज दे रहा है। 'नेति-नेति' सूत नही कातूगा, कहता है। यह चरखा—यह सेवा-साधन—यह भी पुरुष ही है। इसकी माल, उसकी यह जनेऊ, उसे भली प्रकार रक्खो। सारी सृष्टिको चैतन्य-मय मानो। इसे जड मत समझो। ॐकारका सुदर गान करनेवाला वह चरखा, क्या जड है ? वह तो परमात्माकी मूर्ति ही है। श्रावणकी अमावस्या-को हम अहकार छोडकर बैलकी पूजा करते हैं। बड़ी भारी बात है यह। इस उत्सवका खयाल रोज करके, बैलोको अच्छी हालतमे रखकर, उनसे उचित काम लेना चाहिए। उत्सवके दिनकी भक्ति उसी दिन समाप्त न होनी चाहिए। बैल भी परमात्माकी ही मूर्ति है। वह हल, खेतीके सब औजार, इन्हें अच्छी हालतमें रखूगा। सेवाके सभी साधन पवित्र होते हैं। कितनी विशाल है यह दृष्टि। पूजा करनेका अर्थ यह नहीं है कि गुलाल, गधाक्षत व फूल चढावे। उन बरतनोको कांचकी तरह साफ-सुथरा रखना बरतनोकी पूजा है। दियेको साफ पोछना दीपक-पूजा है। हसियेको तेज करके घास काटनेके लिए तैयार रखना उसकी पूजा है। दरवाजेका कब्जा जग खायगा तो उसे तेल लगाकर संतुष्ट कर देना उसकी पूजा है। जीवनमें सर्वत्र इस दृष्टिसे काम लेना चाहिए। सेवा-द्रव्यको उत्कृष्ट व निर्मल रखना चाहिए। सारांश यह कि मैं अक्षर-पुरुष वह पुरुषोत्तम व साधन-रूप यह सृष्टि; वह भी पुरुष ही, परमात्मा ही।

सर्वत्र एक ही चैतन्य रम रहा है। जब यह दृष्टि आ गई तो समझ लो कि हमारे कर्ममें ज्ञान भी आगया।

पहले कर्ममें भक्तिकी पुट दो, अब ज्ञानका भी योग कर दिया तो इससे एक अपूर्व जीवन-रसायन बन गया। गीताने हमें अतमें अद्वैतमय सेवाके रास्ते पर लाकर छोड़ दिया। इस सारी सृष्टिमें जहां देखिए वहां तीन पुरुष विद्यमान हैं। एक ही पुरुषोत्तमने ये तीन रूप धारण किये हैं। तीनोंको मिलाकर वास्तवमें एक ही पुरुष है। केवल अद्वैत है। यहां गीताने हमें सबसे ऊचे शिखरपर लाकर बिठा दिया है। कर्म, भक्ति, ज्ञान सब एक-रूप हो गये। जीव, शिव, सृष्टि सब एक-रूप, एक-जीव हो गये। कर्म, भक्ति व ज्ञान में कोई विरोध नही रह गया। ज्ञानदेवने अमृतानुभवमें अपना प्रिय दृष्टान्त दिया है।

देव, मन्दिर, परिवार—बनाया काट डूंगर
ऐसा भक्तिका आचार—क्यों न होवे ?

एक ही पत्थरको कुरेद कर उसीका मदिर बनाया, उस मदिरमें पत्थर की ही गड़ी हुई एक भगवान्की मूर्ति और उसके सामने पत्थरका ही एक भक्त, उसके पास पत्थरके ही बनाये हुए फल ये जैसे सब एक ही पत्थरकी चट्टानमें खोद-काटकर बनाते हैं—एक ही अखड पत्थर अनेक-रूपोंमें सजा हुआ है, वैसा ही भक्तिके व्यवहारमें भी क्यो न होना चाहिए ? स्वामि-सेवक-सबध रहकर भी एकता क्यो नही हो सकती ? यह बाह्य सृष्टि, यह पूजा-द्रव्य जुदा रहकर भी वह आत्म-रूप क्यो न हो जाय ? तीनों पुरुष एक ही तो है। ज्ञान, कर्म, भक्ति इन तीनोको मिलाकर एक विशाल जीवन-प्रवाह बना दिया जाय। ऐसा यह परिपूर्ण पुरुषोत्तम-योग है। स्वामी, सेवक व सेवा-द्रव्य सब एक-रूप ही है— अब भक्ति-प्रेमका खेल खेलना है।

ऐसा यह पुरुषोत्तम-योग जिसके हृदयमे अंकित हो जाय वही सच्ची भक्ति करता है।

"स सर्वविद् भजति मां सर्व भावेन भारत"

ऐसा पुरुष ज्ञानी होकर भी सोलहों आना भक्त रहता है। जिसमें

ज्ञान है, उसमे प्रेम हुई है । परमेश्वरका ज्ञान व परमेश्वरका प्रेम ये दो अलग चीजें नही है। 'करैला कड़ुआ' ऐसा ज्ञान उत्पन्न हुआ कि फिर प्रेम नही उत्पन्न होता । एकाध अपवाद होगा भी । परतु जहां कड़ुए-पनका अनुभव हुआ कि जी ऊबा । परतु मिश्रीका ज्ञान होते ही वह गलने लगा । तुरत ही प्रेमका स्रोत उमड पडता है । परमेश्वरके विषयमे ज्ञान होना और प्रेम उत्पन्न होना दोनो बातें एक ही है। परमेश्वरके रूपकी मधुरताकी उपमा क्या रही शकरसे दी जाय ? उस परमेश्वरका ज्ञान होते ही उसी क्षण प्रेम-भाव भी पैदा हो जायगा । यही मानिये कि ज्ञान होना व प्रेम होना ये दो मानो भिन्न क्रियाए नही हैं। अद्वैतमे भक्तिको स्थान है या नही इस बहसमे कुछ नही रखा है । ज्ञानदेव कहते है—

सो ही भक्ति, सो ही ज्ञान ।
एक विट्ठल ही जान ॥

भक्ति व ज्ञान एक ही वस्तुके दो नाम है ।

जब जीवनमे परम भक्ति का सचार हो गया तो फिर जो कर्म होगा वह भक्ति व ज्ञान से अलग नही रहता । कर्म, भक्ति व ज्ञान मिल कर एक ही रमणीय रूप बन जाता है । इस रमणीय रूपसे अद्भुत प्रेममय ज्ञानमय सेवा सहज ही उत्पन्न होती है । मा पर प्रेम है, किंतु यह प्रेम कर्मके द्वारा प्रकट होना चाहिए । प्रेम सदैव मरता, खपता रहता है, सेवा-रूपमे व्यक्त होता रहता है । प्रेमका बाह्य रूप है सेवा । प्रेम अनत सेवा-कर्मके द्वारा सजकर नाचता है । प्रेम हो तो फिर ज्ञान भी वहा आ जाता है । जिसकी सेवा मुझे करनी है उसे कौनसी सेवा प्रिय है, या प्रिय होगी इसका ज्ञान मुझे होना चाहिए; नही तो यह सेवा अ-सेवा या कु-सेवा हो रहेगी । सेव्य वस्तुका ज्ञान प्रेमको होना चाहिए । प्रेमका प्रभाव कार्य द्वारा फैलानेके लिए ज्ञानकी आवश्यकता है । परतु उसके मूलमे प्रेम होना चाहिए । वह न हो तो ज्ञान निरुपयोगी, बेकार हो जाता है । प्रेमके द्वारा होनेवाला कर्म मामूली कर्मसे जुदा होता है । खेतसे थके-मादे आये लडकेपर मा सहज प्रेमकी दृष्टि डालती है व कहती

है—"बेटा थक गये हो ?" परतु इस छोटे-से कर्ममें, देखिए, तो, कितना सामर्थ्य है। अपने जीवनके समस्त कर्मोमे ज्ञान व भक्तिको ओत-प्रोत कीजिए। यही पुरुषोत्तम-योग कहलाता है।

(८७)

यह सब वेदोका सार है । वेद अनन्त है। परतु उन अनत वेदोका सार-सक्षिप्त यह पुरुषोत्तम-योग है। यह वेद है कहा ? वेदोकी बात विचित्र है। वेदोका सार है कहा ? अध्यायके आरभमे ही कहा है—"पत्र हैं जिसके वेद।" भाई, वेद तो इस वृक्षके एक-एक पत्तेमे भरे हुए है। वेद उन सहिताओमें, आपके ग्रथो व पोथियोमे छिपे हुए नही है। वह विश्वमे सर्वत्र फैले हुए, छाये हुए है। शेक्सपीअर क्या कहता है—

"बहते हुए झरनोमें सद्ग्रथ मिलते है, पत्थरो-चट्टानोसे प्रवचन सुनाई पडते हैं।" मतलब यह कि वेद न सस्कृतमे है, न सहिताओमे, वे सृष्टिमे हैं। सेवा करो तो वे दिखाई देगे। "प्रभाते करदर्शनम्"। सुबह उठते ही अपनी हथेली देखनी चाहिए। सारे वेद उसी हाथमे भरे हैं। वह वेद कहता है "सेवा करो" कल हाथने काम किया था या नही, आज करने योग्य है या नही, उसमें कामके निशान हुए है या नही, यह देखिए। सेवा करके जब हाथ थकता है तो फिर ब्रह्मलिखित खुलता है, पढा जा सकता है। यह अर्थ है "प्रभाते करदर्शनम्" का।

पूछते है वेद कहा है ? भाई, तुम्हारे हाथोमे ही तो है। शकराचार्यके लिए कहते है कि उन्हे आठवे साल ही सारे वेदोका ज्ञान हो गया था। बेचारे शकराचार्य तो थे मद-बुद्धि। उन्हे आठ साल लग गये ! परंतु हमें-तुम्हे तो जन्मत ही वे प्राप्त है। आठ सालकी भी क्या जरूरत ? मै खुद ही जीता-जागता वेद हू। अबतककी सारी परपरा मुझमे आत्मसात हुई है। मै उस परपराका फल हू। उस वेद-बीजका जो फल है वही तो मै हू। अपने फलमे मैने अनत वेदोका बीज संचित कर रखा है। मेरे उदरमे वेद पाच-पचास गुना बडे हो गये है। साराश, वेदोका सार हमारे हाथोमें है। सेवा, प्रेम व ज्ञान इनकी नीव पर हमें जीवन रचना होगा। इसीका अर्थ है वेद हाथोमे है। मैं जो अर्थ करूंगा वही वेद होगा,

वेद कही बाहर नही है। सेवा-मूर्ति सत कहते हैं—"वेदोंका सो अर्थ जानें एक हमी।" भगवान् बता रहे हैं—"सारे वेद मुझे ही जानते है। मैं ही सब वेदोका अर्क, सार पुरुषोत्तम हूं।" यह जो वेदोका सार, पुरुषोत्तम-योग है, उसे यदि हम अपने जीवनमें आत्मसात् कर सके तो कितनी बहार हो! तो फिर ऐसा पुरुष जो कुछ करेगा, गीता सुझाती है कि उसमेसे मानो वेद ही प्रकट हो रहे हैं। इस अध्यायमे सारी गीताका सार आ गया है। गीताकी शिक्षा इसमें पूर्ण-रूपसे प्रकट हुई है। उसे अपने जीवनमे उतारनेका हमें रात-दिन प्रयत्न करना चाहिए; और क्या?

सोलहवां अध्याय

रविवार, ५–६–३२

(८८)

गीताके पहले पांच अध्यायोमे हमने जीवनकी सारी योजना क्या है, और हम अपना जन्म सफल कैसे कर सकते है, यह देखा। उसके बाद छठे अध्यायसे ग्यारहवे अध्यायतक हमने भक्तिका भिन्न-भिन्न प्रकारसे विचार किया। ग्यारहवेमें भक्तिका दर्शन हुआ। बारहवेमे सगुण व निर्गुण भक्तिकी तुलना करके भक्तके महान् लक्षणोको जाना। बारहवे अध्यायके अत तक कर्म व भक्ति इन दो तथ्योकी छानबीन हुई। ज्ञानका तीसरा विभाग रह गया था, उसको हमने तेरह, चौदहवर्वे पद्रह अध्यायोमें देख लिया—आत्माको देहसे अलग करना व उसके लिए तीनो गुणोको जीतकर अतमें सर्वत्र प्रभुको देखना। पद्रहवें अध्यायमे जीवनका सपूर्ण शास्त्र देख लिया। पुरुषोत्तम-योगमें जीवनकी पूर्णता होती है। उसके बाद फिर कुछ बाकी नही रहता।

कर्म, ज्ञान व भक्ति इनकी पृथक्ता मुझे सहन नही होती। कुछ साधकोकी अपनी निष्ठा ऐसी होती है कि उन्हें सिर्फ कर्म ही सूझता है। कोई भक्तिके स्वतत्र मार्गकी कल्पना करते है और उसीपर सारा जोर देते हैं। कुछ लोगोका झुकाव ज्ञानकी ओर होता है। जीवन माने केवल कर्म, केवल भक्ति, केवल ज्ञान—ऐसा 'केवल' वाद मुझे माननेकी इच्छा नही होती। इसके विपरीत कर्म, भक्ति व ज्ञानके योग-रूप समुच्चय-वादको भी मैं नही मानता। कुछ भक्ति, कुछ ज्ञान व कुछ कर्म ऐसा उपयोगितावाद भी मुझे नही जचता। पहले कर्म, फिर भक्ति, फिर ज्ञान इस तरहके क्रमवादको भी मैं नहीं स्वीकारता। तीनों चीजोका मेल मिलाया जाय इस तरहका सामजस्य भी मुझे मजूर नही है। मुझे तो यह अनुभव करनेकी इच्छा होती है कि जो कर्म है वही भक्ति है, और वही

ज्ञान है। बर्फीके एक टुकडेकी मिठास, उसका आकार और उसका वजन ये बाते अलग-अलग नही है। जिस क्षण हम बर्फीका टुकडा मुहमे डालते है उसी क्षण उसका आकार भी हमने खा लिया, उसका वजन भी पचा लिया और उसकी मिठास भी चख ली। तीनो बाते एकत्र एक-साथ है। बर्फीके प्रत्येक कणमे आकार, वजन व मधुरता है। यह नही कि उसके एक टुकड़ेमें केवल आकार है, दूसरेमें कोरी मिठास है, व तीसरेमे सिर्फ वजन ही है। उसी तरह जीवनकी प्रत्येक क्रियामे परमार्थ भरा रहना चाहिए---प्रत्येक कृत्य सेवामय, प्रेममय व ज्ञानमय होना चाहिए। जीवनके सब अग-प्रत्यगमे कर्म, भक्ति व ज्ञान भरा रहना चाहिए, इसे पुरुषोत्तम-योग कहते है। सारे जीवनको एक परमार्थमय ही कर डालना--यह बात कहनेमे तो बड़ी आसान है, परतु इस उच्चारमे जो भाव है उसका यदि विचार करने लगे तो केवल निर्मल सेवा करनेके लिए अत करणमे शुद्ध ज्ञान-भक्तिकी हार्दिकता गृहीत समझकर चलना होगा। इसलिए कर्म, भक्ति व ज्ञान अक्षरश: एक रूप है इस परम दशाको पुरुषोत्तम-योग कहते है। यहा जीवनकी अतिम सीमा आ गई।

अब आज इस सोलहवे अध्यायमे क्या कहा गया है ? जिस प्रकार सूर्योदय होनेके पहले उसकी प्रभा फैलने लगती है उसी तरह जीवनमे कर्म, भक्ति व ज्ञानसे पूर्ण पुरुषोत्तम-योगके उदय होनेके पहले सद्गुणोकी प्रभा बाहर प्रकट होने लगती है। परिपूर्ण जीवनकी इस आगामी प्रभा का वर्णन इस सोलहवे अध्यायमे किया गया है। किस अंधकारसे झगड कर यह प्रभा प्रकट होती है उसका भी वर्णन इसमे किया गया है। किसी चीजके सबूतके तौर पर हम कुछ चीजोकी माग करते है। सेवा, भक्ति व ज्ञान हमारे जीवनमें आ गये है, यह कैसे जाना जाय ? खेत पर हम मिहनत करते हैं तो उसके फलस्वरूप अनाजकी फसल हम तौल-नाप कर घर ले आते है। इसी तरह हम जो साधना करते है, उससे हमें क्या-क्या अनुभव हुए, कितनी सद्वृत्तिया गहरी पैठी, कितने सद्गुण प्रविष्ट हुए, जीवन सचमुच सेवामय कितना हुआ, इसकी जाच करनेकी ओर यह अध्याय सकेत करता है। जीवनकी कला कितनी बढ़ी व चढी है इसे नापने के लिए यह अध्याय कहता है। जीवनकी इस वृद्धिमती कलाको गीता

दैवी-सम्पत्ति कहती है। इसके विरुद्ध जो वृत्तिया है उन्हें आसुरी कहा है। सोलहवे अध्यायमें दैवी व आसुरी सम्पत्तियोका सघर्ष बताया गया है।

(८९)

जिस तरह पहले अध्यायमे एक ओर कौरव-सेना व दूसरी ओर पाडव-सेना आमने-सामने खडी की है, उसी तरह यहा सद्गुण-रूपी दैवी सेना व दुर्गुण-रूपी आसुरी सेना एक-दूसरेके सामने खडी की है। बहुत प्राचीन-कालसे मानवी मनमे सदसत्-प्रवृत्तियोका जो झगडा चल रहा है उसका रूपकात्मक वर्णन करनेकी परिपाटी पड गई है। वेदमे इद्र व वृत्र, पुराणोमे देव व दानव, वैसे ही राम व रावण, पारसियोके धर्मग्रंथोंमे अहुरमज्द और अहरिमान, ईसाई मजहबमे प्रभु व शैतान, इस्लाममें अल्लाह व इब्लीस—इस तरहके झगड़े सभी धर्म-ग्रन्थोमे आते हैं। काव्य मे स्थूल विषयोका वर्णन सूक्ष्म-वस्तुओके रूपकोके द्वारा किया जाता है तो धर्म-ग्रथोमे सूक्ष्म मनोभावनाओका वर्णन उन्हे चटकीला स्थूल रूप देकर किया जाता है। काव्यमें स्थूलका सूक्ष्म द्वारा वर्णन किया जाता है तो यहा सूक्ष्मका स्थूलके द्वारा। इससे यह सूचित नही करना है कि गीताके आरभमे जो युद्धका वर्णन है वह काल्पनिक है। हो सकता है कि वह ऐतिहासिक घटना हो, परतु कवि यहा उसका उपयोग अपने इष्ट हेतुको सिद्ध करनेके लिए कर रहा है। कर्त्तव्यके विषयमे जब मनमे मोह पैदा हो जाता है तब मनुष्यको क्या करना चाहिए, यह बात युद्धके एक रूपकके द्वारा समझाई गई है। इस सोलहवे अध्यायमे भलाई व बुराईका झगड़ा बताया गया है। गीतामे युद्धका रूपक भी दिया गया है।

कुरुक्षेत्र बाहर भी और हमारे भीतर भी है। बारीकीसे देखा जाय तो जो झगडा हमारे मनमें होता या रहता है, वही हमें बाहरी जगत्मे मूर्तिमान् दिखाई देता है। बाहर जो मुझे अपना शत्रु खडा दीखता है वह मेरे ही मनका विचार साकार-रूप होकर खडा है। आइनेमें जिस प्रकार मेरा ही बुरा-भला प्रतिबिंब मुझे दीखता है उसी तरह मेरे मनके बुरे-भले विचार मुझे बाहर शत्रु-मित्रके रूपमे दिखाई देते है। जैसे हम जागृतिमें स्वप्नको देखते है उसी तरह जो हमारे मनमें है वही हम बाहर

देखते हैं। भीतरके व बाहरके युद्धमें कोई फर्क नहीं है। सच पूछिए तो असली युद्ध तो भीतर ही होता है।

हमारे अत करणमें एक ओर सद्गुण तो दूसरी ओर दुर्गुण खड़े हैं। उन्होने अपनी-अपनी व्यूह-रचना ठीक-ठीक कर रखी है। सेनामें जिस प्रकार सेनापति आवश्यक है वैसे यहा भी सद्गुणोंने एक सेनापति बना रक्खा है। उसका नाम है 'अभय'। इस अध्यायमें अभयको पहला स्थान दिया गया है । यह कोई आकस्मिक बात नही है। जान-बूझकर ही इस 'अभय' शब्दको पहला स्थान दिया होगा। बिना अभयके कोई भी गुण पनप नही सकता। सच्चाईके बिना सद्गुणका कोई मूल्य नहीं है। किंतु सच्चाईके लिए निर्भयता आवश्यक है। भयभीत वातावरणमे सद्गुण फैल नही सकते। बल्कि उसमें वे भी दुर्गुण बन जायगे। सत्प्र-वृत्तिया भी कमजोर पड जायगी। निर्भयता सब सद्गुणोका मुख्य नायक है। परन्तु सेनाको आगे-पीछे दोनों तरफ सभालना पडता है। सीधा हमला तो सामनेसे होता है, परतु पीछेसे चुपचाप चोर हमला भी हो सकता है। सद्गुणोके सामने 'अभय' खम ठोक कर खडा है, तो पीछेसे 'नम्रता' रक्षा कर रही है। इस तरह यह बडी बढिया रचना की गई है। यहा कुल छब्बीस गुण बताये गये है। इनमे ये पच्चीस गुण प्राप्त हो गये व यदि कही उसका अहकार हो गया तो पीछेसे एकाएक चोर-हमला होकर सारी कमाई खो जानेका भय है। इसलिए पीछे 'नम्रता' सद्गुणको रक्खा गया है। यदि नम्रता न हो तो यह जय कब पराजयमे परिणत हो जायगी, यह ध्यानमे भी नही आयगा। इस तरह सामने 'निर्भयता' व पीछे 'नम्रता' को तैनात करके सब सद्गुणोका विकास किया जा सकेगा। इन दो महान् गुणोके बीच मे जो चौबीस गुण रखे गये हैं वे करीब सब अहिंसाके ही पर्यायवाची है ऐसा कहे तो अनुचित नही। भूत-दया, मार्दव, क्षमा, शान्ति, अक्रोध, अहिंसा, अद्रोह ये सब अहिंसाके ही दूसरे नाम है। अहिंसा व सत्य इन दो गुणोंमें सब सद्गुणोका समावेश हो जाता है। सब सद्गुणोका यदि सक्षेप किया जाय तो अतमें अहिंसा व सत्य यही दो बाकी रह जायगे। शेष सब सद्गुण इनके उदरमें समा जायगे। परतु निर्भयता और नम्रताकी बात जुदा है। निर्भयतासे प्रगति की जा सकती है,

व नम्रतासे बचाव होता है। (निर्भयता सत्यका व नम्रता अहिंसाका प्रतीक है।) सत्य व अहिंसा इन दो गुणोंकी पूंजी लेकर निर्भयता पूर्वक आगे बढ़ते रहना चाहिए। जीवन विशाल है। उसमें हमें बेरोक सचार करते चले जाना चाहिए। पांव इधर-उधर गलत न पड़ जाय, इसके लिए नम्रताके साथ रहनेसे फिर कोई खतरा नही रह जाता। अब शौकसे सत्य-अहिंसाके प्रयोग सर्वत्र करते हुए आगे चले जाइए। तात्पर्य यह कि सत्य व अहिंसाका विकास निर्भयता व नम्रताके द्वारा होता है।

इस तरह एक ओर जहां सद्‌गुणोकी फौज खडी है तहां दूसरी ओर दुगणोकी भी तैयार है। दंभ, अज्ञान आदि दुर्गुणोंके सबधमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। इनमे हमारा नित्यका परिचय है। दम्भके तो जैसे हम आदी हो गये हैं। सारा जीवन ही मानो दंभकी बुनियाद पर खडा किया गया है। अज्ञानके बारेमे कहा जाय तो वह एक ऐसा मनोहर कारण बन गया है, जिसे हम कदम-कदम पर आगे कर देते हैं। मानो अज्ञान कोई बडा गुनाह ही न हो। परतु भगवान् कहते हैं— 'अज्ञान पाप है।' सुकरातने इससे उल्टा कहा था। अपने मुकदमेके दौरानमे उसने कहा—'जिसको तुम पाप समझते हो वह अज्ञान है और अज्ञान क्षम्य है। अज्ञानके बिना पाप हो ही कैसे सकता है, और अज्ञानको तुम सजा कैसे दोगे?' परतु भगवान् कहते हैं "अज्ञान भी पाप ही है।" कानूनमें कहा है कि कानूनका अज्ञान सफाईकी दलील नही हो सकती। ईश्वरीय कानूनका अज्ञान भी बहुत बड़ा अपराध है। भगवान्‌के व सुकरातके कथनका भावार्थ एक ही है। अपने अज्ञानकी ओर किस दृष्टिसे देखना चाहिए यह भगवान् बताते हैं तो दूसरेके पापकी ओर किस दृष्टिसे देखना चाहिए, यह सुकरात बताता है। दूसरेके पाप क्षमा करने चाहिए, परतु खुदके अज्ञानको भी क्षमा करना पाप है। अपना अज्ञान तो हमें जरा भी शेष न रखना चाहिए।

(९०)

इस तरह एक ओर दैवी सम्पत्ति व दूसरी ओर आसुरी-सम्पत्ति—ऐसी दो सेनाएं खडी हैं। इसमेंसे आसुरी सम्पत्तिको छोड़ना व दैवीको

पकड लेना चाहिए। सत्य, अहिसा आदि दैवी गुणोका विकास अनादि कालसे होता चला आया है। बीचमे जो काल गया उसमे भी बहुत-कुछ विकास हुआ है, तो भी अभी बहुत विकास बाकी है। विकासकी मर्यादा खतम हो गई हो सो बात नही। जबतक हमे सामाजिक शरीर प्राप्त है तबतक विकासके लिए हमे अनत अवकाश है। वैयक्तिक विकास हो गया तो भी सामाजिक, राष्ट्रीय, जागतिक विकास शेष रहता ही है। व्यक्तिको अपने विकासका खाद देकर फिर समाज, राष्ट्रके लाखो व्यक्तियोके विकासकी शुरूआत करनी होती है। जैसे मानव द्वारा अहिंसाका विकास अनादि कालसे हो रहा है तो भी, आज भी, वह विकास-क्रिया जारी ही है।

अहिसाका विकास किस तरह होता गया, यह देखने लायक है। उससे यह समझमे आजायगा कि पारमार्थिक जीवनका विकास किस तरह उत्तरोत्तर हो रहा है और उसे अभी कितना पूर्ण अवकाश है। पहले अहिंसक मानव यह विचार करने लगा कि हिंसक लोगोके हमलेसे कैसे बचाव किया जाय? शुरूमे समाजकी रक्षाके लिए क्षत्रियवर्ग बनाया गया। परतु वह आगे जाकर समाज भक्षण करने लगा। तब इन उन्मत्त क्षत्रियोसे समाजका बचाव कैसे किया जाय, यह विचार अहिंसक ब्राह्मण करने लगे। परशुरामने खुद, अहिसक होकर भी हिसाका अवलबन किया व क्षत्रियोका वे विनाश करने लगे। क्षत्रियोसे हिसा छुडानेके लिए वे स्वत हिसक बने। यह अहिसाका ही प्रयोग था। परतु वह सफल नही हुआ। इक्कीस बार क्षत्रियोका सहार उन्होने किया, फिर भी क्षत्रिय बच ही रहे। क्योकि यह प्रयोग मूलमे ही गलत था। जिन क्षत्रियोको नष्ट करने वे चले थे उनमे एक और क्षत्रिय बढ गया। तो फिर वह क्षत्रिय वर्ण नष्ट कैसे होता? खुद ही हिसक क्षत्रिय बन गया। वह बीज ता कायम ही रहा। बीजको कायम रखकर जो झाड-पेड तोडता है उसे वे पेड पुन-पुन पैदा हुए ही दीखेगे। परशुराम थे भले आदमी। परतु उनका प्रयोग बडा विचित्र हुआ। स्वत क्षत्रिय बनकर वे पृथ्वीका निःक्षत्रिय बनाना चाहते थे। सच तो यह कि उन्हे खुदसे ही प्रयोग शुरू करना चाहिए था। उन्हे चाहिए था कि पहले वे खुद अपना ही सिर

उडा देते । परतु मै जो यहा परशुरामका दोष दिखा रहा हू सो इस खयाल से नही कि मै उनसे ज्यादा बुद्धिमान् हू । मै तो बच्चा हूं, परतु उनके कधेपर खडा हू, इससे मुझे अनायास अधिक दूर दिखाई देता है । परशु-रामके प्रयोगकी बुनियाद ही गलत थी । हिंसामय होकर हिंसा दूर करना सभव नही । इससे उल्टा हिंसकोकी सख्या अलबत्ते बढती है । परतु उस समय यह बात ध्यानमे नही आई । उस समयके भले-भले आदमियोने, महान् अहिंसामय लोगोने जैसा उन्हे सूझा, प्रयोग किया । परशुराम उस कालके महान् अहिंसावादी थे । हिंसाके उद्देश्यसे उन्होने हिंसा नहीं की । अहिंसाकी स्थापनाके लिए उन्होने हिंसाका अवलबन किया था ।

किंतु वह प्रयोग असफल हो गया । बादमे रामका युग आया । उस समय फिर ब्राह्मणोने विचार शुरू किया । उन्होने हिंसा छोड दी थी । उन्होने निश्चय किया था कि हम खुद तो हिंसा नही करेगे । परंतु तब राक्षसोके आक्रमणसे बचाव कैसे हो ? उन्होने सोचा कि ये क्षत्रिय हिसा करनेवाले तो हई है । उन्हीसे राक्षसोका सहार करा डालना चाहिए । काटेसे काटा निकाल डालना चाहिए । हम खुद अपने अलग-थलग बने रहे । सो विश्वामित्रने राम-लक्ष्मणको ले जाकर उनसे राक्षसो-का सहार करवाया । आज हम ऐसा विचार करते हैं कि जो अहिंसा स्वसरक्षित नही है, जिसके अपने पाव नही है, ऐसी लगडी-लूली अहिंसा खडी कैसे रहेगी ? परतु वसिष्ठ-विश्वामित्र जैसोको क्षत्रियोके बलपर अपनी रक्षा करा लेनेमें कोई दोष या त्रुटि नही मालूम हुई । परतु यदि रामके जैसा क्षत्रिय न मिला होता तो ? विश्वामित्रने कहा होता, 'मैं मर भले ही जाऊ, पर हिंसा नही करूगा ।' क्योकि हिंसक बनकर हिंसा करनेका प्रयोग हो चुका था । अब इतना तो निश्चित हो ही चुका था कि खुद अहिंसा नही छोड़ेंगे । कोई क्षत्रिय यदि नही मिला तो अहिंसक मर जाना पसद करेगे—यह भूमिका अब तैयार हो चुकी थी । विश्वामित्रके साथ जाते हुए राम पूछते हैं—'ये ढेर किस चीज के हे ?' विश्वामित्र ने कहा—"ये ब्राह्मणो की हड्डियों के ढेर हैं । अहिंसक ब्राह्मणोंने आक्र-मणकारी हिंसक राक्षसोका प्रतिकार न किया । वे मर मिटे । उन्हीकी हड्डियोंके ये ढेर हैं ।" इस अहिंसामें ब्राह्मणोका त्याग तो था, परंतु साथ

ही दूसरोसे अपने सरक्षणकी अपेक्षा वे रखते थे। ऐसी दुर्बलताके रहते हुए अहिंसा पूर्णताको नही पहुच सकती थी।

आगे तीसरा प्रयोग सतोने किया। उन्होने तय किया—"हम अपने बचावके लिए दूसरोकी सहायता कदापि नही लेगे। हमारी अहिंसा ही हमारा बचाव करेगी। ऐसा बचाव ही सच्चा बचाव होगा।" इनका यह प्रयोग व्यक्ति-निष्ठ था। इस व्यक्तिगत प्रयोगको उन्होने पूर्णता तक पहुचा दिया, परतु आखिर रहा यह व्यक्तिगत ही। समाज पर यदि हिंसक लोगोके हमले होते व समाज सतोसे आकर पूछता कि 'अब क्या करे' तो शायद सत उसका निश्चित उत्तर न दे पाते। व्यक्तिगत जीवनमे परिपूर्ण अहिसा ले आने वाले वे सत समाजको यही जवाब दे पाते—'भाई, हम लाचार है।' सतोकी इस प्रकार कमी बताना मेरा बाल-साहस है, परतु उनके कधे पर बैठकर मुझे जो-कुछ दीखता है वही मै बता रहा हू। वे मुझे इसके लिए क्षमा करे और वे कर भी देगे। क्योंकि उनकी क्षमा महान् है। अहिसाके साधन द्वारा सामूहिक प्रयोग करनेकी उन्हे प्रेरणा न हुई हो ऐसा नही कह सकते। लेकिन उस समयकी परिस्थिति उन्हे शायद अनुकूल न लगी हो। उन्होने अपने लिए अलग-अलग प्रयोग किये। परतु ऐसे पृथक्-पृथक् किये हुए प्रयोगोसे ही शास्त्रकी रचना होती है। सम्मिलित अनुभवोसे शास्त्र बनता है।

सतोके व्यक्तिगत प्रयोगके बाद आज हम चौथा प्रयोग कर रहे है। वह है—सारा समाज मिलकर अहिंसात्मक साधनके द्वारा हिंसाका प्रतिकार करे। इस तरह चार प्रयोग अबतक हुए है। प्रत्येक प्रयोगमे अपूर्णता थी व है। विकास-क्रममे यह बात अपरिहार्य ही है। परतु यह तो कहना ही होगा कि उस कालके लिए वे प्रयोग पूर्ण थे, और दस हजार सालके बाद आजके इस हमारे अहिंसक युद्धमे बहुत कुछ हिंसाका भाग दिखाई देगा। शुद्ध अहिंसाके और प्रयोग होते ही रहेगे। ज्ञान, कर्म व भक्तिका ही नही, तमाम सद्गुणोका विकास हो रहा है। पूर्ण वस्तु एक ही है। वह है परमात्मा। भगवद्गीताका पुरुषोत्तम-योग पूर्ण है। परतु व्यक्ति और समुदायके जीवनमे अभी उनका पूर्ण विकास होना बाकी है। वचनोका भी विकास होता है। ऋषि मत्रोके द्रष्टा समझे

जाते थे, कर्त्ता नही, क्योकि उन्हे मत्रोका जो अर्थ दीखा वही उसका अर्थ हो सो बात नही। उन्हे उनका एक दर्शन हुआ। उसके बाद हमें उसका और विकसित अर्थ दीख सकता है। उनसे यदि हमें कुछ अधिक दीख जाता है तो यह हमारी विशेषता नही है। क्योकि उन्हीके आधार पर हम आगे बढते है। मै यहा जो अहिंसाके ही विकासकी बात कर रहा हू वह इसलिए कि यदि हम सब सद्गुणोका साधारण रूपसे सार निकाले तो वह 'अहिंसा' ही निकलेगा। और दूसरे, हम आज अहिंसात्मक युद्धमे ही पडे हुए हैं। अत मैंने बताया कि इस तत्त्वका विकास कैसे हो रहा है।

(९१)

अबतक हमने अहिसाका यह एक पहलू देखा कि यदि हिसकोके हमले हो तो अहिंसक अपना बचाव कैसे करे ? व्यक्तियोके पारस्परिक झगड़ो-मे अहिंसाका विकास किस तरह हो रहा है, यह हमने देखा। लेकिन झगडा तो मनुष्य व पशुमे भी हो रहा है। मनुष्य अभी तक अपने आपसके झगडे मिटा नही पाया है, व पशुको पेटमे ठूसकर वह जी रहा है। अपने झगडे वह अभीतक मिटा नही पाता है, अपनेसे हीन कोटिके दुर्बल पशुओ —जीवोको खाये बिना वह जी नही सकता है, हजारो वर्ष जीकर भी किस तरह जीया जाय इसका विचार अभी तक मनुष्यने नही किया। मनुष्य मनुष्यकी तरह नही जी सकता। परतु इस बातका भी विकास हो रहा है। एक समय था जब मनुष्य केवल पशुओपर ही अपना निर्वाह करता था। परतु जो उत्तम व बुद्धिमान लोग थे उन्हे यह नही जचा। उन्होने यह पाबन्दी लगाई कि यदि मास ही खाना हो तो यज्ञमे बलि दिये गये पशुका ही मास खाना चाहिए। इसमें हेतु यह था कि हिंसाकी रोक हो। कइयोने तो पूर्णरूपसे भी मास छोड दिया। परतु जो पूरा-पूरा मास नही छोड सकते थे उन्हे यह अनुमति दी गई कि वे उस यज्ञमें परमेश्वरको अर्पण करके, कुछ तपस्या करके फिर खावें। उस समय यह समझा गया था कि 'यज्ञमें ही मास खा सकते हैं' ऐसी पाबंदी लगा देनेसे हिंसा रुक जायगी। परंतु बादमें यज्ञ एक रोजमर्राकी चीज हो गया। जिसके जीमें आता वही यज्ञ करने लगा व मास खाने लगा। तब भगवान् बुद्ध

कुछ आगे बढे। उन्होने कहा—'तुम्हे मास खाना हो तो खाओ परतु निदान भगवान्‌का नाम लेकर तो मत खाओ।' इन दोनो बचनोका हेतु एकही था—हिसाकी रोक हो। गाडी किसी-न-किसी तरह सयमके मार्गपर आवे। यज्ञयाग करो या न करो—दोनोसे हमने मासाशन त्याग ही सीखा। इस तरह हम धीरे-धीरे मास खानेसे परहेज करने लगे।

ससारके इतिहासमे अकेले भारतवर्ष मे ही यह महान् प्रयोग हुआ। करोडो लोगोने मास खाना छोड दिया, और आज हम मास नही खाते है इसमे हमारी कोई बडाई नही है। पूर्वजोकी पुण्याईसे हम इसके आदी हो गये है। परतु पहलेके ऋषि मास खाते थे, ऐसा यदि हमने कहा या पढा तो हमे आश्चर्य मालूम होता है। 'क्या बकते हो ? ऋषि और मास खाते थे ?' कभी नही। परतु मासाशन करते हुए उन्होने सयम करके उसका त्याग किया है। इसका श्रेय उनको है। उन कष्टोका अनुभव आज हमे नही होता। उनकी पुण्याई धरी-धराई हमे मिल गई। भवभूतिके 'उत्तर रामचरित' मे एक प्रसग आया है। वाल्मीकिके आश्रममे वसिष्ठ ऋषि आये है। उनके स्वागतमे एक छोटा गायका बछडा मारा गया। तो एक छोटा लडका बडे लडकेसे पूछता है—'आज अपने आश्रममे वह एक दाढी वाला शेर आया है। उसने हमारा बछडा खा डाला न ?' बडा लडका जवाब देता है—'हट, वे तो वसिष्ठ ऋषि है। ऐसा मत बको।' पहले वे मासाशन करते थे और आज हम नही करते है—इसका अर्थ यह नही कि हम आज उनसे बडे हो गये है। उनके अनुभवका लाभ हमे अनायास ही मिल गया है। हमे उनके इस अनुभवका विकास करना चाहिए। हमे दूध बिलकुल ही छोड देनेका भी प्रयोग करना चाहिए। मनुष्यका अन्य जीवोका दूध पीना भी है तो अनुचित ही। दस हजार साल आगे आने वाले लोग हमारे विषयमे कहेगे—'क्या हमारे पूर्वजोको दूध न पीनेका व्रत लेना पडा था ? राम राम, वे दूध कैसे पीते होगे ? ऐसे वे जगली थे ?' मतलब यह कि हमे निडर होकर, लेकिन नम्रतापूर्वक, अपने प्रयोग करते हुए निरतर आगे बढते जाना चाहिए। सत्यका क्षितिज विशाल करते जाना चाहिए। विकासके लिए अभी बहुत गुजायश है। किसी भी गुणका पूर्ण विकास नही हो पाया है।

(९२)

हमे दैवी सम्पत्तिका विकास करना है व आसुरी सम्पदासे दूर रहना है। आसुरी सम्पत्तिका वर्णन भगवान्ने इसीलिए किया है कि हम उससे दूर रह सके। इसमें कुल तीन बाते मुख्य है। असुरोके चरित्रका सार 'सत्ता, संस्कृति व सम्पत्ति' इनमे है। वे कहते है—एक हमारी ही संस्कृति उत्कृष्ट है और उनकी महत्त्वाकाक्षा होती है कि वही सारे ससार पर लादी जाय। वही सस्कृति क्यों लादी जाय ? तो कहते है वह सबसे अच्छी है। अच्छी क्यो है ? क्योकि वह हमारी है। आसुरी चाहे व्यक्ति हो, चाहे उनसे बने साम्राज्य हो, उनके लिए ये तीन चीजे आवश्यक है।

ब्राह्मण भी तो ऐसा ही समझते है कि हमारी सस्कृति सर्वश्रेष्ठ है। सारा ज्ञान हमारे वेदोमे भरा हुआ है। वैदिक सस्कृतिकी विजय सारी दुनियामे होनी चाहिए। 'अग्रतश्चतुरो वेदान् पृष्ठत सशर. धनु.'— इस तरह सज्ज होकर सारी पृथ्वीपर अपनी सस्कृतिका झडा फहराओ ! परतु पीठपर जहा 'सशर धनु' रहा तो फिर बेचारे आगे हाथमे रक्खे वेदोका खातमा ही समझिए। मुसलमान भी तो ऐसा ही समझते है कि कुरानशरीफमें जितना कुछ लिखा है वही सच है। ईसाई भी ऐसा ही मानते है। दूसरे मजहबका आदमी कितना ही उच्चकोटिका क्यो न हो, वह जबतक ईसा-मसीह पर विश्वास नही लाता तबतक वह स्वर्गमे नही जा सकता। भगवान्के मदिरका उन्होने सिर्फ एक ही दरवाजा रक्खा है, वह है ईसामसीह वाला। लोग तो अपने-अपने घरोमे अनेक दरवाजे व खिड़किया लगाते है, परतु बेचारे भगवान्के मदिरका सिर्फ एक ही दरवाजा वे रखते हैं।

"मैं ही कुलीन श्रीमंत, मेरी जोड़ कहीं नहीं।"

यही सब मानते है। मैं कौन ? तो भारद्वाज-कुलका ? मेरी यह परंपरा अबाधित रूपसे चल रही है। यही हाल पश्चिमी लोगोंका है। हमारी नसोंमें कहते हैं, नार्मन लोगोका खून बहता है ! हमारे यहां गुरु-परंपरा है न। मूल आदि गुरु हैं शकर। फिर ब्रह्मदेव, या और कोई, फिर नारद, व्यास, फिर कोई और ऋषि, फिर बीचमे दस-पांच नाम आते

हैं, बादमे अपने गुरुका नाम व फिर मै—ऐसी परपरा बताई जाती है। इस वशावलिसे यह सिद्ध किया जाता है कि हम बडे, हमारी सस्कृति श्रेष्ठ। भाई यदि आपकी सस्कृति सचमुच ही श्रेष्ठ है तो उसे आपके आचरणमे दीखने दो न! उसकी प्रभा आपके जीवनमें फैलने दो न! परतु ऐसा नही होता। जो सस्कृति खुद हमारे जीवनमे नही है, हमारे घरमें नही है, उसे ससार भरमे फैलानेकी आकाक्षा रखना—इस विचार-सरणिको आसुरी कहते हैं।

फिर, जैसे मेरी सस्कृति सुदर, बढिया है, वैसे ही यह विचार भी हैं कि, ससारकी सारी सम्पत्ति रखनेके योग्य भी मैं ही हू। ससारकी सारी सपत्ति मुझे चाहिए व मै उसे प्राप्त करके रहूगा। यह सपत्ति प्राप्त किसलिए करू? तो सबमे समान रूपसे बाटनेके लिए; इसके लिए मै स्वत' अपनेको धन-सपत्तिमे गाड लेता हू। अकबरने यही तो कहा था—"ये राजपूत अभी मेरे साम्राज्यमे क्यो नही शरीक होते? एक बडी सल्तनत हो जाय तो दुनियामे अमनोअमान कायम हो जायगा।' वह सचमुच ईमानदारीसे ऐसा मानता था। वर्त्तमान असुरोकी भी ऐसी ही धारणा है। दुनिया भरकी सपत्ति बटोरी क्यो जाय? उसे फिर सबमे बाटनेके लिए!

उसके लिए मुझे सत्ता चाहिए। सारी सत्ता एक हाथमें केन्द्रीभूत होनी चाहिए। सारी दुनिया मेरे तंत्रमे आजानी चाहिए। स्व-तत्र-मेरे तत्र, के अनुसार चलनी चाहिए। जो कुछ मेरे अधीन होगा, जो मेरे तत्रसे चलेगा वही स्व-तत्र। इस तरह सस्कृति, सत्ता व सपत्ति इन तीन मुख्य बातोपर आसुरी सपत्तिमें जोर दिया जाता है।

एक समय ऐसा था जब समाजमे ब्राह्मणोका प्रभुत्व था। वे शास्त्रोकी, कानूनकी रचना करते थे। राजा उन्हे बडा मानता था। वह युग बदला। क्षत्रियोका युग आया—घोडे छोडे जाने लगे, दिग्विजय होने लगे। यह क्षत्रिय-सस्कृति भी आई व चली गई। ब्राह्मण कहता—"मै विद्या देनेवाला, दूसरे लेने वाले, मेरे सिवा गुरु कौन?" ब्राह्मणोको अपनी सस्कृतिका अभिमान था, क्षत्रियोका जोर सत्ता पर था। "आज इसे मारा, कल उसे मारूगा।" इसी बातपर उनका सारा जोर रहता था। फिर

वैश्योका युग आया। उनका सारा तत्त्व ज्ञान यही है—"पीठ पर मारो, पर पेटमें मत मारो"। पेटकी ही सारी अक्ल। 'यह धन मेरा, और वह भी मेरा हो जायगा।' यही जप और यही सकल्प। अग्रेज हमे कहते हैं न—"स्वराज्य चाहिए तो ले लो, परतु हमारा तैयार माल बेचनेकी सुविधा, सहूलियतें हमे दे दो। फिर भले ही आप अपनी सस्कृतिका अध्ययन करते रहिये। लगोटी लगाओ व अपनी सस्कृतिको लिये बैठे रहो।" आजकल जो युद्ध होते हैं वे व्यापारके लिए ही। यह युग भी जायगा, जानेकी शुरुआत भी हो गई है। इस तरह ये सब आसुरी सपत्तिके प्रकार है।

(९३)

हम आसुरी सपत्तिको दूर हटाते रहे। थोडेमे कहे तो आसुरी सपत्तिका अर्थ है "काम, क्रोध, लोभ।" यही तीनो सारे ससारको नचा रहे हैं। अब इस नाचको खतम करो। इससे हमें बाज आना ही चाहिए। क्रोध व लोभ कामकी बदौलत पैदा होते है। कामके अनुकूल परिस्थिति पैदा होनेसे लोभ पैदा होता है व प्रतिकूलता आनेसे क्रोध। गीतामें हर कदम पर यह कहा है कि इन तीनोसे बचते रहो। सोलहवे अध्यायके अंतमें यही कहा है—काम-क्रोध-लोभ यही नरकके तीन बड़े फाटक हैं। इनमे बहुत राहदारी होती है। अनेक लोग आते-जाते हैं। नरकका रास्ता खूब चौड़ा है। उसमे मोटरे चलती हैं बहुतेरे साथी भी रास्तेमें मिल जाते है परतु सत्यकी राह सकडी है।

तो अब इन काम-क्रोध-लोभसे बचें कैसे? सयम-मार्ग अगीकार करके। शास्त्रीय सयमका पल्ला पकड लेना चाहिए। संतोका अनुभव ही शास्त्र है। प्रयोग द्वारा जो अनुभव संतोको हुए उन्हीसे शास्त्र बनता है। सो इस सयम-सिद्धातका हाथ पकडो। फजूल शका-कुशका मत रक्खो। कृपा करके ऐसा तर्क, ऐसी शका मत लाइए कि यदि काम-क्रोध उठ गये तो फिर दुनियाका क्या हाल होगा, वह तो चलनी ही चाहिए। काम-क्रोध थोड़े भी न रहने चाहिए? मेरे भाइयो, काम-क्रोध पहलेसे ही भरपूर है—आपको जितने चाहिए उससे भी कही ज्यादा हैं। फिर

क्यो व्यर्थमे बुद्धि-भेद पैदा करते है ? काम-क्रोध-लोभ आपकी चाहसे इच भर अधिक ही दुनियामे है । यह चिता मत रखिए कि काम मर जायगा तो सतति कैसे पैदा होगी ? आप चाहे कितनी ही सतति पैदा कीजिए, एक दिन ऐसा आने ही वाला है जब पृथ्वीपरसे मनुष्यका नाम-निशान एकदम मिट जायगा। शास्त्रज्ञोका, विज्ञानियोका ऐसा कहना है। पृथ्वी धीरे-धीरे ठडी होती जा रही है। एक समय पृथ्वी अत्यत उष्ण थी। तब उसपर जीवधारी नही रहते थे। जीव पैदा ही नही हुआ था। अब एक समय ऐसा आ जायगा कि पृथ्वी ठडी हो जायगी व सारी जीव सृष्टिका लय हो जायगा। इस बातको लाख साल लग जायगे। आप कितनी ही सतान वृद्धि क्यो न करे, अतको यह प्रलय निश्चित रूपसे आने ही वाला है। परमेश्वर जो अवतार लेता है सो धर्म-सरक्षणके लिए, सख्या-सरक्षणके लिए नही। जबतक एक भी धर्मपरायण मनुष्य है, एक भी पाप-भीरु व सत्यनिष्ठ मनुष्य है, तबतक कोई चिता नही। उसकी ओर ईश्वरकी दृष्टि बनी रहेगी। जिसका धर्म मर चुका है, ऐसे हजारो लोग रहे तो क्या, व न रहे तो क्या, दोनो एक-से है।

इस बातपर ध्यान रखकर सृष्टिमे ढगसे रहिए, सयमसे चलिए। सीमा छोडकर बेतहाशा मत भागिए। लोक-सग्रहका अर्थ यह नही कि लोग जैसा कहे वैसा किया जाय। मनुष्योका सघ बढाते जाना, सपत्तिका का ढेर इकट्ठा करते जाना—यह सुधार नही है। विकास सख्या पर अवलबित नही है। समाज यदि बेशुमार बढने लगेगा तो लोग एक-दूसरे-का खून करने लग जायगे। पहले पशु-पक्षियोंको खाकर मनुष्य मस्त बनेगा। फिर अपने लडके-बच्चोको खाकर रहना पडेगा। काम-क्रोध-मे कुछ सार है, यह बात यदि मान ले तो फिर अंतमें मनुष्य मनुष्यको फाड खायगा इसमे तिलमात्र संदेह नही है। लोक-सग्रहका अर्थ है सुदर व विशुद्ध नीति-मार्ग लोगोको दिखाना। काम-क्रोधसे मुक्त हो जाने पर यदि मनुष्यका लोप पृथ्वीसे हो जायगा, तो आप चिता न करे वह मगल (ग्रह) मे उत्पन्न हो जायगा। अव्यक्त परमात्मा सब जगह व्याप्त है, वह हमारी चिंता कर लेगा। अत पहले हम मुक्त हो लें। आगे दूर देखनेकी जरूरत नही है। सारी सृष्टि व मानव-जातिकी चिंता मत करो।

तुम अपनी नैतिक शक्तिको बढ़ाओ, काम-क्रोधका पल्ला झाडकर फेंक दो। "अपना तो गला लो पहले छुडा।" तुम्हारी गर्दन जो फंस रही है, पहले उसे तो छुडा लो। इतना कर लिया तो बहुत काम बन गया।

ससार-समुद्रसे दूर किनारे खडे रहकर समुद्रकी मौज देखनेमे आनद है। जो समुद्रमे डूब रहा है, जिसकी आख-नाकमे पानी भर गया है, उसे समुद्रमे क्या आनद है? संत समुद्र-तटपर खडे रहकर आनद लूटते हैं। ससारसे अलिप्त रहनेकी इस सतवृत्तिका जीवनमे सचार हुए बिना आनद नही हो सकता। अत कमल-पत्रकी तरह अलिप्त रहो। बुद्धने कहा है "सत महान् पर्वतके शिखरपर खडे रहकर नीचे ससारकी ओर देखते है— तब उन्हे ससार क्षुद्र मालूम होता है।" आप भी ऊपर चढ़कर देखिए तो फिर यह विशाल विस्तार क्षुद्र दिखाई देगा। फिर ससारमे मन ही नहीं लगेगा।

साराश, भगवान्ने इस अध्यायमे आग्रह-पूर्वक कहा है कि आसुरी सपत्तिको हटाकर दैवी सपत्ति प्राप्त करो। आइए, हम ऐसा ही यत्न करे।

सत्रहवां अध्याय

रविवार, १२–६–३२

(९४)

प्यारे भाइयो, हम धीरे-धीरे सिरेतक पहुचते आ रहे है। पद्रहवे अध्यायमें हमने जीवनके सपूर्णशास्त्रका अवलोकन किया। सोलहवे अध्याय-मे एक परिशिष्ट देखा। मनुष्यके मनमे, और उसके मनके प्रतिबिब स्वरूप समाजमे, दो वृत्तियो, दो सस्कृतियो अथवा दो सपत्तियोका झगडा चल रहा है। इनमेसे हमे दैवी सपत्तिका विकास करना चाहिए, यह शिक्षा हमे सोलहवे अध्यायके परिशिष्टमे मिली है। आज सत्रहवे अध्याय-मे हमे दूसरा परिशिष्ट देखना है। एक दृष्टिसे कह सकते है कि इसमे कार्य-क्रम-योग कहा गया है। गीता इस अध्यायमें रोजके कार्यक्रमकी सूचना कर रही है। आजके अध्यायमे हमे नित्य-क्रिया पर विचार करना है।

अगर हम चाहते है कि हमारी वृत्ति मुक्त और प्रसन्न रहे तो हमे अपने व्यवहारका एक क्रम बाध लेना चाहिए। हमारा नित्यका कार्य-क्रम किसी-न-किसी निश्चित आधारपर चलना चाहिए। मन तभी मुक्त रह सकता है जबकि हमारा जीवन उस मर्यादामे और उस निश्चित नियमित रीतिसे चलता रहे। नदी स्वच्छदतासे बहती है; परतु उसका प्रवाह बधा हुआ है। यदि वह बद्ध न हो तो उसकी मुक्तता व्यर्थ चली जायगी। ज्ञानी पुरुषका उदाहरण अपनी आखोके सामने लाओ। सूर्य ज्ञानी पुरुषो-का आचार्य है। भगवान्ने पहले-पहल कर्म-योग सूर्यको सिखाया, फिर सूर्य से मनुको—अर्थात् विचार करनेवाले मनुष्यको वह प्राप्त हुआ। सूर्य स्वतत्र और मुक्त है। वह निममित है—इसीमें उसकी स्वतंत्रताका सार है। यह हमारे अनुभवकी बात है कि अगर हमे एक निश्चित रास्तेसे घूमने जानेकी आदत है तो रास्तेकी ओर ध्यान न देते हुए भी मनसे विचार करते हुए हम घूम सकते हैं। यदि घूमनेके लिए हम रोज-रोज नये रास्ते

निकालते रहेंगे तो सारा ध्यान रास्तोंमें ही लगाना पड़ेगा। फिर मनको मुक्तता नही मिल सकती। मतलब यह कि हमें अपना व्यवहार इसीलिए बाध लेना चाहिए कि जीवन एक बोझ-सा मालूम न हो, बल्कि आनंदमय प्रतीत हो।

इसलिए भगवान् इस अध्यायमें कार्यक्रम बता रहे हैं। हम पैदा होते ही तीन सस्थाए साथ लेकर आते हैं। मनुष्य इन तीनो संस्थाओका कार्य भली-भाँति चलाकर अपना ससार सुखमय बना सके इसीलिए गीता यह कार्यक्रम बताती है। वे तीन सस्थाए कौन-सी है ? पहली सस्था है—हमारे आस-पास लपेटा हुआ यह शरीर। दूसरी सस्था है—हमारे आस-पास फैला हुआ यह विशाल ब्रह्माण्ड—यह अपार सृष्टि, जिसके कि हम एक अश है। जिसमे हमारा जन्म हुआ वह समाज, हमारे जन्म की प्रतीक्षा करनेवाले वे माता-पिता, भाई-बहन, अडोसी-पडोसी—यह हुई तीसरी सस्था। हम रोज इन तीन सस्थाओका उपयोग करते है—इन्हे छिजाते है। गीता चाहती है कि हमारे द्वारा इन सस्थाओमे जो छीजन आती है उसकी पूर्तिके लिए हम सतत प्रयत्न करे और अपने जीवनको सफल बनावे। इन सस्थाओंके प्रति हमारा यह जन्मजात कर्त्तव्य हमें निरहकार भावनासे करना चाहिए।

इन कर्त्तव्योको पूरा तो करना है, परन्तु उनकी पूर्तिकी योजना क्या हो ? यज्ञ, दान और तप—इन तीनोके योगसे ही वह योजना बनती हैं। यद्यपि इन शब्दोसे हम परिचित है, तो भी इनका अर्थ हम अच्छी तरह नही समझते हैं। अगर हम इनका अर्थ समझ ले और इन्हें अपने जीवन में समाविष्ट करे तो ये तीनो सस्थाए सफल हो जायं और हमारा जीवन भी मुक्त और प्रसन्न रहे।

(९५)

इस अर्थको समझनेके लिए पहले हम यह देखें कि यज्ञका अर्थ क्या है। सृष्टि-सस्थासे हम प्रति दिन काम लेते हैं। अगर सौ आदमी एक जगह रहते हैं तो दूसरे दिन वहाकी मारी सृष्टि दूषित दिखाई देने लगती है। वहांकी हवा हम दूषित कर देते हैं, जगह गदी कर देते है, अन्न खाते

है और सृष्टिको भी छिजाते हैं। सृष्टि-सस्थाकी इस छीजनकी हमे पूर्ति करनी चाहिए। इसीलिए यज्ञ-सस्थाका निर्माण हुआ है। यज्ञका उद्देश्य क्या है? सृष्टिकी जो हानि हो गई है उसे पूरा करना ही यज्ञ है। आज हजारो वर्षोसे हम जमीने जोतते आ रहे है, उससे जमीनका कस कम होता जा रहा है। यज्ञ कहता है—"पृथ्वीको उसका कस वापिस लौटा दो जमीन जोतो, उसे सूर्यकी धूप खाने दो। उसमे खाद डालो। छीजनकी पूर्ति करना—यह है यज्ञका एक हेतु। दूसरा हेतु है उपयोगमें लाई हुई वस्तुओका शुद्धीकरण। हम कुएका उपयोग करते है जिससे आसपास गदगी हो जाती है, पानी इकट्ठा हो जाता है। कुएके पासकी यह सृष्टि जो खराब हो गई है उसे शुद्ध करना चाहिए। वहाका गदा पानी निकाल डालना चाहिए। कीचड दूर कर देना चाहिए। क्षति-पूर्ति करने और सफाई करनेके साथ ही वहा कुछ प्रत्यक्ष निर्माण-कार्य भी करना चाहिए। यह तीसरी बात भी यज्ञके अन्तर्गत है। हमने कपडा पहना, तो हमें चाहिए कि रोज सूत कातकर फिर नव-निर्माण करे। कपास पैदा करना अनाज उत्पन्न करना, सून कातना यह भी यज्ञ क्रिया ही है। यज्ञमें जो-कुछ निर्माण करना है वह स्वार्थके लिए नही, बल्कि हमने जो क्षति की है उसे पूरा करनेकी कर्त्तव्य-भावना उसमे होनी चाहिए। यह परोपकार नही है। हम तो पहलेसे ही कर्जदार है! जन्मत ही अपने सिरपर ऋण लेकर हम आते है। इस ऋणको चुकानेके लिए हम जो कुछ निर्माण करे वह यज्ञ अर्थात् सेवा है, परोपकार नही। उस सेवाके जरिये हमें अपना कर्ज चुकाना है। हम पद-पद पर सृष्टि-सस्थाका उपयोग करते हैं। अत उस हानिकी पूर्ति करनेके लिए, उसकी शुद्धि करनेके लिए व नवीन वस्तु उत्पन्न करनेके लिए हमे यज्ञ करनेकी जरूरत है।

दूसरी सस्था है हमारा मनुष्य-समाज। मा-बाप, गुरु, मित्र ये सब हमारे लिए मेहनत करते हैं। इस समाजका ऋण चुकानेके लिए दान की व्यवस्था की गई है। दानका अर्थ है समाजका ऋण चुकानेके लिए किया गया प्रयोग। दानका अर्थ परोपकार नही। समाजसे मैंने अपार सेवा ली है। जब मैं इस ससारमे आया तो दुर्बल और असहाय था। इस समाजने मुझे छोटेसे बडा किया है। इसलिए मुझे समाजकी सेवा

करनी चाहिए। परोपकार कहते है—दूसरेसे कुछ न लेकर की हुई सेवाको। परतु यहा तो हम समाजसे पहले ही भरपूर ले चुके है। समाजके इस ऋणसे मुक्त होनेके लिए जो सेवा की जाय वही दान है। मनुष्य समाज को आगे बढनेमें मदद करना दान है। सृष्टिकी हानि पूरा करनेके लिए जो श्रम किया जाता है वह यज्ञ है, और समाजका ऋण चुकानेके लिए तन, मन, धन तथा अन्य साधनोसे जो सहायता की जाती है वह दान है।

इसके अलावा एक तीसरी सस्था और है। वह है शरीर। शरीर भी दिन प्रतिदिन छीजता जाता है। हम अपने मन, बुद्धि इद्रिय—सबसे काम लेते है—इनको छिजाते है। इस शरीर-रूपी सस्थामे जो विकार—जो दोष उत्पन्न हो उनकी शुद्धिके लिए तप बताया गया है।

इस प्रकार सृष्टि, समाज और शरीर इन तीनो सस्थाओका कार्य जिससे अच्छी प्रकार चल सके उसी तरह व्यवहार करना हमारा कर्त्तव्य है। हम अनेक योग्य-अयोग्य सस्थाए निर्माण करते हैं। परतु ये तीन सस्थाए हमारी बनाई हुई नही है। ये तो स्वभावत. ही हमको मिल गई हं। ये सस्थाए कृत्रिम नही है। अत इन तीन सस्थाओंकी हानि यज्ञ, दान और तप—इन साधनोसे पूरी करना हमारा स्वभाव-प्राप्त धर्म है। अगर हम इस तरहसे चले तो जो कुछ शक्ति हमारे अंदर है वह सारी इसमे लग जायगी। अन्य बातोके लिए और शक्ति बाकी ही नही बचेगी। सृष्टि, समाज और यह शरीर इन तीनो सस्थाओको समुचित रखने के लिए हमें अपनी सारी शक्ति खर्च करनी पडेगी। यदि कबीरकी तरह हम भी कह सके कि "हे प्रभो, तूने मुझे जैसी चादर दी थी वैसी ही मै लौटाकर जा रहा हू, तू इसे अच्छी तरह सभाल कर देख ले" तो वह कितनी बड़ी सफलता है! परतु ऐसी सफलता प्राप्त करनेके लिए यज्ञ, दान व तप यह त्रिविध कार्यक्रम व्यवहारमें पूरा करना चाहिए।

यज्ञ, दान और तपको हमने यहा अलग-अलग माना है। परतु सच पूछा जाय तो इनमें भेद नही है। क्योकि सृष्टि, समाज और शरीर ये बिलकुल भिन्न-भिन्न सस्थाए है ही नही। यह समाज सृष्टिसे बाहर नही है, न यह शरीर ही सृष्टिसे बाहर है। इन तीनोकी मिलकर एक ही भव्य

सृष्टि-सस्था बनती है। इसलिए हम जो उत्पादक श्रम करेगे, जो दान देगे, जो तप करेगे उस सबको व्यापक अर्थमे यज्ञ ही कह सकते है। गीताने चौथे अध्यायमे द्रव्य-यज्ञ, तपो-यज्ञ आदि यज्ञ बताये है। गीताने यज्ञके अर्थको विशाल बना दिया है।

इन तीनो सस्थाओके लिए हम जो-जो सेवा-कार्य करेंगे वे यज्ञ-रूप ही होगे। सिर्फ जरूरत है उस सेवा को निरपेक्ष रखनेकी। उसमे फल-की अपेक्षा तो की ही नही जा सकती; क्योकि फल तो हम पहले ही ले चुके हैं। कर्जा तो पहलेसे ही सिरपर चला आ रहा है। जो ले लिया है उसे ही वापस करना है। यज्ञसे सृष्टि-सस्थामे साम्यावस्था प्राप्त होती है। दानसे समाजमे साम्यावस्था प्राप्त होती है और तपसे शरीरमे साम्यावस्था रहती है। इस तरह तीनो ही सस्थाओमे साम्यावस्था रखनेका यह कार्यक्रम है। इससे शुद्धि होगी। दूषित भाव नष्ट हो जायगा।

यह जो सेवा करनी है उसके लिए कुछ भोग भी ग्रहण करना पडेगा। भोग भी यज्ञका ही एक अग है। इस भोगको गीता आहार कहती है। इस शरीर-रूपी यत्रको अन्न रूपी कोयला देनेकी जरूरत है। यद्यपि यह आहार स्वय यज्ञ नही है तथापि यज्ञ सिद्ध करनेका एक अग जरूर है। इसलिए हम कहा करते है—"उदर भरण नही जानो यह यज्ञ-कर्म।" बगीचेसे फूल लाकर देवताके सिरपर चढाना यह पूजा है। परतु फूल उत्पन्न करनेके लिए, बगीचेमे जो मेहनत की जाती है वह भी पूजा ही है। यज्ञ को पूरा करनेके लिए जो कुछ क्रिया की जाती है वह एक प्रकारकी पूजा ही है। शरीर तभी हमारे काममें आ सकेगा जब हम उसे आहार देगे। गीता इन कर्मोको 'तदर्थीय कर्म'—'यज्ञार्थ-कर्म' कहती है। सेवार्थ शरीर सतत खडा रहे इसलिए इस शरीरको मैं जो आहुति दूगा वह यज्ञ-रूप है। सेवाके लिए ग्रहण किया हुआ आहार पवित्र है।

इन सब बातोके मूलमें फिर श्रद्धाकी जरूरत है। 'सारी सेवाको ईश्वरार्पण करनेका भाव मनमे होना चाहिए। यह बहुत महत्त्वकी बात है। ईश्वरार्पण-बुद्धि सेवामयताके बिना नही आ सकती। इस प्रधानवस्तु, ईश्वरार्पणता, को भुला देनेसे काम नहीं चलेगा।

(९६)

परतु हम अपनी सब क्रिया ईश्वरको कब अर्पण कर सकेगे ? तभी जब कि वह सात्त्विक होगी। जब हमारे सब कर्म सात्त्विक होगे तभी हम उन्हे ईश्वरार्पण कर सकेंगे। यज्ञ, दान और तप सब सात्त्विक होने चाहिए। क्रियाओको सात्त्विक कैसे बनाना चाहिए, इसका तत्त्व हमने चौदहवे अध्यायमें देख लिया है। इस अध्यायमे गीता उस तत्त्वका विनियोग बता रही है।

सात्त्विकताकी यह योजना करनेमे गीताका उद्देश्य दुहेरा है। बाहरसे यज्ञ, दान व तप-रूप जो मेरी सेवा चल रही है उसीको भीतरसे आध्यात्मिक साधनाका नाम दिया जा सके। सृष्टिकी सेवा और साधना-के भिन्न-भिन्न कार्यक्रम नही होने चाहिए। सेवा और साधना ये दो भिन्न बाते है ही नही। दोनोके लिए एक ही प्रयत्न, एक ही कर्म। इस प्रकार जो कर्म किया जाय उसे भी अन्तमे ईश्वरार्पण ही करना है। समाज-सेवा, अधिक साधना, अधिक ईश्वरार्पणता, यह योग एक ही क्रियासे सिद्ध होना चाहिए।

यज्ञको सात्त्विक बनानेके लिए दो बातोकी आवश्यकता है। निष्फ-लताका अभाव और सकामताका अभाव। ये दो बातें यज्ञमे होनी चाहिए। यज्ञमे यदि सकामता होगी तो वह राजस हो जायगा और यदि निष्फलता होगी तो वह तामस यज्ञ हो जायगा।

सूत कातना यज्ञ है। परतु यदि सूत कातते हुए हमने उसमे अपनी आत्मा नही उडेली, हमारे चित्तकी एकाग्रता नही हुई तो यह सूत्रयज्ञ जड़ हो जायगा। बाहरसे हाथ काम कर रहे है उस समय अदरसे मनका मेल—मनोयोग—नही है तो वह सारी क्रिया विधिहीन हो जायगी। विधि-हीन कर्म जड़ हो जाते है। विधि-हीन क्रियामे तमोगुण आ जाता है। उस क्रियासे उत्कृष्ट वस्तुका निर्माण नही हो सकता। उसमेंसे फलकी निष्पत्ति नही होगी। यज्ञमे सकामता न हो तो भी उससे उत्कृष्ट फल मिलना चाहिए। यदि कर्म मन लगाकर न हुआ, अत-करणसे न हुआ, तो कर्म एक बोझ होगा। फिर उससे उत्कृष्ट फल कहा ? यदि बाहरका

काम बिगडा तो यह निश्चित समझो कि अदर मनका योग नही था अत. कर्ममें अपनी आत्मा उडेलो। आतरिक सहयोग रखो। सृष्टि-सस्थाका ऋण चुकानेके लिए हमे उत्कृष्ट फलोत्पत्ति करनी चाहिए। कर्मोमें फलहीनता न आने पाये, इसीलिए आतरिक मेलकी विधि-युक्तता आवश्यक है।

इस प्रकार जब हमारे अदर निष्कामता आ जायगी और विधि-पूर्वक सफल कर्म होगा तभी हमारी चित्त-शुद्धि होने लगेगी। तो अब चित्त-शुद्धिकी कसौटी क्या है? बाहरी कामकी जाच करके देखो, यदि वह निर्मल और सुदर न हो तो चित्तको भी मलिन समझ लेनेमें कोई बाधा नही। भला, कर्ममे सुदरता कब आती है? शुद्ध चित्तसे परिश्रमके साथ किये हुए कर्म पर ईश्वर अपनी पसदगी की, अपनी प्रसन्नताकी मुहर लगा देता है। जब प्रसन्न परमेश्वर कर्मकी पीठपर प्रेमकी थपकी लगाता है तो वहा सौदर्य उत्पन्न हो जाता है। सौंदर्यके मानी है पवित्र श्रमको मिला हुआ परमेश्वरी प्रसाद। कोई शिल्पकार जब मूर्ति बनाते समय तन्मय हो जाता है तो उसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि यह सुदर मूर्ति मेरे हाथोसे नही बनी। मूर्तिका आकार घडते-घड़ते अतिम क्षणमें न जाने कहासे उसमे अपने-आप सौंदर्य आजाता है। क्या चित्त-शुद्धि-के बिना यह ईश्वरीय कला प्रकट हो सकती है? मूर्तिमे जो कुछ स्वारस्य—माधुर्य है वह यही कि अपने अत करणका सारा सौंदर्य उसमें उडेल दिया होता है। मूर्तिके मानी है हमारे चित्तकी प्रतिमा! हमारे समस्त कर्म हमारे मनकी मूर्तिया है। अगर मन सुदर है तो वह कर्ममय मूर्ति भी सुदर होगी। बाहरके कर्मोंकी शुद्धि मनकी शुद्धिसे और मनकी शुद्धि बाहरके कर्मोंसे जाच लेनी चाहिए।

एक बात और कहना रह गई। वह यह कि इन सब कर्मोंमें मंत्रकी भी आवश्यकता है। मत्र-हीन कर्म व्यर्थ है। सूत कातते समय यह मंत्र अपने हृदयमें रक्खो कि मै इस सूतसे गरीब जनताके साथ जोड़ा जा रहा हूं। यदि यह मत्र हृदयमें न हो और घटों क्रियाकी तो भी वह सब व्यर्थ जायगी। उस क्रियासे चित्त शुद्ध नही होगा। कपासकी पोनीमेंसे अव्यक्त परमात्मा सूत्र-रूपमें प्रकट हो रहा है—ऐसा मंत्र अपनी क्रियामें डालकर

फिर उस क्रियाकी तरफ देखो। यह क्रिया अति सुदर व सात्त्विक हो जायगी। वह क्रिया पूजा बन जायगी, यज्ञ-रूप सेवा हो जायगी। उस छोटे-से धागे द्वारा हम समाजके साथ, जनताके साथ, जगदीश्वरके साथ बध जायंगे। बालकृष्णके छोटेसे मुहमें यशोदा मांको सारा विश्व दिखाई दिया। अपने उस मंत्रमय सूत्रके धागेमें भी तुमको विशाल विश्व दिखाई देने लगेगा।

(१७)

ऐसी सेवाके लिए आहार-शुद्धि भी आवश्यक है। जैसा आहार वैसा ही मन। आहार परिमित होना चाहिए। आहार कौनसा हो इसकी अपेक्षा यह बात अधिक महत्त्वकी है कि वह कितना हो। ऐसा नही है कि आहारका चुनाव महत्त्वकी बात नही है। लेकिन हम जो आहार लेते है वह उचित मात्रामें है या नही यह उससे भी अधिक महत्त्वकी बात है। हम जो कुछ खाते हे उसका परिणाम अवश्य होगा। हम खाते क्यो है ? इसीलिए कि उत्कृष्ट सेवा हो। आहार भी एक यज्ञांग ही है। सेवा-रूपी यज्ञको फलदायी बनानेके लिए आहारकी जरूरत है। इस भावनासे आहारकी तरफ देखो। आहार शुद्ध और स्वच्छ होना चाहिए। व्यक्ति अपने जीवनमें कितनी आहार-शुद्धि कर सकता है, इसकी कोई मर्यादा नही। परंतु हमारे समाजने आहार-शुद्धिके लिए काफी तपस्या की है। आहार-शुद्धिके लिए हिन्दुस्तानमे विशाल प्रयत्न हुए हैं। उन प्रयोगोमे हजारो वर्ष बीते। उनमें कितनी तपस्या खर्च हुई, यह नही कहा जा सकता। इस भूमंडल पर हिंदुस्तान ही एक ऐसा देश है जहां जमातकी जमाते अमासभोजी हैं। जो जातिया मासभोजी हैं उनके भी भोजनमें मास मुख्य और नित्य वस्तु नहीं है और जो मांस खाते हैं वे भी उसमें कुछ हीनता अनुभव करते हैं। मनसे तो वे भी मांसका त्याग कर चुके हैं। मांसाहारकी प्रवृत्तिको रोकनेके लिए यज्ञ प्रचलित हुआ। और इसीके लिए वह बद भी हो गया। श्रीकृष्ण भगवान्ने तो यज्ञकी व्याख्या ही बदल दी। श्रीकृष्णने दूधकी महिमा बढ़ाई। श्रीकृष्णने असाधारण बातें कुछ कम नहीं की हैं, परंतु हिंदू जनता किस कृष्णके

पीछे दीवानी हुई थी ? हिंदू जनताको तो गोपाल कृष्ण, गोपाल कृष्ण, यही नाम प्रिय है। जिसके पास गाये बैठी हुई है जिसके अधरोंपर मुरली रखी हुई है, ऐसा गायोकी सेवा करनेवाला गोपाल कृष्ण ही आबाल-वृद्धोको परिचित है। इस प्रकार गो-रक्षणका बडा उपयोग मासाहार बद करनेमे हुआ। गायके दूधकी महिमा बढी और मासाहार कम हुआ।

फिर भी सपूर्ण आहार-शुद्धि हो गई हो सो बात नही। हमे अब उस सिलसिलेको आगे बढाना है। बगाली लोग मछली खाते है, यह देखकर कितने लोगोको आश्चर्य होता है। किंतु इसके लिए उनको बुरा कहना ठीक न होगा। बगालमे सिर्फ चावल होता है। उससे शरीरका सब तरह पोषण नही हो सकता। इसके लिए प्रयोग करने पडेगे। फिर लोगोमे इस बातका विचार शुरू होगा कि मछलीकी एवजमे कौनसी वनस्पति खाये जिसमे मछलीके बराबर ही पौष्टिक तत्त्व मिल जाय। इसके लिए असाधारण त्यागी पुरुष पैदा होगे और फिर ऐसे प्रयोग होगे। ऐसे व्यक्ति ही समाजको आगे ले जा सकते है। सूर्य जलता रहता है, तब जाकर कही जीवित रहने योग्य ९८° उष्णता हमारे शरीरमे रहती है। जब समाजमे वैराग्यके प्रज्वलित सूर्य उत्पन्न होते है और जब वे बडी श्रद्धा-पूर्वक परिस्थितियोके बधन तोडकर बिना पखोसे अपने ध्येयाकाशमे उडने लगते है तब कही ससार-उपयोगी अल्पस्वल्प वैराग्यका हममे सचार होता है। मासाहार बद करनेके लिए ऋषियोको कितनी तपस्या करनी पडी होगी कितने प्राण अर्पण करने पडे होगे ? इस बातका विचार ऐसे समय मेरे मनमे आता है।

सराश यह कि आज हमारी सामुदायिक आहार-शुद्धि इतनी हुई है। अनत त्याग करके हमारे पूर्वजोने जो कमाई की है उसे तुम गवाओ मत ! हिंदू-सस्कृतिकी इस विशेषताको डुबाओ मत ! हमको येन-केन प्रकारेण जीवित नही रहना है। जिसको किसी-न-किसी तरह जीवित रहना है उसका काम बडा सरल है। पशु भी किसी-न-किसी तरह जी ही लेते हैं। तब क्या जैसे पशु वैसे ही हम ? पशुमे और हममे अतर है। उस अतरको बढाना ही सस्कृति-वर्धन कहा जाता है। अपने राष्ट्रने मासाहार त्यागका बहुत वडा प्रयोग किया। उसे और आगे ले जाओ।

कम-से-कम जिस मजिल तक हम पहुच चुके हैं उससे पीछे तो मत हटो।

इसके उल्लेख करनेका कारण यह है कि आजकल कितने ही लोगोको मासाहारकी इष्टता प्रतीत होने लगी है। आज पूर्वी व पश्चिमी सभ्यता-का एक दूसरे पर प्रभाव पड रहा है। मेरा विश्वास है कि अतमे इसका परिणाम अच्छा ही होगा। पाश्चात्य सस्कृतिके कारण हमारी जड श्रद्धा हिलती जा रही है। यदि अध-श्रद्धा डिग गई तो कुछ हानि नहीं है। जो अच्छा होगा वह टिक जायगा और बुरा जल जायगा। अध-श्रद्धा जाने पर उसके स्थानमे अध-अश्रद्धा अलबत्ता उत्पन्न न होनी चाहिए। यह नही कि केवल श्रद्धा ही अधी होती हो। केवल श्रद्धाने ही अध विशेषणका ठेका नही लिया है। अश्रद्धा भी अधी हो सकती है।

मासाहारके बारेमे आज फिरसे विचार होना शुरू हो गया है। कुछ भी हो मुझे तो जब कोई नवीन विचार सामने आता है तो बडा आनद होता है। उससे निदान ऐसा अनुभव जरूर होता है कि लोग जग रहे हैं और धक्के दे रहे है। जागृतिके लक्षण देखकर मुझे अच्छा लगता है। लेकिन यदि जगकर आखे मलते हुए वैसे ही चल पडेगे तो गिर पड़नेकी आशका रहती है। अत जबतक पूरे-पूरे न जग जाय अच्छी तरह आख खोलकर देखने न लगे तबतक हाथ पैरोको मर्यादामे ही रखना अच्छा है। विचार खूब कीजिए, पक्ष-विपक्ष, उल्टे-सीधे सब तरफसे खूब सोचिए। धर्मपर विचारकी कैंची चलाइए। इस विचार-रूपी कैंचीसे जो धर्म कट जाय, समझो कि वह तीन कौड़ी का था। इस तरह जो टुकड़े कट-छट जायं उन्हे जाने दो। तुम्हारी कैंचीसे जो न कटे बल्कि जिससे उलटी तुम्हारी कैंची ही टूट जाय वही धर्म सच्चा है। धर्मको विचारोसे डर नही। अत. विचार तो करो; परतु काम एकदम मत कर डालो। अधजगे रहकर यदि कुछ काम करोगे तो धड़ामसे गिर पड़ोगे। विचार बहुत जोर मार रहे हो तो भी अभी आचारको सभाल कर रखो। अपनी कृति पर संयम रखो। अपनी पहलेकी पुण्याई मत गवा बैठो।

(९८)

आहार-शुद्धिसे चित्त शुद्ध रहेगा। शरीरको भी बल मिलेगा समाज-

सेवा अच्छी तरह हो सकेगी। चित्तमे संतोष रहेगा और समाजमे भी संतोष फैलेगा। जिस समाजमे यज्ञ-दान-तप-क्रिया विधि और मंत्र सहित होती रहती है उसमे विरोध दिखाई नही देगा। दो काच यदि एक-दूसरेके आमने-सामने रखे हो तो जैसे इसमें का उसमे और उसमे का इसमें दीखेगा, इसी तरह व्यक्ति और समाजमे बिंब-प्रतिबिंब-न्यायसे परस्पर संतोष प्रकट होगा। जो मेरा सतोष है वही समाजका और जो समाजका है वही मेरा। इन दोनो सतोषोकी हम जाच कर सकेगे और हम इस नतीजे पर पहुचेगे कि दोनो एक-रूप है। चारो ओर अद्वैतका अनुभव होगा। द्वैत और द्रोह ग्रस्त हो जायगे। ऐसी सुव्यवस्था जिस योजनाके द्वारा हो सकती है उसीका प्रतिपादन गीता कर रही है। अगर अपना दैनिक कार्यक्रम हम गीताकी योजनाके अनुसार बनावे तो क्या ही बहार हो!

परतु आज व्यक्ति और समाज के जीवनमे विरोध उत्पन्न हो गया है। यह विरोध किस प्रकार दूर हो सकता है, यही चर्चा सब ओर चल रही है। व्यक्ति और समाज की मर्यादा क्या है? व्यक्ति गौण है या समाज? इनमे श्रेष्ठ कौन है? कोई व्यक्तिवादके समर्थक समाजको जड समझते है। सेनापतिके सामने अगर कोई सिपाही आता है तो उससे बोलते समय वह सौम्य भाषाका उपयोग करता है। उसे 'आप' भी कहेगा। परतु सेनाको तो वह चाहे जिस तरह हुक्म देगा। मानो सैन्य अचेतन हो—लकडीका एक लट्ठा हो। उसे इधरसे उधर हिलाये और उधरसे इधर। व्यक्ति चैतन्य मय है, समाज जड़। देखो, ऐसा अनुभव यहा भी हो रहा है। मेरे सामने दो सौ, तीन-सौ आदमी है। परतु उन्हे रुचे या न रुचे, मै तो बोलता ही जा रहा हू। मुझे जो विचार आता है वही कहता रहता हू। मानो आप जड ही है। परतु अगर मेरे सामने कोई व्यक्ति आया तो मुझे उसकी बात सुननी पडेगी और उसे विचार-पूर्वक उत्तर देना पडेगा। परतु यहा तो मैने आपको घटे-घटे भर यो ही बैठा रखा है।

'समाज जड़ है, और व्यक्ति चैतन्य'—ऐसा कहकर व्यक्ति-चैतन्य-वादका कोई-कोई प्रतिपादन करते हैं, और कोई समुदायको महत्त्व देते हैं। मेरे बाल झड़ गये। आखें चली गईं। हाथ टूट गया और दात

गिर गये; इतना ही नहीं, एक फेफड़ा भी बेकार हो गया। परंतु मैं फिर भी जीवित रहता हूं। क्योकि पृथक् रूपमें एक-एक अवयव जड़ है। किसी एकके नाशसे सर्वनाश नही हो जाता। सामुदायिक शरीर चलता ही रहता है। इस प्रकार ये दो परस्पर-विरोधी विचार-धाराएं हैं, आप जिस दृष्टिसे देखेंगे वैसा ही अनुमान निकालेंगे। जिस रंगका चश्मा उसी रंगकी सृष्टि।

कोई व्यक्तिको महत्त्व देता है, कोई समाजको। इसका कारण यह है कि समाजमे जीवन-कलहकी कल्पना प्रसृत हो गई है। परतु क्या जीवन कलहके लिए है? इससे तो फिर हम मर क्यों नहीं जाते? कलह तो मरनेके लिए है। इसीकी बदौलत हम स्वार्थ और परमार्थमें भेद डालते हैं। जिसने पहले-पहल यह कल्पना की कि स्वार्थ और परमार्थमे अतर है उसको अजीब ही कहना चाहिए। भला जो वस्तु वास्तवमे है ही नही उसके अस्तित्वको आभासित करनेकी शक्ति जिसकी अक्लमे थी उसका गौरव करनेको जी चाहता है। जो भेद नहीं है वह उसने खड़ा किया और उसे जनताको पढाया, इस बातका आश्चर्य होता है। चीनकी दीवारके जैसा ही यह प्रकार है। यह मानना वैसा ही है जैसा कि क्षितिजकी मर्यादा बनाना और फिर यह मानना कि उसके पार कुछ नही है। इस सबका कारण है यज्ञमय जीवनका आजका अभाव! इसीसे व्यक्ति और समाजमे भेद उत्पन्न हो गया है।

परतु व्यक्ति और समाजमें वास्तविक भेद नही किया जा सकता। किसी कमरेके दो भाग करनेके लिए अगर कोई पर्दा लगाया जाय और पर्दा हवासे उड़कर आगे-पीछे होने लगे तो कभी यह भाग बड़ा मालूम होता है और कभी वह। हवाकी लहर पर उस कमरेके भाग अवलबित रहते है, वे स्थायी—पक्के नही है। गीता इन झगड़ोसे परे है। ये झगड़े काल्पनिक हैं। गीता तो कहती है कि अंतःशुद्धिका कानून पालो। फिर व्यक्ति और समाजके हितोंमें कोई विरोध उत्पन्न नहीं होगा। एक-दूसरेके हितमें बाधा नही होगी। इस बाधाको इस विरोधको दूर करना ही गीताकी विशेषता है। गीताके इस नियम पर अमल करनेवाला अगर एक भी आदमी मिल जाय तो अकेले उसीसे सारा राष्ट्र सम्पन्न

हो जायगा। राष्ट्र है राष्ट्रके व्यक्ति। जिस राष्ट्रमें ऐसे ज्ञान और आचार-सपन्न व्यक्ति नही है उसे राष्ट्र कैसे मानेगे ? हिंदुस्तान क्या है ? हिदुस्तान रवीन्द्रनाथ है, हिदुस्तान गाधी है या इसी तरहके पाच-दस नाम। बाहरका ससार हिंदुस्तानकी कल्पना इन्ही पाच-दस व्यक्तियो परसे करता है। प्राचीनकालके दो-चार, मध्यकालके ४–५ और समाज के ८–१० व्यक्ति ले लीजिए और उनमे हिमालय, गगा आदिको मिला दीजिए। बस हो गया हिदुस्तान। यही है हिंदुस्तानकी व्याख्या। बाकी सब है इस व्याख्याका भाष्य ! भाष्य यानी सूत्रोका विस्तार। दूधका दही और दहीका छाछ-मक्खन ! झगडा दूध-दही, छाछ-मक्खनका नही है। दूधका कस देखनेके लिए उसमे मक्खन कितना है, यह देखा जाता है। इसी प्रकार समाजका कस उसके व्यक्तियो परसे निकाला जाता है। व्यक्ति और समाजमे कोई विरोध नही है। विरोध हो भी कैसे सकता है ? व्यक्ति-व्यक्तिमे भी विरोध न होना चाहिए। यदि एक व्यक्तिसे दूसरा व्यक्ति अधिक सपन्न हो जाय तो इससे क्या हानि हुई ? हा, कोई भी विपन्न अवस्थामे न हो, और सपत्ति वालोकी सपत्ति समाजके काम आती रहे, बस। मेरी दाहिनी जेबमे पैसे है तो क्या और बाई जेबमे है तो क्या ! दोनो जेब आखिर है तो मेरी ही ! अगर कोई व्यक्ति सपन्न हुआ तो उसमे मै सपन्न होता हू, राष्ट्र सपन्न होता है ऐसी युक्ति साधी जा सकती है।

परतु हम भेद खडे करते है। अगर धड और सिर अलग-अलग हो जायगे तो दोनो ही मर जायगे। अत. व्यक्ति और समाजमे भेद मत करो। और गीता यही सिखाती है कि एक ही क्रिया स्वार्थ और परमार्थ-को किस प्रकार अविरोधी बना देती है। मेरे इस कमरेकी हवामे और बाहरकी अनत हवामे कोई विरोध नही है। यदि मैं इनमें विरोध की कोई कल्पना करके कमरा बद कर लूगा तो दम घुट कर मर जाऊंगा। अविरोधकी कल्पना करके मुझे कमरा खोलने दो तो वह अनंत हवा अदर आ जायगी। जिस क्षणमे अपनी जमीन और अपना घरका टुकड़ा औरोसे अलग करता हूं उसी क्षण मैं अनंत सपत्तिसे वंचित हो जाता हूं। अगर मेरा वह छोटा-सा घर जल गया, गिर गया तो मैं ऐसा समझकर कि मेरा

सर्वस्व चला गया रोने-पीटने लग जाता हू। परंतु ऐसा क्यों करना चाहिए ? क्यो रोना-पीटना चाहिए ? पहले तो सकुचित कल्पना करें और फिर रोये ! ये ५००) मेरे है। ऐसा कहा कि मृष्टिकी अपार सपत्तिसे मै दूर हुआ। ये दो भाई मेरे है, ऐसा समझा कि ससारके असख्य भाई मुझसे दूर हो गये, इसका हमे खयाल नही रहता। ओफ, मनुष्य अपनेको कितना सकुचित बना लेता है ! वास्तवमें तो मनुष्यका स्वार्थ ही परमार्थ होना चाहिए। गीता ऐसा ही सरल सुदर मार्ग दिखा रही है, जिससे व्यक्ति और समाजमे अच्छा सहयोग हो। जीभ और पेटमे क्या विरोध है ? पेटको जितना अन्न चाहिए उतना ही जबानको देना चाहिए। पेटने 'बस' कहा कि जीभको चबाना बद करना चाहिए। पेट एक सस्था है, जीभ दूसरी सस्था। मै इन सस्थाओका सम्राट् हू। इन सब सस्थाओमे अद्वैत ही है। कहासे ले आये यह अभागा विरोध ? जिस प्रकार एक ही देहकी इन सस्थाओमे वास्तविक विरोध नही है बल्कि सहयोग है उसी प्रकार समाजमे भी है। समाजमें इस सहयोगको बढानेके लिए ही गीता चित्त-शुद्धि-पूर्वक यज्ञ-दान-तप-क्रियाका विधान बताती है। ऐसे कर्मोंसे व्यक्ति और समाज दोनोका कल्याण होगा।

जिसका यज्ञमय जीवन है वह सबका हो जाता है। प्रत्येक पुत्रको ऐसा मालूम होता है कि माका प्रेम मेरे ही ऊपर है। उसी प्रकार यह व्यक्ति सबको अपना मालूम होता है। सारी दुनियाको वह प्रिय व अपनाने योग्य लगता है। सभीको ऐसा मालूम होता है कि वह हमारा प्राण है, मित्र है, सखा है।

ऐसा पुरुष तो है धन्य, लोग चाहें उसे अनन्य,

ऐसा समर्थ रामदासने कहा है। ऐसा जीवन बनानेकी तरकीब गीताने बताई है।

(९९)

गीताका यह और कहना है कि जीवनको यज्ञमय बनाकर फिर उस सबको ईश्वरार्पण कर देना चाहिए। जीवनके सेवामय हो जाने पर फिर और ईश्वरार्पणता किसलिए ? हम यह आसानीसे कह तो गए

कि सारा जीवन सेवामय कर दिया जाय, परतु यह करना बहुत कठिन है। अनेक जन्मोमे जाकर यह थोडा-बहुत सध सकता है। फिर भले ही सारे कर्म सेवामय, अक्षरश. सेवामय, हो जायं तो भी उससे ऐसा नहीं कह सकते कि वे पूजामय हो ही गये। इसलिए 'ॐ तत्सत्' इस मन्त्रके साथ सारे कर्म ईश्वरार्पण करने चाहिए।

सेवा कर्म वैसे सोलहो आना सेवामय होना कठिन है। क्योकि परमार्थमे भी स्वार्थ आ ही जाता है। केवल परमार्थ सभव ही नही है। ऐसा कोई काम नही हो सकता जिसमे मेरा स्वार्थ लेशमात्र भी न हो। इसलिए दिन-प्रतिदिन अधिक निष्काम और अधिक नि स्वार्थ सेवा हाथोसे हो, ऐसी इच्छा रखना चाहिए। यदि यह चाहते हो कि सेवा उत्तरोत्तर अधिक शुद्ध हो तो सारी क्रियाए ईश्वरार्पण करो। ज्ञानदेवने कहा है—

"जीवन-कला साधते योगी, वैष्णवको है नाम मधुर।"

नामामृतकी मधुरता और जीवन-कला अलग-अलग नही है। नामका आतरिक घोष और बाह्य-जीवन-कलाका मेल है। योगी वैष्णव एक ही हैं। परमेश्वरको क्रिया अर्पण कर देनेपर स्वार्थ, परार्थ, और परमार्थ सब एक रूप हो जाते हैं। पहले तो जो 'तुम' और 'मैं' अलग-अलग हैं उन्हे एक करना चाहिए। 'तुम' और 'मैं' मिलनेसे 'हम' हो गये। अब 'हम' और 'वह' को एक कर डालना है। पहले मुझे इस सृष्टिसे मेल साधना है और फिर परमात्मासे। 'ॐ तत्सत्' मन्त्रमें यही भाव सूचित किया गया है।

परमात्माके अनत नाम हैं। व्यासजीने तो उन नामोका 'विष्णु-सहस्रनाम' बना दिया है। जो-जो नाम हम कल्पित कर लें वे सब उसके है। जो नाम हमारे मनमे स्फुरित हो उसी अर्थमे वह हम सृष्टिमें देखे और तदनुरूप हमारा जीवन बनावे। परमेश्वरका जो नाम मनको भावे उसीको सृष्टिमे देखे और उसीके अनुसार अपने आपको बनावे। इसको मैं त्रिपदा गायत्री कहता हू। उदाहरणके लिए ईश्वरका दयामय नाम ले लीजिए। ऐसा मानकर चलें कि वह रहीम है। अब उसी दया-सागर परमेश्वरको इस सृष्टिमें आंखें खोलकर देखे। भगवान्ने हरेक बच्चेको उसकी सेवाके लिए माता दी है, जीनेके लिए हवा दी है। इस तरह उस

दयामय प्रभुकी सृष्टिमें जो दयाकी योजना है उसे देखें व अपना जीवन भी दयामय बनावें। भगवद्गीता-कालमें भगवान्का जो नाम प्रसिद्ध था, वही भगवद्गीताने बताया है। वह है 'ॐ तत्सत्'। ॐ का अर्थ है "हां," परमात्मा है।

इस बीसवी शताब्दिमें भी परमात्मा है।

"स एव अद्य स उ श्वः"

वही आज है वही कल था और वही कल होगा। वह कायम है। सृष्टि कायम है, और कमर कसकर मैं भी साधना करनेके लिए तैयार हूं। मैं साधक हू। वह भगवान् है, और यह सृष्टि पूजा-द्रव्य—पूजा साधन है। जब ऐसी भावनासे हमारा हृदय भर जाय तभी कहा जा सकेगा कि 'ॐ' हमारे गले उतर गया। वह है, मै हू और मेरी साधना भी है। ऐसा यह ओंकार-भाव मनमें बस जाना चाहिए और साधनामें प्रकट होना चाहिए। सूर्यको जब कभी देखिए वह किरणो सहित दिखाई देगा। किरणोको दूर रखकर कभी रह ही नही सकता। वह किरणोको नही भुलाता। इसी प्रकार कोई भी किसी भी समय क्यो न देखे, साधना हमारे पास दिखाई देनी चाहिए। जब ऐसा हो जायगा तभी यह कहा जा सकेगा कि 'ॐ' को हमने आत्मसात् कर लिया।

इसके बाद है 'सत्'। परमेश्वर सत् है अर्थात् शुभ है, मगल है। इस भावनासे अभिभूत होकर भगवान्के मागल्यको सृष्टिमे अनुभव करो। देखो तो वह पानीका पृष्ठ-भाग। पानीमेंसे एक घडा भर लो। उससे जो गड्ढा पड़ा वह क्षण भरमें ही भर जायगा। यह कितना मागल्य है? यह कितनी प्रीति है? नदी गड्ढोको सहन नही करती। गड्ढोंको भरनेके लिए दौडती है।

'नदी वेगेन शुद्धयति'

सृष्टि-रूपी नदी वेगके कारण शुद्ध हो रही है। यावत् सृष्टि सब शुभ और मगल है। अपने कर्मको भी ऐसा ही होने दो। परमेश्वरके इस सत् नामको आत्मसात् करनेके लिए सारी क्रियाएं निर्मल और भक्तिमय होनी चाहिए। सोमरस जिस तरह पवित्रकोमें से छाना जाता था उसी तरह

अपने सब कर्मों और साधनोको नित्य परीक्षण करके निर्दोष बनाना चाहिए।

अब रहा 'तत्'। 'तत्'का अर्थ है वह—कुछ-न-कुछ भिन्न, इस सृष्टिसे अलिप्त। परमात्मा इस सृष्टिसे भिन्न है अर्थात् अलिप्त है। सूर्योदय हुआ कि कमल खिलने लगते है, पक्षी उडने लगते है और अधकार नष्ट हो जाता है। परतु सूर्य तो दूर ही रहता है। इन सब परिणामोसे वह बिल्कुल अलग-सा रहता है। जब अपने कर्मोमे अनासक्ति रखेगे, अलिप्तता आ जायगी; तब समझिए कि हमारे जीवनमे 'तत्' प्रविष्ट हुआ।

इस प्रकार गीताने यह 'ॐ तत्सत्' वैदिक नाम लेकर अपनी सब क्रियाओको ईश्वरार्पण करना सिखाया है। पिछले नवे अध्यायमें सब कर्मोको ईश्वरार्पण करनेका विचार आया है। "यत्करोषि यदश्नासि" इस श्लोकमे यही कहा गया है। वही बात सत्रहवे अध्यायमे बताई गई है। परमेश्वरार्पण करनेकी क्रिया सात्त्विक होनी चाहिए। तभी वह परमेश्वरार्पण की जा सकेगी। यह बात यहा विशेष बताई गई है।

(१००)

यह सब ठीक है, कितु यहा एक प्रश्न उठता है, कि यह 'ॐ तत्सत्' नाम पवित्र पुरुषको ही हजम हो सकता है। पापी पुरुष क्या करे? पापियोके मुहमें भी सुशोभित होने योग्य कोई नाम है या नही? 'ॐ तत्सत्' नाममें वह भी शक्ति है। ईश्वरके किसी भी नाममे असत्यसे सत्यकी ओर ले जानेकी शक्ति रहती है। वह पापकी ओरसे निष्पापताकी ओर ले जा मकता है। जीवनकी शुद्धि धीरे-धीरे करनी चाहिए। परमात्मा अवश्य सहायता करेगा। तुम्हारी कमजोरीके समय वह तुम्हे सहारा देगा।

यदि कोई मुझसे कहे कि "एक ओर पुण्यमय कितु अहंकारी जीवन और दूसरी ओर पापमय किंतु नम्र जीवन इनमेंसे किसी एकको पसद करो" तो यदि मैं मुहसे न भी बोल सकू तो अंतः करणसे कहूगा कि "जिस पापसे मुझे परमेश्वरका स्मरण रहता है वही मुझे मिलने दो।" मेरा मन यही कहेगा कि अगर पुण्यमय जीवनसे परमात्माकी विस्मृति हो जाती

है तो जिस पापमय जीवनसे उसकी याद आती है मै उसीको प्राप्त करूगा। इसका यह अर्थ नही कि मै पापमय जीवनका समर्थन कर रहा हू। परंतु पाप उतना पाप नही है जितना कि पुण्यका अहकार पाप-रूप है।

"कहीं ये सुजानपन, रोक न दे नारायण ?"

ऐसा तुकारामने कहा है। उस बडप्पनकी जरूरत नही है। उसकी अपेक्षा तो पापी, दु खी होना ही अच्छा है।

"ज्ञानी जो हैं बच्चे, उन्हे मां भी दूर रखे"

परतु अज्ञान बालकोको मा अपनी गोदमे उठा लेगी। मै स्वावलबी पुण्यवान् होना नही चाहता। परमेश्वरावलबी पापी होना ही मुझे प्रिय है। परमात्माकी पवित्रता मेरे पापको समाकर भी बचने-जैसी है। हम पापोको रोकनेका प्रयत्न करे। यदि वे नही रुके तो हृदय रोने लगेगा। मन छटपटाने लगेगा। तब ईश्वरकी याद आयेगी। वह तो खडा-खड़ा खेल देख रहा है। पुकार करो—मै पापी हू। इसलिए तेरे द्वारे आया हू। पुण्यवानको ईश्वर-स्मरणका अधिकार है, क्योकि वह पुण्यवान है और पापीको ईश्वर स्मरणका अधिकार है, क्योकि वह पापी है।

अठारहवां अध्याय

रविवार, १९-६-३२

(१०१)

मेरे भाइयो, आज ईश्वरकी कृपासे हम अठारहवे अध्याय तक आ पहुचे है। प्रतिक्षण बदलनेवाले इस विश्वमें किसी भी सकल्पका पूर्ण हो जाना परमेश्वरकी इच्छा पर ही निर्भर है। फिर जेलमें तो कदम-कदम पर अनिश्चिनताका अनुभव होता है। यहां कोई काम शुरू करने पर फिर यही उसके पूरा हो जानेकी अपेक्षा रखना कठिन है। शुरू करते समय यह उम्मीद जरा भी नही थी कि हमारी यह गीता यहा पूरी हो सकेगी। लेकिन ईश्वर इच्छासे हम समाप्ति तक आ पहुचे है।

चौदहवे अध्यायमे जीवनके अथवा कर्मके सात्त्विक , राजस, तामस, तीन भेद किये गये। इन तीनोमेंसे राजस व तामसका त्याग करके सात्त्विकको ग्रहण करना है, यह भी हमने देखा। उसके बाद सत्रहवे अध्याय-में यही बात दूसरे ढगसे कही गई है। यज्ञ, दान व तप या एक ही शब्दमें कहें तो 'यज्ञ' ही जीवनका सार है। सत्रहवे अध्यायमे हमने ऐसी ध्वनि सुनी कि यज्ञोपयोगी जो आहारादि कर्म है उन्हे सात्त्विक व यज्ञ रूप बना-करके ही ग्रहण करे, केवल उन्ही कर्मोंको अगीकार करे जो यज्ञ-रूप और सात्त्विक है, शेष कर्मोका त्याग ही उचित है। हमने यह भी देखा कि 'ॐ तत्सत्' इस मत्रको क्यो हर समय याद रखना चाहिए। ॐ का अर्थ है सातत्य। 'तत्' का अर्थ है अलिप्तता और 'सत्' का अर्थ है सात्त्वि-कता। हमारी साधनामें सातत्य, अलिप्तता और सात्त्विकता होनी चाहिए। तभी वह परमेश्वरको अर्पण की जा सकेगी। इन सब बातोसे यह मालूम होता है कि कुछ कर्म तो हमे करने है और कुछका त्याग करना है।

गीताकी सारी शिक्षा पर हम ध्यान देगे तो उसका जगह-जगह यही बोध मिलता है कि कर्मका त्याग न करो। गीता कर्म-फलके त्यागका

विधान करती है। गीतामें सब जगह यही शिक्षा दी गई है कि कर्म तो सतत करो, परन्तु फलका त्याग करते रहो। लेकिन यह एक पहलू हुआ। दूसरा पहलू यह मालूम पडता है कि कुछ कर्म किये जायं और कुछ का त्याग किया जाय, इसलिए अतको अठारहवें अध्यायके शुरूमें अर्जुनने पूछा—"एक पक्ष तो यह कि कोई भी कर्म फलत्याग-पूर्वक करो और दूसरा यह कि कुछ कर्म तो अवश्यमेव त्याज्य है और कुछ करने योग्य है। इन दोनोमे मेल कैसे बिठाया जाय?" जीवनकी दिशा स्पष्ट जाननेके लिए यह प्रश्न पूछा गया। फल-त्यागका मर्म समझनेके लिए यह प्रश्न है। जिसे शास्त्र सन्यास कहता है उसमें कर्म स्वरूपतः छोड़ना होता है। अर्थात् कर्मके स्वरूपका त्याग करना होता है। फल-त्यागमे कर्मका फलत. त्याग करना है। अब प्रश्न यह है कि क्या गीताके फल-त्यागको प्रत्यक्ष कर्म-त्यागकी आवश्यकता है? क्या फल-त्यागकी कसौटीसे सन्यासका कोई उपयोग है? सन्यासकी मर्यादा कहा तक? सन्यास व फल-त्याग इन दोनोकी मर्यादा कहातक व कितनी? अर्जुनका यही सवाल है।

(१०२)

उत्तरमे भगवानने एक बात स्पष्ट कह दी है कि फल-त्यागकी कसौटी एक सार्वभौम वस्तु है। फल-त्यागका तत्त्व हर जगह लागू किया जा सकता है। सब कर्मोंके फलका त्याग व राजस और तामस कर्मोंका त्याग इन दोनोमें विरोध नही है। कुछ कर्मोंका स्वरूप ही ऐसा होता है कि फल-त्यागकी युक्तिका उपयोग करे तो वे कर्म अपने-आप ही गिर पड़ते हैं। फल-त्याग-पूर्वक कर्म करनेका तो यही अर्थ होता है कि कुछ कर्म छोड़ने ही चाहिए। फल-त्याग पूर्वक कर्म करनेमे कुछ कर्मोंके प्रत्यक्ष त्यागका समावेश हो ही जाता है।

इस पर जरा गहराईसे विचार करे। जो कर्म काम्य हैं, जिनके मूलमें कामना है उन्हे फल-त्याग-पूर्वक करो—ऐसा कहते ही उनकी बुनियाद ढह जाती है। फल-त्यागके सामने काम्य और निषिद्ध कर्म खड़े ही नही रह सकते। फल-त्याग-पूर्वक कर्म करना कोई केवल कृत्रिम तान्त्रिक व यान्त्रिक क्रिया तो है नहीं। इस कसौटीके द्वारा यह अपने-आप

मालूम हो जाता है कि कौनसे कर्म किये जाय और कौनसे नही। कुछ लोग कहते है कि गीता सिर्फ यही बताती है कि फल-त्याग-पूर्वक कर्म करो; पर कौन-से कर्म करो यह नही बताती। ऐसा भासित तो होता है, परंतु वस्तुत ऐसा है नही। क्योकि फल-त्याग-पूर्वक कर्म करो, इतना कहनेसे ही यह पता चल जाता है कि कौनसे कर्म करे और कौनसे नही। हिंसात्मक कर्म, असत्यमय कर्म, चोरी जैसे कर्म फल-त्याग-पूर्वक किये ही नही जा सकते। फल-त्यागकी कसौटीपर कसते ही ये कर्म हवामे उड जाते हैं। सूर्यकी प्रभा फैलते ही सब चीजे उज्ज्वल दिखाई देने लगती हे, पर अधेरा भी क्या उज्ज्वल दिखाई देता है ? वह तो नष्ट ही हो जाता है। ऐसी ही स्थिति निषिद्ध व काम्य कर्मोकी है। हमे सब कर्म फल-त्यागकी कसौटी पर कस लेने चाहिए। पहले यह देखना चाहिए कि जो कर्म मै करना चाहता हू वह अनासक्ति-पूर्वक, फलकी लेश-मात्र भी अपेक्षा न रखते हुए करना सभव ह क्या ? फल-त्याग ही कर्म करनेकी कसौटी है। इस कसौटीके अनुसार काम्य कर्म अपने-आप ही त्याज्य सिद्ध होते हैं। उनका तो सन्यास ही उचित है। अब बचे शुद्ध सात्त्विक कर्म। वे अनासक्ति पूर्वक अहकार छोडके करने चाहिए। काम्य कर्मोका त्याग भी तो एक कर्म ही हुआ। फल-त्यागकी कैंची उसपर भी चलाओ। फिर काम्य कर्मोका त्याग भी सहज रूपसे होना चाहिए।

इस तरह तीन बाते हमने देखी। पहली तो यह कि प्रत्येक कर्म हमे फल-त्याग-पूर्वक करना चाहिए। दूसरी यह कि राजस, तामस तथा निषिद्ध व काम्य कर्म फल-त्यागकी कसौटी पर कसते ही अपने-आप गिर जाते है। तीसरी यह कि इस तरह जो त्याग होगा उसपर भी फल-त्यागकी कैंची चलाओ। मैंने इतना त्याग किया, ऐसा घमण्ड न होने देना चाहिए।

राजस व तामस कर्म त्याज्य क्यो ? इसलिए कि वे शुद्ध नही है। शुद्ध न होनेसे कर्त्ताके चित्त पर उनके सस्कार हो जाते है। परन्तु अधिक विचार करनेपर पता चलता है कि सात्त्विक कर्म भी सदोष होते है। जितने भी कर्म है उन सबमे कुछ-न-कुछ दोष है ही। खेतीका स्वधर्म ही लो। यह एक शुद्ध सात्त्विक क्रिया है। लेकिन इस यज्ञमय स्वधर्म

रूप खेतीमें भी हिंसा तो होती ही है। हल जोतने आदिमें कितने ही जतु मरते है। कुएके पास कीचड न होने देनेके लिए उसे पक्का बनानेमेंभी कई जीव-जतु मरते हैं। सवेरे दरवाजा खोलते ही सूर्यका प्रकाश घरमें प्रवेश करता है, उससे असख्य जतु नष्ट हो जाते हैं। जिसे हम शुद्धी-करण कहते है वह एक मारणक्रिया ही हो रहती है। साराश, जब सात्त्विक स्वधर्म-रूप कर्म भी सदोष हो जाता है तब करे क्या ?

मैं पहले ही कह चुका हू कि सब गुणोका विकास होना तो अभी बाकी है। ज्ञान, भक्ति, सेवा, अहिंसा, इनके बिंदु-मात्रका ही अभी अनुभव हमे हुआ है। सारा-का-सारा अनुभव हो चुका है, ऐसी बात नही है। ससार अनुभव करता जाता है और आगे बढता जाता है। मध्य युगमें एक ऐसी कल्पना चली कि खेतीमे हिंसा होती है इसलिए अहिंसक व्यक्ति उसे न करे। वह व्यापार करे। अन्न उपजाना पाप है, पर कहते थे कि बेचना पाप नही। लेकिन इस तरह क्रियाको टालनेसे तो उससे हमारा हित नही हो सकता। अगर मनुष्य इस तरह कर्म सकोच करता चला जाय तो अतमे आत्मनाश ही हो रहेगा। कर्मसे छूटनेका मनुष्य ज्यो-ज्यो विचार करेगा त्यो-त्यो कर्मका विस्तार ही अधिक होता जायगा। आपके उस धान्यके व्यापारके लिए क्या किसीको खेती न करनी पडेगी ? तब क्या उस खेतीसे होनेवाली हिंसाके आप हिस्सेदार न होगे ? अगर कपास उपजाना पाप है तो उस उपजे हुए कपासको बेचना भी पाप है। कपास पैदा करनेमें दोष है, इसलिए उस कर्मको ही छोड देना बुद्धि-दोष होगा। सब कर्मोका बहिष्कार करना—यह कर्म भी नही, वह कर्म भी नही, कुछ भी मत करो—इस दृष्टिमें कहना होगा, कि सच्चा दयाभाव शेष नही रहा, बल्कि मर गया। पत्ते नोचनेसे पेड नही मरता। वह तो उलटा पल्लवित होता है। क्रियाका संकोच करनेमें आत्म-सकोच ही है।

(१०३)

अब प्रश्न यह होता है कि यदि सभी क्रियाओमे दोष है तो फिर सब कर्मोंको छोड़ ही क्यो न दें ? इसका उत्तर पहले एक बार दिया जा चुका है। 'सब कर्मोका त्याग'—यह कल्पना अत्यत सुदर है। यह विचार

मोहक है। पर ये असख्य कर्म आखिर छोडे कैसे ? राजस व तामस कर्मोंके छोडनेका जो तरीका है क्या वही सात्त्विक कर्मोंके लिए उपयुक्त होगा ? जो दोषमय सात्त्विक कर्म है उनसे कैसे बचे ? मजा तो यह है कि 'इद्राय तक्षकाय स्वाहा' की तरह जब मनुष्य ससारमे करने लगता है तब अमर होनेके कारण इद्र तो मरता ही नही, बल्कि तक्षक भी न मरते हुए उलटा मजबूत हो बैठता है। सात्त्विक कर्मोंमे पुण्य है और थोडा दोष है। परतु थोडा दोष होनेके कारण यदि उस दोषके साथ पुण्यकी भी आहुति देना चाहोगे तो पवित्र होनेके कारण पुण्य क्रिया तो नष्ट नही होगी, दोष क्रिया जरूर बढती चली जायगी। ऐसे मिश्रित विवेकहीन त्यागसे पुण्यरूप इद्र तो मरता ही नही, पर दोष-रूप तक्षक जो कि मर सकता था वह भी नही मरता। इसलिए उनके त्यागकी रीति कौनसी ? बिल्ली हिंसा करती है इसलिए उसका त्याग करेगे तो चूहे हिंसा करने लगेगे। साप हिसा करते है, इसलिए अगर उन्हे दूर किया तो सैकडो जतु खेती नष्ट कर डालेगे। खेतीका अनाज नष्ट होनेसे हजारो मनुष्य मर जायगे। इसलिए त्याग विवेक-युक्त होना चाहिए।

गोरखनाथको मछीन्द्रनाथने कहा—"इस लडकेको धो ला!" गोरखनाथने लडकेके पैर पकडकर उसे शिलापर पछाड डाला और बाड पर सुखाने डाल दिया। मछीन्द्रनाथने पूछा—"लडकेको धो लाये ?" गोरखनाथने उत्तर दिया—"हा, उसे धो-धा कर सुखाने डाल दिया है।" लडकेको क्या इस तरह धोया जाता है ? कपडे और मनुष्य धोनेका तरीका एक-सा नही है। इन दोनो तरीकोमे बडा अतर है। इसलिए राजस, तामस कर्मोंके त्याग तथा सात्विक कर्मके त्यागमे बडा अतर है। सात्त्विक कर्म और तरहसे छोडे जाते है।

विवेक-हीन होकर कर्म करनेसे तो कुछ उलट-पुलट ही हो जायगा। तुकारामने कहा है—

"त्यागसे भोग उगे जो भीतर।
तब हे दाता! क्या मै करूं ?"

छोटा त्याग करने जाते है तो बडा भोग आकर छातीपर बैठ जाता

है। इसलिए वह अल्प-सा त्याग भी मिथ्या हो जाता है। छोटेसे त्याग-की पूर्तिके लिए बडे-बडे इंद्रभवन बनाते है। इससे तो वह झोंपडी ही अच्छी थी। वही काफी थी। लगोटी लगाकर आस-पास वैभव इकट्ठा करनेसे तो कुरता और बडी ही अच्छी। इसीलिए भगवान्ने सात्त्विक कर्मोंके त्यागकी पद्धति ही अलग बताई है। सभी सात्त्विक कर्म तो करने है लेकिन उनके फलोको तोड डालना है। कुछ कर्म तो मूलत. त्याज्य है। और कुछके सिर्फ फल ही छोडने होते है। शरीरपर अगर कोई ऐसा वैसा दाग पड जाय तो उसको धोकर मिटाया जा सकता है, पर अगर चमडीका रग ही काला है तो उसे सफेदा लगानेसे क्या लाभ ? वह काला रग ज्यो-का-त्यो रहने दो। उसकी तरफ देखते ही क्यो हो ? उसे अमगल न समझो।

एक आदमी था। उसे अपना घर मनहूस प्रतीत होने लगा तो वह किसी गावमे चला गया। वहा भी उसे गदगी दिखाई दी तो जगलमे चला गया। जगलमे एक आमके पेडके नीचे बैठा ही था कि एक पक्षीने उसके सिर पर बीट कर दी। 'यह जगल भी अमगल है' ऐसा कहकर वह नदीमे जा खडा हुआ। नदीमे जब उसने बडी मछलियोको छोटी मछलिया खाते देखा तब तो काप ही उठा। अरे, चलो, यह तो सारी सृष्टि ही अमगल है। यहा मरे बिना छुटकारा नही। ऐसा इरादा करके वह पानीसे बाहर आया और आग जलाई। उधरसे एक सज्जन आये और बोले--"भाई, यह मरनेकी तैयारी क्यो ?" 'यह ससार अमगल है इसलिए ?' वह बोला। उस सज्जनने उत्तर दिया--तेरा यह गदा शरीर, यह चरबी, यहा जलने लगेगी तो यहा कितनी बदबू फैलेगी ? हम यहा पास ही रहते हैं। तब हम कहा जायगे ? एक बालके जलनेसे ही कितनी दुर्गंध आती है ? फिर तेरी तो सारी चरबी जलेगी ! यहा कितनी गदगी फैल जायगी, इसका भी तो कुछ विचार कर ! वह आदमी परेशान होकर बोला--"इस दुनियामे न जीनेकी गुजायश है और न मरनकी ही। तो अब क्या करू ?"

तात्पर्य यह कि मनहूस है, अमगल है--ऐसा कहकर सबका बहि-ष्कार करेगे तो काम नही चलेगा। यदि तुम छोटे कर्मोंसे बचना चाहोगे

तो दूसरे बडे कर्म सिरपर सवार हो जायगे। कर्म स्वरूपत बाहरसे छोड़नेपर नही छूटते। जो कर्म सहज-रूपसे प्रवाह-प्राप्त है उनका विरोध करनेमे अगर कोई अपनी शक्ति खर्च करेगा—प्रवाहके विरुद्ध जाना चाहेगा, तो अतमे वह थककर प्रवाहके साथ बह जायगा। प्रवाहानुकूल क्रियाके द्वारा ही उसे अपने तरनेका उपाय सोचना चाहिए। इससे मन परका लेप कम होगा और चित्त शुद्ध होता चला जायगा। फिर धीरे-धीरे क्रिया अपने आप खतम होती जायगी। कर्म-त्याग न होते हुए भी क्रियाए लुप्त हो जायगी। कर्म छूटेगा नही, पर क्रिया लोप हो जायगी।

कर्म और क्रिया दोनोमे अतर है। जैसे कि कही पर खूब गुल-गपाडा मचा हुआ है और उसे बद करना है। एक सिपाही खुद जोरसे चिल्लाकर कहता है—"शोर बद करो।" वहाका शोर बद करनेके लिए उसे जोरसे चिल्लानेका तीव्र कर्म करना पडा। दूसरा कोई आकर चुपचाप खडा रहेगा व सिर्फ अपनी अगुली दिखावेगा, इतनेमे ही लोग शात हो जायगे। तीसरे व्यक्तिके सिर्फ वहा उपस्थित होने मात्रसे ही शाति छा जायगी। एकको तीव्र क्रिया करनी पडी। दूसरेकी क्रिया कुछ सौम्य थी और तीसरेकी सूक्ष्म। क्रिया कम-कम होती चली गई। लेकिन तीनोमे लोगोको शात करनेका कर्म समान-रूपसे हुआ। जैसे-जैसे चित्त-शुद्धि होती जायगी वैसे-वैसे क्रियाकी तीव्रतामे कमी होगी। तीव्रसे सौम्य, सौम्यसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे शून्य होती जायगी। कर्म एक चीज है, क्रिया दूसरी। कर्ताको जो इष्टतम हो वह कर्म। यही कर्मकी व्याख्या है। कर्ममे प्रथमा व द्वितीया विभक्ति होती है तो क्रियाके लिए स्वतत्र क्रियापद लगाना पड़ता है।

कर्म और क्रियामे जो अतर है उसे समझ लीजिए। गुस्सा आनेपर कोई बहुत चिल्लाकर और कोई बिल्कुल ही न बोलकर अपना क्रोध प्रकट करता है। ज्ञानी पुरुष क्रिया लेशमात्र नही करता, लेकिन कर्म अनत करता है। उसका अस्तित्व-मात्र ही अपार लोक-संग्रह कर सकता है। ज्ञानी पुरुषकी तो उपस्थिति ही काफी है। उसके हाथ-पैर आदि अवयव कुछ कार्य न करते हो तो भी वह काम करता है। क्रिया सूक्ष्म होती जाती है तो उधर कर्म उलटा बढते जाते हैं। विचारकी यह

धारा और आगे ले जावे तो चित्त परिपूर्ण शुद्ध हो गया तो अतमें क्रिया शून्य-रूप होकर कर्म अनत होते रहेगे ऐसा कह सकते हैं। पहले तीव्र, फिर तीव्रसे सौम्य, सौम्यसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे शून्य—इस तरह अपने आप क्रिया-शून्यत्व प्राप्त हो जायगा। परतु तब अनत कर्म अपने आप ही होते रहेगे।

बाह्य-रूपेण कर्म हटानेसे वे दूर नही होगे। निष्कामता-पूर्वक कर्म करते हुए धीरे-धीरे उसका अनुभव होगा। कवि ब्राउनिगकी 'ढोगी पोप' शीर्षक एक कविता है। एक आदमीने पोपसे कहा—"तुम अपनेको इतना सजाते क्यो हो ? ये चोगे किसलिए ? ये ऊपरी ढोग क्यो ? यह गभीर मुद्रा किस लिए ?" उसने उत्तर दिया—"सुनो, मै यह सब क्यो करता हू। सभव है इस नाटक, इस नकलको करते-करते किसी दिन अनजानमे ही मुझमे श्रद्धाका सचार हो जाय।" इसलिए निष्काम क्रिया करते रहना चाहिए। धीरे-धीरे निष्क्रियत्व भी प्राप्त हो जायगा।

(१०४)

मतलब यह कि तामस व राजस कर्म तो बिलकुल छोड देने चाहिए और सात्त्विक कर्म करने चाहिए। और यह विवेक रखना चाहिए कि जो सात्त्विक कर्म सहज व स्वाभाविक-रूपसे सामने आजाय, वे सदोष होते हुए भी, त्याज्य नही हैं। दोष है तो होने दो। उस दोषसे पीछा छुडाना चाहोगे तो दूसरे असख्य दोष पल्ले आ पडेंगे। अपनी नकटी नाक जैसी है वैसे ही रहने दो। उसे अगर काटकर सुदर बनानेकी कोशिश करोगे तो वह और भी भयानक और भद्दी दीखेगी। वह जैसी है वैसे ही अच्छी है। सात्विक कर्म सदोष होनेपर भी स्वाभाविक-रूपसे प्राप्त होनेके कारण नही छोड़ने चाहिए। उन्हे करना है, लेकिन उनका फल छोडना है।

जो कर्म सरल, स्वाभाविक रूपसे प्राप्त न हुए हो उनके बारेमें तुम्हे ऐसा लगता हो कि वे अच्छी तरह किये भी जा सकते हैं तो भी उन्हे मत करो। उतने ही कर्म करो जितने सहज रूपसे प्राप्त हो। उखाड-पछाड़ व दौड-धूप करके दूसरे नये कर्मोंके चक्करमें मत पड़ो। जिन कर्मोंको खासतौर

पर जोड-तोड लगाकर करना पडता हो वे कितने ही अच्छे क्यो न हो उनसे दूर रहो। उनका मोह मत रखो। जो कर्म सहज प्राप्त है उन्हीके फलका त्याग हो सकता है। यदि मनुष्य लोभसे कि यह कर्म भी अच्छा है, वह कर्म भी अच्छा है, चारो ओर दौडने लगे तो फिर फल-त्याग कैसे होगा ? इससे तो सारा जीवन ही एक फजीहत हो जायगा। फलकी आशा से ही वह इन पर-धर्म-रूपी कर्मोको करना चाहेगा, और फल भी हाथसे खो बैठेगा। जीवनमे कही भी स्थिरता प्राप्त नही होगी। चित्तपर उस कर्मकी आसक्ति लिप्त हो जायगी। अगर सात्विक कर्मोका भी लोभ होने लगे तो उसे भी दूर करना चाहिए। उन नाना प्रकारके सात्विक कर्मोको यदि करना चाहोगे तो उसमे भी राजसता व तामसता आजायगी। इसलिए तुम वही करो जो तुम्हारा सात्विक, स्वाभाविक सहज-प्राप्त स्वधर्म है।

स्वधर्ममे स्वदेशी धर्म, स्वजातीय धर्म और स्वकालीन धर्मका समावेश होता है। ये तीनो मिलकर स्वधर्म बनते है। मेरी वृत्तिके अनुकूल व अनुरूप क्या है और कोनसा कर्त्तव्य मुझे आकर प्राप्त हुआ है, यह सब स्वधर्म निश्चित करते समय देखना होता है। तुममे 'तुमपन' जैसी कोई चीज है और इसलिए तुम 'तुम' हो। हरएक व्यक्तिमे उसकी अपनी कुछ-विशेषता होती है। बकरीका विकास बकरी बने रहनेमे ही है। बकरी रहकर ही उसे अपना विकास कर लेना चाहिए। बकरी अगर गाय बनना चाहे तो यह उसके लिए सभव नही। वह स्वय-प्राप्त बकरीपनका त्याग नही कर सकती। इसके लिए उसे शरीर छोडना पडेगा। नया धर्म व नया जन्म ग्रहण करना होगा। लेकिन इस जन्ममे तो उसके लिए बकरी-पन ही पवित्र है। बैल व मेढकीकी कहानी है न ? मेढकीके बढनेकी एक सीमा है। वह बैल जितनी होनेका प्रयत्न करेगी तो मर जायगी। दूसरेके रूपकी नकल करना उचित नही होता। इसीलिए परधर्मको भयावह कहा है।

फिर स्वधर्मके भी दो भाग है। एक बदलनेवाला अश और दूसरा न बदलनेवाला। मै जो आज हू वह कल नही और जो कल हू वह परसो नही। मै निरतर बदल रहा हू। बचपनका स्वधर्म होता है केवल सव-

बैन। यौवनमें मुझमें भरपूर कर्म-शक्ति रहेगी तो उसके द्वारा मैं समाज-की सेवा करूंगा। प्रौढावस्थामें मेरे ज्ञानका लाभ दूसरोंको मिलेगा। इस तरह कुछ स्वधर्म तो बदलते रहनेवाला है और कुछ बिलकुल न बदलनेवाला। इन्हींको अगर पुराने शास्त्रीय नामोंसे पुकारना है तो हम कहेंगे—"मनुष्यके वर्ण-धर्म है और आश्रम-धर्म है।" वर्ण धर्म नहीं बदलता, आश्रम-धर्म बदलते रहते हैं।

आश्रम-धर्म बदलते हैं इसके मानी यह है कि ब्रह्मचारी-पद छोड़कर मैं गृहस्थाश्रममें प्रवेश कर रहा हूं, गृहस्थाश्रमसे वानप्रस्थ-आश्रममें व वानप्रस्थसे सन्यासमें जाता हूं। इस तरह आश्रम-धर्म बदलते रहते हैं, तब भी वर्ण-धर्म बदले नहीं जा सकते। अपनी नैसर्गिक मर्यादा मैं नहीं लाघ सकता। ऐसा प्रयत्न ही मिथ्या है। तुममें जो 'तुमपन' है उसे तुम छोड नहीं सकते। यही वर्ण-धर्मकी भित्ति है। वर्ण-धर्मकी कल्पना बडी मधुर है। वर्ण-धर्म बिलकुल अटल है क्या? पूछते है कि जैसा बकरीका बकरीपन, गायका गायपन वैसे ही क्या ब्राह्मणका ब्राह्मणत्व, क्षत्रियका क्षत्रियत्व है? हा, मैं मानता हूं कि वर्ण-धर्म इतना पक्का नहीं है। लेकिन हमें इसका मर्म समझ लेना चाहिए। 'वर्ण-धर्म' शब्दका उपयोग जब सामाजिक व्यवस्थाकी एक तरकीबके तौरपर किया जाता है तब उसके अपवाद अवश्य होंगे। ऐसे अपवाद गृहीत मानने ही पडते हैं। गीताने भी इस अपवादको गृहीत माना है। साराश, इन दोनो तरहके धर्मोंको पहचानकर अवातर धर्म कितना ही सुदर व मोहक प्रतीत हो तो भी उनके चक्करमें मन फसो।

(१०५)

फल-त्यागकी कल्पनाका जो विकास करते आये हैं उससे निम्न-लिखित अर्थ निकलता है—

(१) राजस व तामस कर्मोंका सपूर्ण त्याग।
(२) उस त्यागका भी फल-त्याग। उसका भी अहकार न हो।
(३) सात्त्विक कर्मोंका स्वरूपत: त्याग न करते हुए सिर्फ फल-त्याग।
(४) सात्त्विक कर्म सदोष होनेपर भी फल-त्याग-पूर्वक करना।

(५) सतत फल-त्याग-पूर्वक उन सात्त्विक कर्मोंको करते रहनेसे चित्त शुद्ध होता जायगा और तीव्रसे सौम्य, सौम्यसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे शून्य—इस तरह क्रिया-मात्रका लोप हो जायगा।

(६) क्रिया लुप्त हो जायगी, लेकिन कर्म—लोकसग्रह-रूपी कर्म—होते ही रहेगे।

(७) सात्त्विक कर्म भी जो स्वाभाविक रूपसे प्राप्त हो, वे ही करे। जो सहज-प्राप्त न हो वे कितने ही अच्छे लगे तो भी उनसे दूर ही रहे। उनका मोह न होना चाहिए।

(८) सहज-प्राप्त स्वधर्म भी फिर दो तरहका होता है—बदलनेवाला और न बदलनेवाला। वर्ण-धर्म नही बदलता, पर आश्रम-धर्म बदलता रहता है। बदलनेवाला स्वधर्म बदलना चाहिए। उससे प्रकृति विशुद्ध रहेगी।

प्रकृति तो सतत बहती रहनी चाहिए। निर्झर अगर बहता न रहेगा तो उससे दुर्गंध आने लगेगी। यही हाल आश्रम-धर्मका है। मनुष्यको पहले कुटुब मिलता है। अपने विकासके लिए वह स्वयको कुटुबके बधनोमे बाध लेता है। यहा वह तरह-तरहके अनुभव प्राप्त करता है। लेकिन अगर कुटुबी होनेपर वह उसीमे जकड जायगा तो विनाशको प्राप्त हो जायगा। जो कुटुबमे रहना पहले धर्म-रूप था वही अब अधर्म-रूप हो जायगा। क्योकि अब वह धर्म बधनकारी हो गया। बदलनेवाले धर्मको अगर आसक्तिके कारण नही छोडा तो इसका परिणाम भयानक होगा। अच्छी चीजकी भी आसक्ति न होनी चाहिए। आसक्तिमे घोर अनर्थ होता है। क्षयके कीटाणु यदि भूलसे भी फेफडोमे चले गये तो वहा जाकर सारा जीवन भीतरसे खा डालते है। उसी तरह आसक्तिके कीटाणु भी अगर असावधानीसे सात्त्विक कर्ममें घुस गये तो उससे स्वधर्म सडने लगेगा। उस सात्त्विक स्व-धर्ममे भी राजस व तामसकी दुर्गंध आने लगेगी। अत. कुटुब-रूपी यह बदलनेवाला स्वधर्म यथा-समय छूट जाना चाहिए। यही बात राष्ट्र-धर्मके लिए भी लागू होती है। राष्ट्र-धर्ममे भी अगर आसक्ति आगई और सिर्फ अपने ही राष्ट्रके हितका विचार हम करने लगे तो ऐसी राष्ट्र-भक्ति भी बड़ी भयकर चीज होगी। इससे

आत्म-विकास रुक जायगा। चित्तमें आसक्ति घर कर लेगी और अधःपात होगा।

(१०६)

साराश, यदि जीवनका फलित प्राप्त करना है तो फल-त्याग-रूपी चितामणिको अपनाओ। वह तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करेगा। फल-त्यागका यह तत्त्व अपनी मर्यादा भी बताता है। इस दीपकके पास होनेपर यह पता अपने आप चल जायगा कि कौनसा काम करे, कौनसा न करे और कौनसा कब बदले। लेकिन अब एक दूसरा ही विषय विचारके लिए लेगे। साधकको अतिम, अर्थात् सपूर्ण क्रियाका लोप हो जाना—इसपर ध्यान रखना चाहिए या नही। साधकको क्या ज्ञानी पुरुषकी उस स्थिति-पर, जिसमे क्रिया न करते हुए भी असख्य कर्म होते रहे, दृष्टि रखनी चाहिए?

नही; यहा भी फल-त्यागकी ही कसौटीका उपयोग करो। हमारे जीवनका स्वरूप इतना सुदर है कि हमे जो चाहिए उसपर निगाह न रखने-पर भी वह हमे मिल जायगा। जीवनका सबसे बडा फल मोक्ष है। उस मोक्ष—उस अकर्मावस्थाका भी हमे लोभ न रहे। वह स्थिति तो हमें अपने-आप अनजाने प्राप्त हो जायगी। सन्यास कोई ऐसी चीज तो है नही कि २ बजकर ५ मिनटपर अचानक आ मिलेगी। सन्यास यात्रिक वस्तु नही है। उसका तुम्हारे जीवनमें किस तरह विकास होता जायगा इसका पता भी तुम्हे न चलेगा। इसलिए मोक्षकी चिंता छोड दो।

भक्त तो ईश्वरसे हमेशा यही कहता है—"मेरे लिए तुम्हारी भक्ति ही बहुत है। मोक्ष—वह अंतिम फल, मुझे नही चाहिए" मुक्ति भी तो एक प्रकारकी मुक्ति ही है। मोक्ष एक तरहका भोग ही तो है, एक फल ही तो है। इस मोक्ष-रूपी फलपर भी फल-त्यागकी कैची चलाओ। लेकिन इससे मोक्ष कही चला न जायगा। कैंची अलबत्ता टूट जायगी, और फल अधिक पक्का हो जायगा। जब मोक्षकी आशा छोड़ दोगे तभी अनजाने मोक्षकी तरफ चले जाओगे। साधनामे ही इतने तन्मय हो जाओ कि तुम्हे मोक्षकी याद ही न रहे। और मोक्ष तुम्हे खोजता

हुआ तुम्हारे सामने आ खडा हो। साधक तो बस अपनी साधनामे ही रंग जाय।

'मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि'

भगवान्ने पहले ही कहा था कि अकर्म दशाकी, मोक्षकी आसक्ति मत रखो।

अब फिर अतमे कहते है --"अहत्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच"। मै मोक्ष-दाता समर्थ हू। तुम मोक्षकी चिंता मत करो। तुम तो एक साधनाकी ही चिंता करो।

मोक्षको भूल जानेसे साधना उत्कृष्ट होगी और मोक्ष ही मोहित होकर तुम्हारे पास चला आवेगा। मोक्ष-निरपेक्ष वृत्तिसे अपनी साधनामे ही रत रहनेवाले साधकके गलेमे मोक्ष-लक्ष्मी जयमाला डालती है।

जहा साधनाकी पराकाष्ठा होती है वही सिद्धि हाथ जोडकर खडी रहती हैं। जिसे घर जाना है वह अगर वृक्षके नीचे खडा होकर 'घर-घर'-का जाप करेगा तो इससे घर तो दूर ही रहेगा, उल्टा उसे जगलमे ही रहनेकी नौबत आ जायगी। घरको याद करते हुए अगर रास्तेमे आराम करने लग जाओगे तो उस अतिम विश्राम स्थानसे दूर रह जाओगे। मुझे तो चलनेका ही उद्योग करना चाहिए। इसीसे घर एकदम सामने आ जायगा। मोक्षके आलसी स्मरणसे मेरे प्रयत्नमे--मेरी साधनामे शिथिलता आयगी और मोक्ष मुझसे दूर चला जायगा। मोक्षकी उपेक्षा करके सतत साधना-रत रहना ही मोक्षको पास बुलानेका उपाय है। अकर्म-स्थिति--विश्रातिकी लालसा मत रखो। साधनाका ही प्रेम रखो, तो मोक्ष सामने खडा होगा। उत्तर-उत्तर चिल्लानेसे सवालका उत्तर नही मिलता। उसका जो तरीका मुझे मिला है उसीसे सिलसिलेवार उत्तर मिलेगा। वह तरीका जहा खतम होता है वही उसका उत्तर मौजूद है। समाप्तिके पहले समाप्ति कैसे हो जायगी? तरीकेसे पहले उत्तर कैसे मिलेगा? साधकावस्थामें सिद्धावस्था कैसे प्राप्त होगी? पानीमे डुबकियां खाते हुए परले पारके मौज-मजेमे ध्यान रहेगा तो कैसे काम चलेगा? उस समय तो एक-एक हाथ मारकर आगे जानेमे ही सारा

ध्यान और सारी शक्ति लगानी चाहिए। पहले साधना पूरी करो, समुद्र लाघो, बस, मोक्ष अपने-आप ही मिल जायगा।

(१०७)

ज्ञानी पुरुषकी अतिम अवस्थामे सब क्रिया लुप्त हो जाती है, शून्य-रूप हो जाती है। पर इसका यह मतलब नही है कि अतिम स्थितिमे क्रिया होगी ही नही। उसके द्वारा क्रिया होगी भी और नही भी होगी। अतिम स्थिति अत्यत रमणीय व उदात्त है। इस अवस्थामें जो भी कुछ होगा उसकी उसे चिता नही होती। जो भी होगा वह शुभ और सुदर ही होगा। साधनाकी पराकाष्ठा-दशापर वह खडा है। यहा सब कुछ करनेपर भी वह कुछ नही करता। सहार करनेपर भी सहार नही करता। कल्याण करनेपर भी कल्याण नही करता।

यह अतिम मोक्षावस्था ही साधककी साधनाकी पराकाष्ठा है। साधनाकी पराकाष्ठाके मानी है—साधनाकी सहजावस्था। वहा इस बातकी कल्पना भी नहीं रहती कि मैं कुछ कर रहा हू। अथवा इस दशाको मै साधककी साधनाकी अनैतिकता कहूगा। सिद्धावस्था नैतिक अवस्था नहीं है। छोटा बच्चा सच बोलता है, पर वह नैतिक नहीं है, क्योकि झूठ क्या है, यह तो जानता ही नही। असत्यसे परिचित होनेपर भी सत्य बोलना नैतिक कर्म है। सिद्धावस्थामे असत्य है ही नही। यहा तो सत्य ही है। इसलिए वहा नीति नही। निषिद्ध वस्तु वहा खडी ही नही रह सकती। जो नही सुनना चाहते वह कानके अदर जाता ही नही। जो नही देखना चाहते वह आखे देखती ही नही। जो होना चाहिए वही हाथोसे होता है। उसका प्रयत्न नही करना पड़ता। जिसे टालना चाहिए उसे टालना नही पड़ता। वह अपने आप ही टल जाता है। यही नीति-शून्य अवस्था है। यह जो साधनाकी पराकाष्ठा, सहजावस्था, अनैतिकता या अतिनैतिकता कहो उस अतिनैतिकतामे ही नीतिका परम उत्कर्ष है। अतिनैतिकता शब्द मुझे खूब सूझा। अथवा इस दशाको सात्त्विक साधना-की नि:सत्त्वता कह सकते हैं।

किस तरह इस दशाका वर्णन करे? जिस तरह ग्रहणके पहले उसको

वेध लग जाता है उसी तरह शरीरान्त हो जानेपर आनेवाली मोक्ष दशाकी छाया देह गिरनेके पहले ही पडने लग जाती है। देहावस्थामे ही भावी मोक्ष स्थितिका अनुभव होने लगता है। इस स्थितिका वर्णन करते हुए वाणी लडखडाती है। वह कितनी भी हिसा करे फिर भी कुछ नही करता। उसकी क्रिया अब किस नापसे मापी जाय? जो कुछ उसके द्वारा होगा वह सब सात्त्विक कर्म ही होगा। सब क्रियाके क्षय हो जानेपर भी सपूर्ण विश्वका वह लोक-सग्रह करेगा। इसके लिए किस भाषाका प्रयोग करे यह समझमे नही आता।

इस अतिम अवस्थामे तीन भाव रहते है—एक है वामदेवकी दशा। उनका प्रसिद्ध उद्गार है—"इस विश्वमें जो कुछ भी है वह मै हू।" ज्ञानी पुरुष निरहकार हो जाता है। उसका देहाभिमान नष्ट हो जाता है, क्रियामात्र समाप्त हो जाती है। इस समय उसे एक भावावस्था प्राप्त होती है। वह अवस्था एक देहमे समा नही सकती। भावावस्था क्रिया-वस्था नही है। भावावस्था यानी भावनाकी उत्कटताकी अवस्था। इस भावावस्थाका थोडा-बहुत अनुभव हमको हो सकता है। बालकके दोषसे माता दोषी होती है। गुणसे गुणी होती है। उसके दुखसे दुखी, सुखसे सुखी होती है। माकी यह भावावस्था सतान तक सीमित है। सतानके दोषोको वह अपने दोष मान लेती है। ज्ञानी पुरुष भी भावनाकी उत्कटतासे सारे ससारके दोष अपने ऊपर लेता है।

त्रिभुवनके पापसे वह पापी और पुण्यसे पुण्यवान बनता है और ऐसा होनेपर भी त्रिभुवनके पाप-पुण्य उसका स्पर्श नही कर पाते। रुद्र सूत्रमे ऋषि कहते है—

"यवाश्च मे तिलाश्च मे गोधूमाश्च मे"

मुझे जौ दे, तिल दे, गेहू दे। इस तरह मागते ही रहनेवाले ऋषिका पेट आखिर कितना बडा होगा? लेकिन वह मागनेवाला साढ़े तीन हाथके शरीरका नही था। उसकी आत्मा विश्वाकार होकर बोलती है। इसे मै वैदिक विश्वात्मभाव कहता हू। वेदोमे इस भावनाका परमोत्कर्ष दिखाई देता है। गुजराती सत नरसी मेहता कीर्तन करते हुए कहते है—

"बापजी पापमे कवण कीधा हशें, नाम लेता तारू निद्रा आवे ।" हे ईश्वर, मैंने ऐसे कौनसे पाप किये है, जो कीर्तनके समय भी मुझे नीद आती है। नीद क्या नरसी मेहताको आ रही थी ? नीद तो श्रोताओंको आती थी। परतु श्रोताओंसे एक-रूप होकर नरसी मेहता पूछ रहे हैं। यह उनकी भावावस्था है। ज्ञानी पुरुषकी भावावस्था इसी प्रकारकी होती है। इस भावावस्थामे सभी पाप-पुण्य उसके द्वारा होते हुए तुम्हे दिखाई देंगे। वह खुद भी यही कहेगा। वह ऋषि कहते है न—"न करने योग्य कितने ही कार्य मैंने किये है, करता हू और करूगा।" यह भावावस्था प्राप्त होनेपर आत्मा पक्षीकी तरह उडने लगता है। वह पार्थिवताके परे हो जाती है।

इस भावावस्थाकी ही तरह ज्ञानी पुरुषकी एक क्रियावस्था भी होती है। ज्ञानी पुरुष स्वभावत. क्या करेगा ? वह जो भी कुछ करेगा, सात्त्विक ही होगा। यद्यपि मनुष्य देहकी मर्यादा अभी उसके साथ लगी हुई है, तब भी उसका सारा शरीर, उसकी सारी इद्रिया सात्त्विक बन गई है, इससे उसकी तमाम क्रियाए सात्त्विक ही होगी। व्यावहारिक दृष्टिसे देखे तो सत्त्विकताकी चरम सीमा उसके व्यवहारमे दिखाई देगी। लेकिन अगर विश्वात्मभावकी दृष्टिमे देखेगे तो मानो त्रिभुवनके पाप-पुण्य यह करता है और इतनेपर भी वह अलिप्त रहता है। क्योकि इस चिपके हुए शरीरको तो उसने उतारकर फेक दिया है। क्षुद्र देहको उतारकर फेकनेपर ही तो वह विश्व-रूप होगा।

भावावस्था और क्रियावस्थाके अलावा भी एक तीसरी स्थिति ज्ञानी पुरुषकी है और वह है ज्ञानावस्था। इस अवस्थामें न वह पाप सहन करता है न पुण्य। सभी झटककर फेक देता है। इस अखिल विश्वको आग लगाकर जला डालनेके लिए वह तैयार हो जाता है। एक भी कर्मकी जिम्मेदारी लेनेको वह तैयार नही होता। उसका स्पर्श ही उसे सहन नही होता। ज्ञानी पुरुषकी मोक्ष-दशामें—साधनाकी पराकाष्ठाकी दशामें ये तीन स्थितियां सभव है।

यह अक्रियावस्था, अतिम दशा कैसे प्राप्त हो ? हम जो-जो भी कर्म करते हैं उनका कर्तृत्व अपने सिरपर न लेनेका अभ्यास करना चाहिए।

ऐसा मनन करो कि मै तो एक निमित्त मात्र हू, कर्मका कर्तृत्व मुझपर नही है। पहले इस अकर्तृत्ववादकी भूमिका नम्रतासे ग्रहण करो। लेकिन इसीसे सपूर्ण कर्तृत्व चला जायगा, ऐसा नही है। धीरे-धीरे इस भावनाका विकास होता जायगा। पहले तो ऐसा अनुभव होने दो कि मैं अति तुच्छ प्राणी हू, उसके हाथका खिलौना—कठपुतली हू, वह मुझे नचाता है। इसके बाद यह माननेका प्रयत्न करो कि यह जो कुछ भी किया जाता है वह शरीरजात है, मेरा उससे स्पर्श तक नही। ये सब क्रियाए इस शवकी है। लेकिन मै शव नही हू। मै शव नही शिव हू ऐसी भावना करते रहो। देहके लेपसे लेशमात्र भी लिप्त न हो। ऐसा हो जानेपर मानो देहसे कोई सबध ही नही है, यह ज्ञानी पुरुषकी अवस्था प्राप्त हो जायगी। उस अवस्थामे फिर ऊपर वही तीन अवस्थाए होगी। पहले उसकी क्रियावस्था जिसमे उसके द्वारा अत्यत निर्मल व आदर्श क्रिया होगी। दूसरी भावावस्था जिसमे त्रिभुवनके पाप-पुण्य मैं करता हू ऐसा उसे अनुभव होगा। परतु उनका लेशमात्र स्पर्श उसे नही होगा। और तीसरी उसकी ज्ञानावस्था जिसमे वह लेशमात्र भी कर्म अपने पास न रहने देगा। सब कर्म भस्मसात् कर देगा। इन तीनो अवस्थाओ द्वारा ज्ञानी पुरुषका वर्णन किया जा सकता है।

(१०८)

अब इतना सब कहनेके बाद भगवान अर्जुनसे कहते है—"अर्जुन, मैने तुम्हे यह जो सब कहा है, उसे तुमने ध्यानमे तो सुना है न ? अब पूर्ण विचार करके जो तुम्हे उचित लगे वह करो।" इस तरह भगवानने बडे दिलसे अर्जुनको छुट्टी दे दी। भगवद्गीताकी यही विशेषता है। लेकिन भगवानको फिर दया आ गई। दिये हुए इच्छा स्वातत्र्यको उन्होने फिर वापस ले लिया। कहा—"अर्जुन, तुम्हारी इच्छा, तुम्हारी साधना सब कुछ छोडकर तुम एक मेरी शरणमे आ जाओ।" इस तरह अपनी शरणमे आनेकी प्रेरणा करके भगवानने दिया हुआ इच्छा-स्वातंत्र्य वापस ले लिया है, इसका अर्थ यही है कि "तुम अपने मनमे कोई स्वतत्र इच्छा ही न होने दो। अपनी इच्छा नही, उसीकी इच्छा चले ऐसा होने दो।"

मुझे स्वतन्त्र रूपसे यही अनुभव हो कि यह स्वतन्त्रता मुझे नही चाहिए। मैं नही, सब कुछ तू ही है ऐसा हो। वह बकरी जीवित दशामें—'मे में मे .' करती है, यानी—"मै मै मै" कहती है। लेकिन मरनेपर उसकी तात बनाकर पीजनमे लगाई जाती है तब, दादू कहता है,—"तुही, तुही, तुही,—तू ही, तू ही, तू ही ऐसा वह कहती है।" अब तो सब "तूही, तूही, तूही।"

समाप्त

प्रकरणोंकी विषयानुक्रमणिका

(१)

(२)

(३)

(४)

(५)

२

परिशिष्ट

गीता-प्रवचन अध्याय २ पृष्ठ १८ मे रजोगुण और तमोगुणकी तुलना की गई है। उसे पढकर एक सज्जनने अपनी एक शका विनोबाजी पर प्रकट की। हैदराबादकी सर्वोदय-यात्रासे विनोबाजीने उसका उत्तर दिया। पाठकके लिए दोनोका उपयोग है, अत· शका और समाधान दोनो यहा दिये जाते है।

शका गीता-प्रवचनमे मराठी की नई आवृत्तिमे अध्याय २, पृष्ठ २० पर कर्म करने वालोकी दोहरी वृत्ति बताते हुए रजोगुण और तमोगुणकी समता आपने की है। 'लूगा तो फल-समेत ही' यह रजोगुणकी वृत्ति बताई और 'छोड़ूगा तो कर्म-समेत ही' यह तमोगुणकी वृत्ति बताई है। दोनो वृत्तियोमे फर्क नही है, यह आप भी कहते है। मेरे ख्यालमे दोनो वृत्तियोका समावेश रजोगुणमे ही हो जाता है। १, ३, ९ के हिसाबसे तमोगुण, रजोगुण और सत्वगुण एक दूसरेसे दूर है। रजोगुण और तमोगुण एक ही वृत्तिके (Positive) और (Negative) स्वरूप नही है। कर्म करके फलको छोडो सत्वगुण है। "लूगा तो फल समेत ही" और "छोड़ूगा तो कर्म समेत ही"--ये दोनो रजोगुणमे ही खपने चाहिए। "केवल फल लूगा, पर कर्म नही करूगा" यह वृत्ति तमोगुणमे जायगी। इससे भी एक भिन्न वृत्ति हो सकती है। वह है लापरवाही (indifference) की वृत्ति। कर्म किया तो किया, अथवा हुआ तो हुआ। फलकी अपेक्षा, परवा, आवश्यकता मोह आदि नहीं होता। उलटा, फल आया, लिया तो लिया, कर्मकी जरूरत, जवाबदारी नही मालूम हुई। यह वृत्ति मनकी स्थितिके अनुसार कदाचित् तीनो गुणोमे हो सकती हैं। ज्ञान-शून्य स्थितिमे यह वृत्ति तमोगुणसे भी नीचेकी होगी और ध्यानमग्न स्थितिमे सात्विक वृत्तिसे भी ऊपरकी निकलेगी।

समाधान : तुम्हारा चिंतन अच्छा लगा। त्रिगुणके विषयमे अनेक प्रकारसे विचार किया गया है, किया जा सकता है। तमोगुणसे नीचेकी अथवा सत्वगुणसे ऊपरकी वृत्तिकी कल्पना नही की जाती। सारे जगत्-का विभाग तीन गुणोमे करना है। तीनो गुणोसे अलिप्त एक अवस्था है। उसे गुणातीत पुरुषकी भूमिका समझना चाहिए। उसमे किसी प्रकारकी वृत्ति नही रहती, अत उसे निवृत्ति कहते है। परन्तु निवृत्तिका अर्थ प्रवृत्ति-विरोध नही। प्रवृत्ति-विरोध भी एक वृत्ति ही है उसे तमोगुण कहना चाहिए।

इतने प्रास्ताविक कथनके बाद अब मूल प्रश्न लो। तत्वत त्रिगुण प्रकृतिके घटक है। प्रकृतिमे तीनोकी आवश्यकता एक समान ही है। स्थिति, गति और प्रकाश तीनो मिलकर जीवन बनता है। यह तात्विक दृष्टि है। इसमे ऊपर, नीचेका कोई भेद नही है।

इससे भिन्न नैतिक दृष्टि है। इस दृष्टिसे तम, रज, सत्व ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ गुण है। सामान्यत लोग इस दृष्टिसे विचार करते है।

सृष्टि-तत्वको समझानेवाली प्राकृतिक अथवा तात्विक और दूसरी नैतिक, इन दोनोसे भिन्न एक साधनाकी दृष्टि है। तदनुसार रज और तम एक दूसरेके प्रतिक्रियारूप अथवा परीक्षण-रूप अथवा पूरक है। दोनो मिलकर एक ही वस्तु है। रजोगुणकी थकावटसे तमोगुण आता है, तमोगुणकी थकावटसे रजोगुण आता है, दोनोसे सत्वगुण भिन्न है। और वही साधकोका सखा है। रजोगुण और तमोगुण मिलकर आसुरी सम्पत्ति। सत्वगुण दैवी सपत्ति। ऐसा सघर्ष चल रहा है।

गीतामे प्राकृतिक, नैतिक और साधनिक तीनो प्रकारका विवेचन मिलता है। मै प्राकृतिक विचारको छोडकर नैतिक और साधनिक दृष्टिसे मुख्यत विचार करता रहता हू। कभी नैतिक, कभी साधनिक। जिस विवेचनके सबधमे प्रश्न उत्पन्न हुआ है, उसमे साधनिक दृष्टि है, इसलिए रजोगुण और तमोगुणकी एकत्र कल्पना की गई है।

फलत्यागके विचारकी अधिक छानबीन 'स्थितप्रज्ञदर्शन' और 'मीनाई कोषमे' की गई है।